जून, 2018

उच्चतम न्यायालय
निर्णय पत्रिका

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

Cover ii

प्रस्तावित संपादक-मंडल

डा. जी. नारायण राजू,
सचिव, विधायी विभाग

डा. रीटा वशिष्ठ, अपर सचिव,
विधायी विभाग

श्री एस. आर. ढलेटा,
सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव एवं
विधायी परामर्शी, विधायी विभाग

डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल,
विधि विभाग, डी आई आर डी, गुरु
गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

श्री ए. के. अवस्थी,
सेवानिवृत्त प्रोफेसर एवं डीन
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

श्री एल. आर. सिंह,
प्रोफेसर एवं डीन इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल,
सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.

श्री अनुराग दीप,
एसोसिएट प्रोफेसर,
भारतीय विधि संस्थान

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
प्रधान संपादक

श्री कमला कान्त,
संपादक

श्री अविनाश शुक्ला,
संपादक

श्री असलम खान,
संपादक

सहायक संपादक : श्री पुण्डरीक शर्मा

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

परामर्शदाता : सर्वश्री दयाल चन्द्र ग्रोवर, महमूद अली खां और विनोद कुमार आर्य

ISSN- 2457-0494

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 195/-

© 2018 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

---

1. प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054.
2. प्रधान संपादक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा.................................. द्वारा मुद्रित ।

पी एल डी (डी)-6-2018 आई.एस.एस.एन. 2457-0494

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

जून, 2018 अंक - 6

प्रधान संपादक
डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय

संपादक
कमला कांत

[2018] 2 उम. नि. प.

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

विक्रय कार्यालय : 1. प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054.
2. सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 । दूरभाष : 011-23385259, 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in

संपादकीय

पिछले अंक में भी हमने **शायरा बानो** बनाम **भारत संघ और अन्य** [2018] 2 उम. नि. प. 161 वाले मामले को प्रकाशित किया है । मामला बड़ा होने के कारण उसके उत्तरार्ध भाग को इस अंक में प्रकाशित किया जा रहा है । यह मामला काफी लोक महत्व का है । मुस्लिम समाज में तीन तलाक द्वारा विवाह-विच्छेद की प्रथा एक अभिशाप है । इस महत्वपूर्ण मामले में, उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह धर्म का विषय नहीं है, इसलिए, संविधान के अनुच्छेद 25(2)(ख) के अधीन संरक्षण प्राप्त नहीं होगा । न्यायालय ने यह निर्णय किया कि क्योंकि अनुच्छेद 25(1) के अधीन धार्मिक स्वतंत्रता के अंतर्गत तीन तलाक नहीं आता इसलिए, इसे अनुच्छेद 25(2)(ख) के अधीन संरक्षण प्राप्त नहीं होगा ।

उच्चतम न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 13 के अधीन 'प्रथा' पद का विश्लेषण किया और यह अभिनिर्धारित किया कि समाज के किसी भी वर्ग में व्याप्त किसी प्रथा को तब तक प्रवर्तित नहीं किया जा सकता जब तक उसे विधि का बल प्राप्त नहीं हो जाता भले ही वह प्रथा उस समाज के वर्ग में सदियों से प्रचलित क्यों न हो । न्यायालय ने आगे यह कहा कि संविधान के अनुच्छेद 25 के अनुसार लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा भाग 3 के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, अपनी पसंद के धर्म को अबाध रूप से मानना, आचरण करना और प्रसार करना संविधान के अधीन गारंटीकृत एक मूल अधिकार है, इसलिए, कोई विधि उस सीमा तक प्रभावी हो सकती है जिस सीमा तक वह मूल अधिकार के उपबंधों का उल्लंघन नहीं करती और उल्लंघन करने की सीमा तक वह अभिखंडित हो जाएगी ।

यह स्पष्ट है कि तलाक (विवाह-विच्छेद) का यह रूप इस अर्थ में प्रकटतः मनमाना है कि मुस्लिम पुरुष द्वारा विवाह बंधन को स्वेच्छाचारिता और मनमर्जी से तोड़ा जा सकता है जबकि विवाह बंधन को बचाने के लिए सुलह का कोई प्रयत्न न किया गया हो । इस प्रकार, तलाक के इस रूप को संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन मूल अधिकार का अतिक्रमण करने वाला अभिनिर्धारित किया गया ।

विधि के सुधार में भारत के विधि आयोग का महत्वपूर्ण योगदान होता है । विधि आयोग तत्कालीन परिस्थितियों और अन्य पहलुओं पर परिशीलन करने के पश्चात् विधियों का संशोधन करने और नवीकृत करने का सुझाव

देता है । भारतीय लोकतांत्रिक प्रणाली में विधि आयोग की बहुत उपयोगिता है क्योंकि यह समाज में व्याप्त बुराइयों, घटनाओं पर सतत अध्ययन करता है और गहन संवीक्षा के पश्चात् अपना सुझाव देता है । श्री अश्विनी कुमार उपाध्याय और श्री कुलदीप कुमार द्वारा लिखित 'भारत का विधि आयोग एक – विहंगम दृष्टि' नामक एक लेख प्रकाशित किया जा रहा है जो विधि आयोग के बारे में संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है ।

प्रिवी कौंसिल के तारीख 3.3.1939 से 14.3.1939 तक के निर्णयों का हिन्दी पाठ और शीर्ष टिप्पण भी प्रकाशित किया गया है । अधिनियम प्रकाशित करने की कड़ी में माल-विक्रय अधिनियम, 1930 को प्रकाशित किया जा रहा है । संपूर्ण अंक के परिशीलन करने के पश्चात् आपके बहुमूल्य सुझाव आमंत्रित हैं ।

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय
प्रधान संपादक

भारत का विधि आयोग – एक विहंगम दृष्टि

*अश्विनी कुमार उपाध्याय और कुलदीप कुमार

सदियों से विधि सुधार हेतु विधि आयोगों का गठन होता रहा है । विश्व के लगभग 85 देशों में "विधि आयोग"/"विधि सुधार आयोग" का गठन किया जा चुका है । यद्यपि, भारत में विधि सुधार प्रक्रिया गवर्नर जनरल इन काउंसिल द्वारा विधिवत रूप से गठित विधि आयोग के माध्यम से शुरु की गई थी । ब्रिटिश संसद् द्वारा पारित चार्टर अधिनियम, 1833 में गवर्नर जनरल इन काउंसिल को विधायी शक्तियां दी गई थीं । इस तरह से यदि कहा जाए तो "ब्रिटिश इंडिया" में पहला "विधि आयोग" लार्ड थॉमस बैबिंगटन मैकाले की अध्यक्षता में 1834 में गठित किया गया था । उसके पश्चात् 1853, 1861 और 1879 में क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे विधि आयोगों का गठन हुआ । उन चार विधि आयोगों ने लगभग पचास वर्षों की अवधि में तत्कालीन दशाओं के अनुकूल विधि निर्माण व विधि सुधार में बड़ा भारी योगदान दिया । अनेक अधिनियम जैसे : भारतीय दंड संहिता, दंड प्रक्रिया संहिता, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, भारतीय संविदा अधिनियम, भारतीय सिविल प्रक्रिया संहिता, सम्पत्ति अंतरण अधिनियम, भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम, परिसीमा अधिनियम आदि उन्हीं चार विधि आयोगों की देन है ।

2. भारत के संविधान ने मूलभूत अधिकारों और राज्य के नीति निदेशक सिद्धांतों के साथ नागरिकों की महत्वाकांशाओं और बहुल समाज में प्रजातांत्रिक विधि प्रणाली की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विधि सुधारों के लिए नई राह की आवश्यकता प्रदान की । नए भारत की विधिक आवश्यकताओं तथा पारंपरिक विधियों में संशोधन व नवीनीकरण करने के लिए भारत सरकार ने 1955 में तत्कालीन भारत के अटार्नी जनरल श्री एम. सी. शीतलवाड़ की अध्यक्षता में भारत का प्रथम विधि आयोग स्थापित किया था । उसके बाद अब तक इक्कीस विधि आयोगों की स्थापना हो चुकी है । प्रत्येक विधि आयोग का कार्यकाल तीन वर्ष का होता है, जिसमें प्रायः एक पूर्ण कालिक अध्यक्ष, चार पूर्ण कालिक सदस्य

---

* इस लेख के लेखक भारत के विधि आयोग में संयुक्त सचिव व विधि अधिकारी तथा अवर सचिव के पद पर कार्यरत हैं । यह लेख लेखकों के निजी अनुभव पर आधारित है ।

(सदस्य सचिव सहित), सचिव, विधि कार्य विभाग व सचिव, विधायी विभाग (पदेन सदस्य) और पांच अंशकालिक सदस्य होते हैं । यह संख्या उन्नीसवें विधि आयोग के समय से निर्धारित है । विधि आयोग के अध्यक्ष पद पर भारत का मुख्य न्यायाधीश या उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश अथवा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति की जाती है । पूर्ण कालिक सदस्य व अंशकालिक सदस्य के पद पर, उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश/वरिष्ठ अधिवक्ता/प्रतिष्ठित अधिवक्ता (जिसका कम से कम पच्चीस वर्ष का अनुभव हो)/विधि विश्वविद्यालय/कालेज आदि के सेवारत/अवकाश प्राप्त प्रोफेसर/भारतीय विधि सेवा के सेवारत/अवकाश प्राप्त सचिव/अतिरिक्त सचिव/प्रतिष्ठित विधि विषयों के लेखक का चयन किया जाता है । पूर्ण कालिक सदस्य-सचिव, भारत सरकार के सचिव स्तर पर, भारतीय विधि सेवा के अधिकारी को नियुक्त किया जाता है ।

3. प्रत्येक विधि आयोग को गठन के आदेश के साथ ही विचारार्थ विषय भी सौंपे जाते हैं, ऐसे सभी मुद्दों पर आयोग अध्ययन करता है और विधियों के निरसन, उचित संशोधन व नई विधियों के निर्माण आदि के लिए अपनी सिफारिशें भारत सरकार को प्रस्तुत करता है । आयोग सौंपे गए विचाराधीन विषयों के अलावा केंद्र सरकार और/अथवा उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालयों व स्वप्रेरणा से प्राप्त संदर्भों अथवा विषयों पर भी काम करता है । वर्तमान समय पर भारत का विधि आयोग (21वां विधि आयोग-कार्यकाल 1.9.2015 से 31.8.2018 तक, अध्यक्ष – माननीय डा. न्यायमूर्ति बलबीर सिंह चौहान) का कार्यालय लोक नायक भवन, (द्वितीय व चतुर्थ तल), खान मार्केट, नई दिल्ली में कार्यरत है । कुछ राज्यों ने भी राज्य विधि आयोग स्थापित किए हैं । ये राज्य हैं – तमिलनाडू, महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश, पंजाब, कर्नाटक, केरल, सिक्किम, झारखण्ड, मेघालय और गोवा । वर्तमान समय में कितने "राज्य विधि आयोग" कार्यरत हैं इसकी अधिकृत सूचना उपलब्ध नहीं हो सकी ।

4. विधि आयोग रिपोर्टों को प्रस्तुत करने के तुरंत पश्चात् उन्हें अपनी वेबसाइट http://lawcommissionofindia.nic.in पर उपलब्ध कराता है जिससे सभी नागरिक/शोधकर्ता/संगठन/न्यायाधीश/अधिवक्ता/विधि शिक्षक व छात्र आसानी से अवगत हो सकें । अनुवर्ती कार्यवाही के लिए आयोग की रिपोर्ट, कार्यान्वयन सेल, विधि कार्य विभाग, विधि एवं न्याय मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली को भेजी जाती हैं । कार्यान्वयन सेल विधि आयोग की रिपोर्टों को संसद् के समक्ष रखे जाने के लिए और जांच/लागू करने के

लिए कार्रवाई करता है । विधि आयोग में भारतीय विधि सेवा के अधिकारी, विधि शोध आदि के लिए तथा प्रशासन की देखभाल के लिए केन्द्रीय सचिवालय सेवा के अधिकारियों व कर्मचारियों का एक छोटा समूह भी है ।

5. विधि आयोग किसी भी विषय पर सिफारिशें देने के पूर्व विषयों का गहन अध्ययन करता है । विषय के अनुसार, अनुसंधान की प्रकृति व कार्यक्षेत्र निर्धारित किया जाता है । तद्नुसार, अभिमतों के संकलन की विधियां जैसे ऑनलाइन संकलन, संगोष्ठियों, कार्यशाला, लिखित आपत्तियां व सुझाव आदि बनाई जाती हैं । प्रायः प्राथमिक अध्ययन व संगोष्ठियों के बाद एक दस्तावेज (परामर्श-पत्र) व प्रश्नावली जसमें दी गई समस्या, विचार-लायक विषय व संशोधन आदि तैयार किए जाते हैं और उन पर राय मांगी जाती है । अभिमतों/सुझावों/आंकड़ों आदि को आत्मसात करने पर आयोग की बैठकों में उनका मूल्यांकन किया जाता है । इसके पश्चात् रिपोर्ट के प्रारूप बनाने का काम किया जाता है । इसी समय आयोग संशोधन करने, किसी नए विधि के विधेयक का निर्माण, अथवा किसी विधि का निरसन आदि करने का निर्णय करता है । क्रमशः लेखन कार्य आगे बढ़ता रहता है, आयोग की संगोष्ठियों में विचार-विमर्श होते जाते हैं । तदुपरांत, आयोग की रिपोर्ट का अंतिम प्रारूप तैयार हो जाता है । विधि आयोग की रिपोर्टों में आवश्यकतानुसार प्रस्तावित विधेयक के प्रारूप भी संलग्न किए जाते हैं । विधि सुधार हेतु इस प्रक्रिया में (विषय के अनुकूल) आयोग समाज के सभी अंगों, जैसे विधि-वेत्ता, न्यायाधीश, गणमान्य नागरिक, जनता, संस्था व संगठन आदि के सुझावों को अत्यंत महत्व देता है । विधि आयोग की सिफारिशें केवल न्यायशास्त्र अथवा सुझावों के बहुमत पर निर्धारित नहीं होती बल्कि प्रत्येक सदस्य के नैतिक मूल्यों और उनके अनुभवों पर भी निर्धारित होती हैं ; ऐसे मूल्यवान विचार समय-समय पर संगोष्ठियों में वाद-विवाद के समय प्रस्तुत किए जाते हैं ।

6. भारत के इन इक्कीस विधि आयोगों ने मई, 1956 से लेकर अप्रैल, 2018 तक विभिन्न विषयों पर 275 रिपोर्टें प्रस्तुत की हैं । इन रिपोर्टों के माध्यम से विधि आयोग ने महत्वपूर्ण सुझाव दिए हैं, जैसे – अनेक विधियां जो आवश्यक या सुसंगत नहीं रह गई हैं और उनको निरसित (समाप्त) किया जा सकता है ; विधियां जिनमें परिवर्तन व संशोधन अपेक्षित है ; न्याय-प्रशासन के संबंध में सभी मानदंडों में सुधार तथा न्याय प्रशासन की पद्धति को समय की उचित मांगों के लिए प्रभावी बनाए रखने के लिए सुझाव-यथा, विलम्ब को दूर करना, बकाया मामलों का शीघ्र

निपटान व खर्च में कमी, निष्पक्ष व न्यायपूर्ण तरीके से मामलों का निपटान, विलम्बकारी युक्तियों व तकनीकी जटिलताओं को दूर करने के उपाय; राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों के कार्यान्वयन के लिए और संविधान की उद्देशिका में वर्णित उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु सुझाव ; विधि के क्षेत्र में नागरिकों की शिकायतों – विशेषकर महिलाओं के अधिकारों की सुरक्षा, बाल सुरक्षा व गरीबों के हितों आदि, की सेवा में विधि और विधिक प्रक्रिया को उपयोग में लाने के लिए आवश्यक सुझाव; नई विधियों के निर्माण के लिए सुझाव, सामान्य महत्व के केंद्रीय अधिनियमों का पुनरीक्षण कर उन्हें सरल बनाने, विसंगतियों, संदिग्धताओं तथा असमानताओं को दूर करने हेतु सुझाव, विधियां जो आर्थिक उदारीकरण के विद्यमान परिवेश के सामंजस्य में नहीं थीं और उनमें परिवर्तन की आवश्यकता थी, का अध्ययन कर सुझाव, लैंगिक समानता के संवर्धन की दृष्टि से विधियों में संशोधन, विधि शिक्षा व विधि के पेशे के विनियमन के लिए सुझाव, अंतर्राष्ट्रीय कन्वेंशन से संबंधित विधियों पर सुझाव, उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए निर्देशों पर सुझाव, आदि । विधि आयोग द्वारा दिए गए उपरोक्त सुझावों के आधार पर अनेकानेक विधि संशोधन, अवांछनीय विधियों का निरसन व नव-विधि निर्माण किया जा चुका है और किया जा रहा है ।

7. अगर भारत का विधि आयोग की 275 रिपोर्टों पर नजर डालें तो पता चलता है कि आयोग ने सभी विषयों पर सुधार हेतु महत्वपूर्ण सुझाव दिए हैं । न्यायिक प्रशासन सुधार हेतु चौदहवीं रिपोर्ट से लेकर दो सौ बहत्तरवीं रिपोर्ट तक अनेकानेक सुझाव दिए गए हैं । ग्राम-न्यायालय से लेकर सर्वोच्च न्यायालय तक इनके संगठनात्मक गठन, कार्य प्रणाली एवं संवर्धन के लिए नए-नए सुझाव बताए गए हैं । बड़ी-बड़ी संहिताएं जैसे – दंड प्रक्रिया संहिता, सिविल प्रक्रिया संहिता, भारतीय दंड संहिता और भारतीय साक्ष्य अधिनियम आदि का कई बार पुनरीक्षण करके (कई रिपोर्टें) कानूनों को अद्यतन करने हेतु सिफारिश की गई है । साथ ही अन्य कई छोटे-बड़े अधिनियमों का पुनरीक्षण कर उनके परिवर्तन या संशोधन के लिए सुझाव दिए हैं । आयोग ने स्वीय विधियों जैसे – विवाह और विवाह-विच्छेद, शिशु और अप्राप्तवय, दत्तक ग्रहण, निर्वसीयतता, उत्तराधिकार, अविभक्त कुटुंब और विभाजन, अनिवार्य विवाह पंजीकरण, स्त्री संपत्ति, विदेशी विवाह-विच्छेदों की मान्यता, अन्तर्देशीय दत्तक ग्रहण, इस्लाम में संपरिवर्तन द्वारा द्विविवाह का निवारण और समान सिविल संहिता आदि का बार-बार अध्ययन करके अनेक रिपोर्टों में व्यापक सिफारिशें दी हैं । जिससे सभी

भारतीय समुदायों को वांछित अधिकार समान रूप से उपलब्ध हों । साथ ही कोई भी समुदाय निरुत्साहित न हो और संविधान में दिए गए अधिकारों से वंचित न रहें ।

8. विधि आयोग समय-समय पर समाज में व्याप्त बुराइयों, घटनाओं व विवाद-ग्रस्त विषयों जैसे – बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, भ्रष्ट लोक सेवक, बलात्कार, आतंकवाद, बेनामी संव्यवहार, बाल-शिक्षा, मृत्यु दंड, निर्वाचक सुधार, इच्छा मृत्यु, अन्य धर्मों में संपरिवर्तन या पुनर्संपरिवर्तन, मीडिया द्वारा विचारण और ऋजु विचारण, अनादृत चेक के मामले, आत्महत्या, सड़क दुर्घटनाएं, विधि शिक्षा तथा विधिक वृत्ति का विनियमन, घृणा-पूर्ण भाषण आदि पर स्वप्रेरणा से भी अध्ययन हेतु विषयों का चयन करता रहा है । विचाराधीन मुद्दों पर सुझाव आमंत्रित करके व्याप्त अव्यवस्थाओं के सुधार करने के लिए अनेक रिपोर्टों में उपाय सुझाएं हैं । ऐसे सुझावों के बहुत दूरगामी प्रभाव भी देखने को मिले हैं ; यथा-अनेक अधिनियम संशोधित किए जा चुके हैं, माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने भी संज्ञान लिया है और संसदीय समितियों ने अपने सुझावों में विधि आयोग की संस्तुतियों को स्वीकार किया है । बहुत-सी संस्तुतियां अभी-भी भारत सरकार के संबंधित मंत्रालयों/विभागों में विचाराधीन हैं । विधि आयोग की सबसे अधिक रिपोर्टें विधायी विभाग, विधि एवं न्याय मंत्रालय के पास विचाराधीन हैं ।

9. भारत का विधि आयोग विधि सुधार हेतु विश्व के पुराने विधि आयोगों में से एक अग्रणी राष्ट्रीय आयोग/संगठन है । विधि आयोग का गठन भारत का संविधान अथवा किसी अन्य अधिनियम के अंतर्गत नहीं किया जाता है ; बल्कि भारत सरकार "विधि एवं न्याय मंत्रालय" के शासकीय आदेश द्वारा किया जाता है । अधिकतर देशों में विधि आयोग/विधि सुधार आयोग अधिनियमों या संविधान के अंतर्गत गठित किए जाते हैं, जैसे – इंग्लैंड और वेल्स का विधि आयोग-विधि आयोग अधिनियम, 1965; उगांडा का विधि सुधार आयोग-उगांडा का संविधान, अनुच्छेद 246; दक्षिण अफ्रीका विधि सुधार आयोग – दक्षिण अफ्रीका विधि सुधार अधिनियम, 1973; आस्ट्रेलियन विधि सुधार आयोग – आस्ट्रेलियन विधि सुधार अधिनियम, 1975; कनाडा का विधि आयोग – कनाडा का विधि आयोग अधिनियम, 1996; न्यूजीलैंड का विधि आयोग – विधि सुधार आयोग अधिनियम, 1985; कीनिया विधि सुधार आयोग – विधि सुधार आयोग अधिनियम, 1982; पाकिस्तान का विधि एवं न्याय आयोग – अध्यादेश (xiv),

1979; नेपाल विधि आयोग – नेपाल विधि आयोग अधिनियम, 2005; बांग्लादेश का विधि आयोग – विधि आयोग अधिनियम, 1996; मालवी विधि आयोग – मालवी का संविधान, अध्याय (xii) ; मनीतोबा का विधि सुधार आयोग – विधि सुधार आयोग अधिनियम,1990; क्वींसलैण्ड का विधि सुधार आयोग – विधि सुधार आयोग 1968; विक्टोरियन विधि सुधार आयोग – विक्टोरियन विधि सुधार आयोग 2000; आयरलैंड का विधि सुधार आयोग – विधि सुधार आयोग 1975; हांग-कांग विधि सुधार आयोग – हांग-कांग विधि सुधार अधिनियम, 1980 आदि ।

10. दिन पर दिन विधि सुधार की बढ़ती मांग पर भारत में ही नहीं विश्व भर में विधि आयोगों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है । भारत के जाने माने सभी महान विधि-वेत्ता इस आयोग में अपना योगदान दे चुके हैं । पिछले 63 वर्षों में हमारे देश में विधि सुधारों के क्षेत्र में विधि आयोग की देन अत्यंत सराहनीय रही है । विधि आयोग की सभी 275 रिपोर्टें (द्विभाषीय, हिन्दी व अंग्रेजी) आयोग की वेबसाइट पर उपलब्ध हैं और वे निःशुल्क पढ़ी व प्रयोग की जा सकती हैं । यह ध्यान रहे कि भारत का विधि आयोग का गठन भारत सरकार द्वारा विधि सुधार हेतु सिफारिशें देने के लिए किया जाता है । यह आयोग पब्लिक या प्राइवेट संगठनों आदि को सलाह देने अथवा उनकी समस्याओं को हल करने में सहायता नहीं करता है ।

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

जून, 2018

निर्णय-सूची

	पृष्ठ संख्या
शायरा बानो **बनाम** भारत संघ और अन्य	389
भारत का विधि आयोग – एक विहंगम दृष्टि	v – x

संसद् के अधिनियम

माल-विक्रय अधिनियम, 1930	1 – 27
प्रिवी कौंसिल के निर्णय	1 – 29

तुलनात्मक सारणी

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

[2018] 2 उम. नि. प.

अप्रैल-जून, 2018

क्र. सं.	निर्णय का नाम व तारीख	उम. नि. प.		ए. आई. आर. (एस. सी.)		एस. सी. सी.		
1	2	3		4		5		
1.	ज्येष्ठ प्रबंधक (पी. एंड डी.) रीको लिमिटेड **बनाम** राजस्थान राज्य और एक अन्य (3 नवम्बर, 2017)	[2018] 2	1	–	–	(2018)	1	79
2.	श्री शिवाजी बलराम हैबाती **बनाम** श्री अविनाश मारुति पवार (20 नवम्बर, 2017)		13	2017	5494		11	652
3.	अनिल कुमार सिंह **बनाम** विजय पाल सिंह और अन्य (30 नवम्बर, 2017)		25		5587		12	584
4.	सी. वेंकट स्वामी **बनाम** एच. एन. शिवन्ना (मृत) विधिक प्रतिनिधियों द्वारा और एक अन्य (4 दिसम्बर, 2017)		39		5604		1	604
5.	बैंक ऑफ इंडिया **बनाम** यादव कंसल्टेंसी सर्विसेज (प्रा.) लिमिटेड और एक अन्य (5 दिसम्बर, 2017)		48	2018	161	–		–

1	2	3	4	5
6.	बी. सुनीता **बनाम** तेलंगाना राज्य और एक अन्य (5 दिसम्बर, 2017)	[2018] 1 65	2017 5727	(2018) 1 638
7.	अशरफी **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (8 दिसम्बर, 2017)	83	5819	1 742
8.	त्रिलोक सिंह चौहान **बनाम** राम लाल (मृत) **मार्फत** इसके विधिक प्रतिनिधिगण (11 दिसम्बर, 2017)	89	2018 214	2 656
9.	उत्तर प्रदेश राज्य **बनाम** रघुवीर और एक अन्य आदि और अन्य (13 दिसम्बर, 2017)	106	—	— —
10.	इस्साक **उर्फ** किशोर **बनाम** रोनाल्ड चेरियन और अन्य (23 जनवरी, 2018)	117	604	2 278
11.	लतेश **उर्फ** दादू बाबूराव कार्लेकर **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (30 जनवरी, 2018)	129	659	3 66
12.	शायरा बानो **बनाम** भारत संघ और अन्य (22 अगस्त, 2017)	161	2017 4609	(2017) 9 1

गतांक से आगे..........

98. पूर्ववर्ती पैराग्राफ में उल्लिखित दलीलों को आगे बढ़ाते हुए यह निवेदन किया गया कि अनुच्छेद 25(2)(ख) ने सामाजिक कल्याण और सुधार के आधार पर "स्वीय विधि" में मध्यक्षेप की शक्ति को विधान-मंडल में निहित कर दिया है । अतः, उन्होंने दलील दी कि याची द्वारा और उन लोगों द्वारा जो याची के मामले का समर्थन कर रहे हैं, इस न्यायालय के समक्ष की गई प्रार्थना को समुदाय के उन सदस्यों के समक्ष संबोधित किया जाना चाहिए जो विद्यमान परंपराओं में संशोधन करने के लिए सक्षम हैं और अनुकल्पिक रूप से सामाजिक कल्याण और सुधार के उपाय के रूप में उस विधान-मंडल के समक्ष संबोधित करना चाहिए जो इसको निरसित करने के लिए विधायी रूप से सशक्त है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों के साथ याचियों द्वारा की गई प्रार्थना को अस्वीकृत किए जाने की प्रार्थना की ।

99. ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री राजू रामचंद्रन् जमात उलेमाय हिन्द अर्थात् 2015 की स्वप्रेरणा रिट याचिका (सिविल) सं. 2 में प्रत्यर्थी सं. 1 और 2016 की रिट याचिका (सिविल) सं. 118 में प्रत्यर्थी सं. 9 की ओर से उपस्थित हुए । अपनी दलीलों के आरंभ में विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह कथन किया कि वह ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री कपिल सिब्बल द्वारा इस न्यायालय के समक्ष किए गए प्रत्येक निवेदन से सहमत हैं । अतः हमने विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की इस दलील को अभिलिखित कर लिया है ।

100. उपर्युक्त के अतिरिक्त यह निवेदन किया गया कि याची (और अन्य) द्वारा इस न्यायालय के समक्ष उठाया गया वाद स्पष्ट रूप से परेशान किए जाने के प्रयोजनार्थ उठाया गया है । उन्होंने निवेदन किया कि मुस्लिम "स्वीय विधि'– "शरीयत" के अधीन "निकाहनामा" (विवाह विलेख) निष्पादित किए जाने के समय दोनों पक्ष उन नियमों और शर्तों, जिन्हें उनके द्वारा उपयुक्त समझा जाए, सम्मिलित कराने के लिए स्वतंत्र होते हैं । यह निवेदन किया गया कि "निकाहनामा" निष्पादित किए जाते समय पत्नी को यह अधिकार होता है कि वह उसमें यह उपबंधित करा ले कि उसके पति को उसे "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रकृति की घोषणा द्वारा "तलाक" देने का अधिकार नहीं होगा । अतः, उन्होंने निवेदन किया कि याची द्वारा इस न्यायालय की शरण में आना और "तलाक-ए-बिद्दत" के विरुद्ध घोषणा की ईप्सा करना स्पष्टतः भ्रांत धारणा पर आधारित है । अनुकल्पिक रूप से यह दलील दी गई कि विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अधिनियमित

किए जाने के पश्चात् भारत के समस्त नागरिकों को, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, उस आस्था के होने के बावजूद जिसका वे पालन करते हैं, अपनी "स्वीय विधि" का पालन करने के बजाय उक्त अधिनियम के उपबंधों द्वारा, शासित होने का विकल्प मौजूद है । अतः, यह दलील दी गई कि किसी विशिष्ट धार्मिक संप्रदाय से संबंधित पति-पत्नी को पंथनिरपेक्ष और गैर-धार्मिक विधि, अर्थात् विशेष विवाह अधिनियम, 1954 का विकल्प चुनने का अधिकार है और ऐसे पक्षों को, जो इस विकल्प को स्वीकार करते हैं (चाहे वे मुस्लिम धर्म का ही पालन करने वाले क्यों न हों), "तलाक-ए-बिद्दत" को सम्मिलित करते हुए सभी धार्मिक प्रथाओं से स्वतः बच जाएंगे । अतः, यह दलील दी गई कि ऐसे युगल जो "स्वीय विधि" के निबंधनों के अनुसार विवाह करते है, के बारे में यह धारणा की जानी चाहिए कि उन्होंने उस "स्वीय विधि" द्वारा विनियमित होने का विकल्प जानबूझकर चुना है जिसके अधीन उनका विवाह हुआ है । यह निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त विकल्प का प्रयोग करने के पश्चात् किसी भी मुस्लिम युगल को "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के विरुद्ध कोई अभिवाक् करने का अधिकार नहीं है । यह निवेदन किया गया कि जब दोनों पक्ष विवाह के लिए सहमत होते हैं, तो उनकी सहमति केवल उस व्यक्ति, जिसे सहमति प्रदान की गई है, की पसंद तक सीमित नहीं रह जाती, बल्कि यह सहमति विवक्षित रूप से उस कानून तक भी विस्तारित हो जाती है जिसके द्वारा वैवाहिक संबंधों को विनियमित होना है । यदि विवाह की सहमति "स्वीय विधि" के सामंजस्य में प्रदान की गई है, तो "स्वीय विधि" की कठोरताएं विवाह के विघटन की प्रक्रिया को विनियमित करेंगी । इसी प्रकार, से यदि विवाह की सहमति विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अधीन प्रदान की गई है, तो ऐसी सहमति उक्त विधान के उपबंधों के अनुसार शासित होगी । यह निवेदन किया गया कि यदि ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति ने जानबूझकर "स्वीय विधि" के अंतर्गत वैवाहिक गठबंधन का विकल्प चुना है, तो वह यह शिकायत नहीं कर सकता कि "स्वीय विधि" प्रतिकूल विभेदकारी थी । यह निवेदन किया गया कि मामले को उपर्युक्त दृष्टि से देखते हुए इस न्यायालय के समक्ष वर्तमान याचिका का फाइल किया जाना और उन लोगों द्वारा याची के वाद हेतुक का समर्थन किया जाना जिन्हें पक्षकार बनाया गया है या जो याची के वाद हेतुक का समर्थन करने के लिए उपस्थित हुए हैं, के बारे में यह धारणा की जानी चाहिए कि वे विधि की दृष्टि में पूरी तरह से भ्रांत धारणा से ग्रसित है ।

101. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा किया गया अगला निवेदन यह है

कि याची द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत"– तीन तलाक की विधिमान्यता के संदर्भ में उठाए गए विवाद्यक विधायी नीति के अंतर्गत आने वाले मामले हैं और इनमें न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से मध्यक्षेप नहीं किया जा सकता है (यद्यपि विद्वान् काउंसेल का वास्तविक आशय ऐसा नहीं था) । इस संबंध में विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने न्यायालय का ध्यान **महर्षि अवधेश** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले की ओर आकर्षित किया जिसमें याची ने संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिका फाइल करके इस न्यायालय की शरण ली थी और निम्नलिखित प्रार्थना की थी :–

> "(i) प्रत्यर्थियों को भारत के सभी नागरिकों के लिए समान सिविल संहिता अधिनियमित किए जाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए परमादेश की रिट जारी की जाए ।
>
> (ii) मुस्लिम स्त्री (विवाह-विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 को मनमाना और पक्षपातपूर्ण होने और भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 और अनुच्छेदों 44, 38, 39 और 39क के अतिक्रमण में होने के कारण शून्य घोषित किया जाए ।
>
> (iii) प्रत्यर्थियों को उन लोगों के संबंध में, जो मुस्लिम महिलाओं की गरिमा और उनके अधिकारों और उनके संरक्षण को प्रतिकूल रूप से प्रभावित कर रहे हैं, शरीयत अधिनियम अधिनियमित न किए जाने के लिए निदेशित किया जाए ।"

आगे यह दलील दी गई कि इस न्यायालय ने उक्त रिट याचिका को यह मताभिव्यक्ति करते हुए खारिज कर दिया था "ये सभी विधान-मंडल के मामले हैं । न्यायालय इन मामलों पर विधान नहीं बना सकता ।"

102. उन्होंने **अहमदाबाद वूमेन एक्शन ग्रुप** (उपर्युक्त) वाले मामले का भी अवलंब लिया । यह निवेदन किया गया कि (उस मामले में) इस न्यायालय ने उपर्युक्त मामले के न्यायनिर्णयन के दौरान निम्नलिखित विवाद्यकों पर विचार किया था :–

> "(i) क्या मुस्लिम 'स्वीय विधि', जो बहुविवाह की अनुज्ञा प्रदान करती है, संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 का उल्लंघनकारी होने के कारण शून्य है ।
>
> (ii) क्या मुस्लिम 'स्वीय विधि', जो किसी मुस्लिम पुरुष को

---

[1] (1994) (सप्ली.) 1 एस. सी. सी. 713.

अपनी पत्नी को उसकी सहमति के बिना और न्यायालय की न्यायिक प्रक्रिया का आश्रय लिए बिना एकपक्षीय रूप से 'तलाक' देने के लिए समर्थ बनती है, संविधान के अनुच्छेद 13, 14 और 15 का उल्लंघनकारी होने के कारण शून्य है ।

(iii) क्या मात्र यह तथ्य कि किसी मुस्लिम पति की एक से अधिक पत्नियां हो सकती हैं, क्रूरता का कार्य है ।"

103. यह दलील दी गई कि (इस न्यायालय ने) उपर्युक्त मामले को सुनने के पश्चात् निर्णय के पैराग्राफ 4 में निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां अभिलिखित करते हुए उसे खारिज कर दिया :–

"आरंभिकतः, हम कहना चाहेंगे कि ये रिट याचिकाएं गुणागुण के आधार पर निस्तारित किए जाने योग्य नहीं हैं चूंकि विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा हमारे समक्ष दी गई दलीलों में राज्य की नीतियों के विवाद्यक अंतर्वलित हैं जिनके साथ साधारणतया इस न्यायालय का कोई संबंध नहीं होगा । इसके अतिरिक्त, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब इसी प्रकार के प्रयास पूर्ववर्ती अवसरों पर अन्य लोगों द्वारा किए गए तो इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि इस संबंध में उपचार कहीं और मिल सकता है, न कि न्यायालयों के दरवाजों पर दस्तक देने के द्वारा ।

104. विद्वान् काउंसेल ने याची द्वारा की गई प्रार्थना पर विचार किए जाने के संबंध में दोनों आरंभिक आक्षेप उठाने के पश्चात् न्यायालय का ध्यान अन्य देशों में "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के उन्मूलन की ओर आकर्षित किया । यह निवेदन किया गया कि (विवरण के लिए भाग 5 सम्पूर्ण विश्व में, इस्लामिक और गैर इस्लामिक देशों में विधान द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का निरसन देखें) उपर्युक्त दलील को याची और साथ ही उन लोगों द्वारा जो याची के वाद हेतुक का समर्थन करते हैं और भारत संघ द्वारा भी यह दलील देने के प्रयोजनार्थ अंगीकृत किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का परित्याग अन्य इस्लामिक देशों में सामाजिक सुधार के रूप में, इस प्रथा के घृणित होने और साथ ही एकपक्षी और मनमानीपूर्ण होने के कारण किया जा चुका है । आगे निवेदन किया गया कि भारत में "स्वीय विधि" की संवैधानिक विधिमान्यता का परीक्षण अन्य देशों में अधिनियमित विधानों के आधार पर नहीं किया जा सकता है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने इस प्रक्रम पर हमारे द्वारा यह अवेक्षित किए जाने की ईप्सा की कि उनके द्वारा वर्तमान में किए गए निवेदन उनके द्वारा दी

गई इस दलील से प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए बिना किए गए हैं कि "स्वीय विधि' की विधिमान्यता का परीक्षण संविधान के भाग 3 के अंतर्गत व्यक्तियों में निहित मूल अधिकारों के संबंध में इस कारणवश बिल्कुल भी नहीं किया जा सकता कि "स्वीय विधि" को संविधान के अनुच्छेद 13 के अर्थान्तर्गत विधि माना जा सकता है ।

105. तत्पश्चात्, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल राजू रामचंद्रन ने "तलाक-ए-बिद्दत" – तीन तलाक की विधिमान्यता को स्थापित करने का प्रयास किया । यह निवेदन किया गया कि सुन्नी मुस्लिमों की पांच विचारधाराओं में से चार ने "तलाक-ए-बिद्दत" को विवाह-विच्छेद का विधिमान्य स्वरूप माना है । यह निवेदन किया गया कि उपर्युक्त स्थिति को दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में स्वीकार किया गया है जिसमें पैरा 26 में उच्च न्यायालय ने यह मताभिव्यक्ति की कि "....इस बात को विधि की सभी विचारधाराओं द्वारा स्वीकार किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" पापमय कार्य है, फिर भी कुछ विचारधाराएं इसे विधिमान्य मानती हैं ...." । उच्च न्यायालयों द्वारा विभिन्न निर्णयों में इस बात को स्वीकार भी किया गया है (विवरण के लिए "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर भाग 6 न्यायिक उद्घोषणाओं को निर्दिष्ट करें) । तद्नुसार, यह निष्कर्ष निकाले जाने की ईप्सा की गई कि यदि एक बार इस बात को तथ्य के रूप में साबित कर दिया जाता है कि शिया मुस्लिमों की कुछ विचारधाराओं का विश्वास है कि "तलाक-ए-बिद्दत" विवाह-विच्छेद का विधिमान्य स्वरूप है, तो इसका यह परिणाम होगा कि कुरान की सूरा 2 अल बकरा आयात 230 में समाविष्ट व्यादेश के अनुसार "तलाक-ए-बिद्दत" की उद्घोषणा के पश्चात् पति-पत्नी के मध्य सहवास पापमय हो जाएगा । उक्त "आयत" को नीचे उद्धृत किया गया है ।

> "फिर यदि उसने (दो बार 'तलाक' देने के बाद पति ने पत्नी को तीसरी बार) 'तलाक' दे दी, तो वह औरत फिर उसके लिए हलाल न होगी, सिवाय इसके कि उसका निकाह किसी दूसरे व्यक्ति से हो और वह उसे 'तलाक' दे दे । तब अगर पहला पति और यह औरत दोनों यह समझें कि ईश्वरीय सीमाओं पर कायम रहेंगे, तो उनके लिए एक दूसरे की ओर पलटने में कोई हर्ज नहीं । ये अल्लाह की निर्धारित की हुई सीमाएं हैं, जिन्हें वह उन लोगों के मार्गदर्शन के लिए स्पष्ट कर रहा है, जो (उसकी सीमाओं को तोड़ने का परिणाम) जानते हैं ।"

यह दलील दी गई कि यह विश्वास कि इसके पश्चात् कि पति ने अपनी पत्नी को तीन बार "तलाक" उद्घोषित करने के द्वारा "तलाक" दे दिया है, यह निष्कर्ष निकाला गया कि तीनों उद्घोषणाएं एक ही उद्घोषणा मानी जानी चाहिए । आगे यह दलील दी गई कि उच्च न्यायालयों को ऐसी कोई अधिकारिता प्राप्त नहीं है जिसका कि प्रयोग उनके द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय में किया जा रहा है । तद्नुसार, यह प्राख्यान किया गया कि उपर्युक्त कार्रवाई के कारण मुस्लिमों की "स्वीय विधि" जो संविधान के अनुच्छेद 25 के अधीन संरक्षित है, में अतिक्रमण हुए । इस संबंध में यह निवेदन भी किया गया कि इस न्यायालय ने इस विवाद्यक का निर्णय करते हुए कि क्या ऐसी कोई आस्था या प्रथा धर्म का अभिन्न अंग है, अभिनिर्धारित किया है कि इस प्रश्न का उत्तर केवल उस धर्म के अनुयायियों के विचारों के आधार पर दिया जा सकता है और किसी अन्य आधार पर नहीं । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अपने इस निवेदन के समर्थन में **सैदना ताहेर सैफुद्दीन साहिब** (उपर्युक्त) वाले मामले का अवलंब लिया जिसमें इस न्यायालय ने निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की है :–

> "संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 की अंतर्वस्तु पर इस न्यायालय द्वारा आयुक्त, हिन्दू धार्मिक विन्यास, मद्रास बनाम श्री श्रीपुर मठ के श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वमियार ; महंत जगन्नाथ रामानुज दास बनाम उड़ीसा राज्य, श्री वेंकटरमन्ना देवरू बनाम मैसूर राज्य ; दरगाह कमेटी, अजमेर बनाम सय्यद हुसैन अली और अन्य वाले मामलों और अनेक अन्य मामलों में विचार किया गया और इन विनिश्चयों द्वारा इन उपबंधों पर विचार करने वाले मुख्य सिद्धांतों को विवादों से परे रखा गया । प्रथम (सिद्धांत) यह है कि इन अनुच्छेदों का संरक्षण उन सिद्धांतों या विश्वास के मामलों तक सीमित नहीं है और उन कार्यों तक भी विस्तृत होते हैं जिन्हें धर्म के मतावलंबन में किया जाता है और इसलिए उनमें कर्मकांडों और रिवाजों और पूजा पद्धतियों, जो धर्म के अभिन्न भाग होते हैं, की प्रत्याभूति समाविष्ट होती है । द्वितीय (सिद्धांत) यह है कि इस बात का निर्णय कि वह कौन सी चीज है जो धर्म या धार्मिक प्रथा का आवश्यक भाग गठित करती है, न्यायालयों द्वारा किसी विशिष्ट धर्म के सिद्धांतों के संदर्भ में किया जाना होता है और उनमें वे प्रथाएं भी सम्मिलित होती हैं जिन्हें किसी समुदाय द्वारा धर्म का भाग माना जाता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

यह दलील दी गई कि इस न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए उक्त विचारों की पुष्टि इस न्यायालय द्वारा **एन. आदित्यन** बनाम **त्रावणकोर देवसोम बोर्ड**[1] वाले मामले में की गई जिसमें पैराग्राफ 9 और 16 में जो मताभिव्यक्ति की गई, वह इस प्रकार है :–

"9. इस न्यायालय ने सेशम्मल **बनाम** तमिलनाडु राज्य [(1972) 2 एस. सी. सी. 11] वाले मामले में उन सिद्धांतों का पुनः पुनर्विलोकन किया जो अर्चक के अनुवांशिक अधिकार के उन्मूलन को चुनौती दिए जाने के संदर्भ में अनुच्छेद 25 और 26 में प्रदान किए गए संरक्षण पर आधारित हैं और विधिक स्थिति को निम्नानुसार दोहराया : (एस. सी. सी. पृष्ठ 21 पैरा 13-14) –

'13. इस न्यायालय ने सैदना ताहेर सैफुद्दीन साहिब **बनाम** मुम्बई राज्य, [ए. आई. आर. 1962 एस. सी. 853] वाले मामले में जिस विधिक स्थिति का संक्षेपण किया वह निम्नलिखित है (पृष्ठ 531 और 532) –

संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 की अंतर्वस्तु पर इस न्यायालय द्वारा आयुक्त, हिन्दू धार्मिक विन्यास, मद्रास बनाम श्री श्रीपुर मठ के श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वमियार ; महंत जगन्नाथ रामानुज दास बनाम उड़ीसा राज्य, श्री वेंकटरमन्ना देवरू बनाम मैसूर राज्य ; दरगाह कमेटी, अजमेर बनाम सय्यद हुसैन अली और अन्य वाले मामलों और अनेक अन्य मामलों में विचार किया गया और इन विनिश्चयों द्वारा इन उपबंधों पर विचार करने वाले मुख्य सिद्धांतों को विवादों से परे रखा गया । प्रथम (सिद्धांत) यह है कि इन अनुच्छेदों का संरक्षण उन सिद्धांतों या विश्वास के मामलों तक सीमित नहीं है और उन कार्यों तक भी विस्तृत होते हैं जिन्हें धर्म के मतावलंबन में किया जाता है और इसलिए उनमें कर्मकांडों और रिवाजों और पूजा पद्धतियों, जो धर्म के अभिन्न भाग होते हैं, की प्रत्याभूति समाविष्ट होती है । द्वितीय (सिद्धांत) यह है कि इस बात का निर्णय कि वह कौन सी चीज है जो धर्म या धार्मिक प्रथा का आवश्यक भाग गठित करती है, न्यायालयों द्वारा किसी विशिष्ट धर्म के सिद्धांतों के संदर्भ में किया जाना होता है और उनमें वे प्रथाएं भी सम्मिलित होती हैं जिनको किसी समुदाय द्वारा धर्म का भाग माना जाता है ।'

[1] (2002) 8 एस. सी. सी. 106.

14. हम इन सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए वर्तमान मामले पर विचार करते हैं ।

16. अब यह सुस्थापित हो चुका है कि अनुच्छेद 25 प्रत्येक व्यक्ति के लिए निश्चित रूप से लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य और अनुच्छेद 17 को सम्मिलित करते हुए भाग 3 के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए अन्य लोगों की आत्मिक उन्नति के लिए अपने निर्णय और अंतःकरण के अनुसार अपने धार्मिक विश्वास को मानने और दृश्य कार्यों द्वारा उसका प्रदर्शन और साथ ही उसका प्रचार करने की स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है । ऐसे निर्बंधनों को अधिरोपित करने का राज्य का अधिकार, जो कि लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के आधार पर अपेक्षित होता है या आवश्यक पाया जाता है, स्वयमेव अनुच्छेद 25 और 26 में ही अन्तर्निहित है । अनुच्छेद 25(2)(ख) सार्वजनिक प्रकृति की हिन्दू धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों के लोगों के लिए उपलब्ध कराए जाने के अतिरिक्त सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए उपबंधित करने वाली विधि बनाने के राज्य के अधिकार को सुनिश्चित करता है और विभिन्न अधिकारों में सामंजस्य स्थापित किए जाने की प्रक्रिया में राज्य या समाज के विभिन्न समुदायों या वर्गों के ऐसे किसी भी अधिकार को विनियमित किए जाने की प्रक्रिया में राज्य या समाज के विभिन्न समुदायों या वर्गों के ऐसे किसी भी अधिकार को विनियमित किए जाने की आवश्यकता पर भी (संविधान के निर्माताओं द्वारा) विचार किया गया था । समाज को मात्र परंपरागत और अंधविश्वासी धाराओं के प्रयोजनार्थ की जाने वाली विवेकशून्य और अनुष्ठानिक अनुषक्ति से स्वतंत्र कराना संविधान के निर्माताओं का स्वप्न था जो तर्कसंगत और युक्तिसंगत आधार प्रतीत होता है और जिसे अनुच्छेद 17 के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की गई है । विधिक स्थिति अनुच्छेद 25 और 26 के अधीन प्रदान किया गया संरक्षण उन अनुष्ठानों और रिवाजों, रस्मों और पूजापद्धतियों, जो धर्म के अभिन्न भाग हैं, के लिए प्रत्याभूति हैं और वे कौन सी बातें हैं जो धर्म या धार्मिक प्रथाओं का आवश्यक भाग गठित करती हैं, का निर्णय न्यायालयों द्वारा किसी विशिष्ट धर्म या प्रथाओं, जिनको धर्म का भाग माना जाता है, के संदर्भ में किया जाना है, को समान रूप से और दृढ़तापूर्वक अधिकथित किया गया है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उपर्युक्त निवेदनों को जारी रखते हुए **श्री आदि विश्वेश्वरा ऑफ काशी विश्वनाथ टेम्पल, वाराणसी** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले का अवलंब लिया ।

> "28.... समस्त पंथनिरपेक्ष क्रियाकलाप, जो धर्म के साथ सहबद्ध तो होते हैं, किन्तु जो इसके आवश्यक भाग से संबद्ध नहीं हैं या इसका आवश्यक भाग गठित नहीं करते, राज्य विनियमों के अधीन हो सकते हैं किन्तु धर्म का आवश्यक भाग किन बातों से गठित होता है, प्राथमिक रूप से स्वयमेव उसी धर्म के सिद्धांतों, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और इसके विकास की प्रक्रिया इत्यादि में परिवर्तन से अभिनिश्चित किया जा सकता है । तात्विकता की संकल्पना अपने आप में ही निश्चायक तथ्य नहीं होती । ये उन परिस्थितियों में से कोई एक परिस्थिति होती है जिस पर इस बात का न्यायनिर्णयन किए जाते समय विचार किया जाना चाहिए कि क्या धर्म या धार्मिक प्रक्रिया या आस्था के विशिष्ट मामले धर्म के अभिन्न भाग होते हैं । इस बात को निर्णीत किया जाना चाहिए कि क्या प्रथाओं या मामलों को स्वयमेव समुदाय द्वारा ही (धर्म का) अभिन्न भाग माना जा सकता है । यद्यपि यह निश्चायक नहीं है, फिर भी यह एक ऐसा पहलू है जिस पर विचार किया जाना चाहिए । प्रश्नगत प्रथा धार्मिक प्रकृति की है और क्या इसे धर्म का अभिन्न और आवश्यक भाग माना जा सकता है और यदि न्यायालय उसके समक्ष प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि यह धर्म का अभिन्न या आवश्यक भाग है, तो अनुच्छेद 25 इसे संरक्षण प्रदान करता है.... ।
>
> (बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की महत्वपूर्ण दलील यह थी कि उच्च न्यायालय द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" (विवरण के लिए "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर भाग 6 न्यायिक उद्घोषणाओं को निर्दिष्ट करें) के विषय पर दिए गए निर्णय विधि की दृष्टि में मान्य ठहराए जाने योग्य नहीं है क्योंकि उच्च न्यायालयों ने "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर अपनी समझ के सन्दर्भ में अपने विचारों को प्रतिस्थापित कर दिया है । यह भी दलील दी गई कि "तलाक-ए-बिद्दत" संदर्भ में सुन्नी मुस्लिमों के अन्य चार संप्रदायों के विश्वास के आधार पर किसी एक संप्रदाय के विचारों को चालाकी से निकाल दिया जाना मुस्लिमों के विश्वास को स्पष्ट रूप से भंग किया जाना था ।

---

[1] (1997) 4 एस. सी. सी. 606.

106. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उन सभी के द्वारा जिन्होंने याची की ओर से इस न्यायालय को सहायता प्रदान की, अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं का अवलंब लिए जाने को भी विवादित किया । इस संबंध में, यह दलील दी गई कि अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं, विशेष रूप से कन्वेंशन ऑन इलिमिनेशन ऑफ आल फार्म्स ऑफ डिस्क्रिमिनेशन अगेंस्ट वुमेन (महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेद के विलोपन पर प्रसंविदा) का अवलंब लिया जाना पूर्णतया गलत है चूंकि भारत ने इस प्रसंविदा के संबंध में किसी समुदाय के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न किए जाने की अपनी संवैधानिक नीति के समर्थन में स्पष्ट रूप से अधिकार सुरक्षित कर लिया था । इस संबंध में कन्वेशन ऑन इलिमिनेशन ऑफ आल फार्म्स ऑफ डिस्क्रिमिनेशन अगेंस्ट वुमेन को विशिष्ट रूप से निर्दिष्ट करते हुए यह निवेदन किया गया कि उपर्युक्त घोषणाएं/संरक्षण सर्वप्रथम उपर्युक्त प्रसंविदाओं को हस्ताक्षरित किए जाते समय और तत्पश्चात् उनकी पुष्टि किए जाते समय भी किए गए थे । इस संबंध में यह दलील दी गई कि भारत द्वारा प्रथम घोषणा निम्नलिखित प्रारूप में की गई थी :–

> "कन्वेंशन ऑन इलिमिनेशन ऑफ आल फार्म्स ऑफ डिस्क्रिमिनेशन अगेंस्ट वुमेन के अनुच्छेद 5(क) और 16(1) के संबंध में भारत गणराज्य की सरकार यह घोषणा करती है कि वह किसी समुदाय द्वारा पहल और उसकी सहमति के बिना उसके अंदरूनी मामलों में गैर मध्यक्षेप की अपनी नीति के सामंजस्य में इन उपबंधों का पालन सुनिश्चित करेगी ।"

प्रसंविदा को हस्ताक्षरित और उसका अनुसमर्थन किए जाते समय स्पष्ट अवस्थिति को दृष्टि में रखते हुए यह निवेदन किया गया कि इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि भारत ने वचन दिया है कि वह किसी समुदाय के अंदरूनी मामलों में संबद्ध समुदाय की पहल और उसकी सहमति के बिना मध्यक्षेप नहीं करेगा । यह निवेदन किया गया कि भारत संघ द्वारा इस वचन को अनदेखा नहीं किया जा सकता । संदर्भाधीन विवाद्यक पर इस न्यायालय को संबोधित करते हुए यह निवेदन किया गया कि भारत संघ द्वारा जिस पक्षकथन का अवलंब लिया गया है, वह उस अवस्थिति का स्पष्ट अनादर है जिसे भारत द्वारा अंगीकृत किया गया है और जिसे ऊपर वर्णित किया गया है ।

107. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने याची द्वारा ऐसे विभिन्न पंथनिरपेक्ष देशों, जहां बहुसंख्यक हैं और साथ ही धर्मतंत्रात्मक देशों में "तलाक-ए-

बिद्दत" की प्रथा को विधायन द्वारा अभिव्यक्त रूप से निराकृत कर दिए जाने के आधार पर किए गए निवेदनों का भी गंभीरतापूर्वक विरोध किया (विवरण के लिए निर्दिष्ट करें भाग 5 संपूर्ण विश्व में, इस्लामिक देशों के साथ ही साथ गैर इस्लामिक देशों में विधायन द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का निराकरण) । इस संबंध में यह निवेदन किया गया कि संविधान द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों और श्रेणियों और/या धार्मिक वर्गों की "स्वीय विधियों" का संरक्षण उन्हें मूल अधिकारों की उच्च स्थिति प्रदान किए जाने के द्वारा किया जाना अपेक्षित है । तद्नुसार, यह दलील दी गई कि समाज के विभिन्न वर्गों और श्रेणियों और साथ ही धार्मिक वर्गों को संविधान के अधीन मूल अधिकार के रूप में जो कुछ प्रदत्त हैं, उसे प्रदान किए जाने से इनकार नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्य देशों ने भी ऐसे बतिलिकरण के लिए विधान अधिनियमित किए हैं । इसके अलावा, यह निवेदन किया गया कि विधान किसी विशिष्ट देश के निवासियों की सामूहिक इच्छा पर आधारित होता है और इसलिए किसी अन्य देश के निवासियों की इच्छा को भारत के निवासियों की इच्छा पर थोपा नहीं जा सकता । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अपने से पहले वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा दी गई दलीलों का अवलंब लेते हुए दलील दी कि भारत के विधान मंडल को स्वतंत्रता है कि वह इस प्रकार के विधान अधिनियमित करे क्योंकि सातवीं अनुसूची में समाविष्ट समवर्ती सूची विधान-मंडल को "स्वीय विधि" द्वारा शासित मामलों के संबंध में भी विधायन करने की अनुज्ञा प्रदान करती है । इसके अतिरिक्त, यह भी निवेदन किया गया कि इस संबंध में उपबंध अनुच्छेद 23(2)(ख) में उपलब्ध है, जो यह उपबंधित करता है कि सामाजिक कल्याण और सुधार के उद्देश्य को अपनाए जाने के लिए विधान-मंडल को स्वतंत्रता है कि वह "स्वीय विधि" द्वारा शासित मामलों के संबंध में भी विधान अधिनियमित करें । अतः, यह दलील दी गई कि याचियों द्वारा दी गई इस प्रकार की सभी दलीलों को अनदेखा कर दिया जाना चाहिए ।

108. ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री वी. गिरी 2015 की स्वप्रेरणा से रिट याचिका (सिविल) सं. 2 में प्रत्यर्थी सं. 7 - जमाते-उल-उलेमा-ए-हिंद (जिसका प्रतिनिधित्व महासचिव, 1- बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली द्वारा किया गया) और 2016 की रिट याचिका (सिविल) सं. 118 में प्रत्यर्थी सं. 6 की ओर से उपस्थित हुए । आरंभ में, यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने श्री कपिल सिब्बल और श्री राजू रामचंद्रन, ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा किए गए निवेदनों का पृष्ठांकन किया

जिन्होंने उनके समक्ष इस न्यायालय की सहायता की थी । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने इस आधार पर प्रथमतः जहां तक इसका संबंध "तलाक-ए-बिद्दत" से है, मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 की विधिमान्यता को चुनौती दी गई थी, उनकी दलीलों पर केंद्रित किया कि यह असंवैधानिक होने के कारण अप्रवर्तनीय है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अपनी चुनौती देने के लिए सर्वप्रथम मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 (विवरण के लिए, भाग 4 मुस्लिम "स्वीय विधि" के क्षेत्र में भारत में विधान को निर्दिष्ट करें) की धारा 2 और 3 की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया । यह निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त धारा 2 सर्वोपरि खंड से आरंभ होती है । यह इंगित किया गया कि पूर्वोक्त सर्वोपरि खंड ऐसी प्रथाओं और रूढ़ियों के अपवर्जन के लिए ही निर्देश्य थी जो मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत के प्रतिकूल थी । यह निवेदन किया गया कि सुस्पष्टतः ऐसी प्रथाओं और रूढ़ियों के प्रतिनिर्देश दिया गया था जो मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत के अनुरूप नहीं थी । यह प्राख्यान किया गया कि धारा 2 के अधिदेश का उद्देश्य मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को "विनिश्चय नियम" बनाना था जब प्रथाएं और रूढ़ियां प्रतिकूल हों । यह स्पष्ट करने की ईप्सा की गई कि शरीयत अधिनियम में उन विषयों के संदर्भ में जिन्हें धारा 2 और 3 लागू की गई थी, इसके पैरामीटर को न तो परिभाषित किया गया है न ही स्पष्ट किया गया है । अतः यह निवेदन किया गया कि निर्देशाधीन अधिनियमिति द्वारा मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को पुनःस्थापित नहीं किया गया है क्योंकि उक्त विधान की अधिनियमिति के पूर्व भी मुस्लिमों को यही विधि लागू थी । इस बाबत यह इंगित किया गया कि देश के विभिन्न भागों में प्रथाएं और रूढ़ियां मुस्लिमों के संबंध में भी उनकी "स्वीय विधि" को अभिभावी करते हुए लागू की जा रही थी । उपर्युक्त दलील को पुष्ट करने के लिए विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उपर्युक्त अधिनियमिति के उद्देश्यों और कारणों के कथन का सुस्पष्ट निर्देश किया जो यह प्रकट करता है कि ब्रिटिश भारत के मुसलमानों ने लगातार यह आग्रह किया था कि रूढ़िगत विधि और परंपराएं मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत का स्थान न ग्रहण कर ले । यह भी इंगित किया गया कि उद्देश्यों और कारणों का कथन यह भी उजागर करता है कि उसके मुवक्किल अर्थात् जमाते-उलेमा-ए-हिंद ने मुस्लिमों के बीच विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को लागू किए जाने की मांग की थी और यह आग्रह किया था कि रूढ़ि और प्रथा के प्रतिकूल

विधि को अध्यारोही प्रभाव नहीं होना चाहिए । यह इंगित किया गया कि यह तभी किया जा सकता है जब मुस्लिम "स्वीय विधि"- शरीयत अस्तित्व में था और 1937 में उपर्युक्त अधिनियमिति के पूर्व भी मुसलमानों के बीच विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए अनुप्रयोज्य था । पूर्वोक्त रीति का आवाहन करते हुए यह निवेदन किया गया कि विधि के निकाय के रूप में मुस्लिम "स्वीय विधि" को शरीयत अधिनियम द्वारा ही शाश्वत बनाया गया था । यह निवेदन किया गया कि मुस्लिम "स्वीय विधि" को कानून द्वारा सम्मिलित नहीं किया गया था न ही 1937 अधिनियम ने मुस्लिम "स्वीय विधि" को संहिताबद्ध किया था । यह निवेदन किया गया कि 1937 वाले विधान को केवल कानूनी रूप से घोषित किया गया था कि नियमों के संग्रह के रूप में मुस्लिम "स्वीय विधि" भारत के मुस्लिमों को लागू होगी और यह मुस्लिम "स्वीय विधि" होगी जिसका किसी प्रतिकूल रूढ़ि या प्रथा पर अध्यारोही प्रभाव होगा । अतः यह दोहराया गया कि ऐसी विधायिका द्वारा जिसने मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 का अधिनियमन किया भारत के मुस्लिमों को लागू मुस्लिम "स्वीय विधि" में तनिक भी परिवर्तन या संशोधन नहीं किया और न ही उपर्युक्त अधिनियमिति का अधिनियमन करते समय विधायिका ने मुस्लिम "स्वीय विधि" को सम्मिलित किया अतः मुस्लिम "स्वीय विधि" के लक्षण में मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की अधिनियमिति के कारण कोई परिवर्तन नहीं हुआ । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार मुस्लिम "स्वीय विधि" का कायाकल्प कानून के रूप में नहीं हुआ और इस प्रकार भारत में मुस्लिमों के अधिकार और कर्तव्य शरीयत अधिनियम के अधिनियमन के पश्चात् भी यथापूर्व शासित होते रहे । यह इंगित किया गया कि शरीयत अधिनियम न तो प्रतिस्थापित किया गया और न ही यह उन से भिन्न अधिकारों और बाध्यताओं के सेट से भिन्न स्थिति का उपबंध करता है जो मुस्लिम "स्वीय विधि"- शरीयत के रूप में मान्यता प्राप्त और लागू थी । इस प्रकार यह दलील दी गई कि यह स्वीकार करना पूर्णतः अन्यायोचित है कि मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को शरीयत अधिनियम के माध्यम से कानूनी प्रभाव दिया गया । अतः यह निवेदन किया गया कि उपर्युक्त अधिनियमिति की धारा 2 की विधिमान्यता को चुनौती देना निरर्थक प्रयास होगा जिससे कि संविधान के भाग 3 में अंतर्विष्ट मूल अधिकारों के प्रतिकूल होने के रूप में "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता को चुनौती दी जा सके । जहां तक वर्तमान प्राख्यान का संबंध है, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने दो निवेदन किए -

पहला, यह कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 स्वयं मात्र इस कारण समुदाय के रूप में मुस्लिमों द्वारा अपनाए जाने और निर्वहन किए जाने के अधिकारों और बाध्यताओं का उपबंध करने की किसी विधि का उपबंध नहीं करता कि यह केवल मुस्लिम "स्वीय विधि" शरीयत के सातत्व की केवल पुनः पुष्टि करता है और इस प्रकार ऐसे व्यक्तियों के अधिकार और बाध्यताएं जो मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत के अधीन थे, उसी प्रकार जारी रह गए जैसे वे शरीयत अधिनियम की अधिनियमिति के पूर्व विद्यमान थे । और, दूसरा मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को न तो स्पष्ट नियमों और विनियमों की प्रकृति में शरीयत अधिनियम द्वारा रूपांतरित या कायाकल्पित किया गया और इस प्रकार यदि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 को अभिखंडित किया जाए तो भी यह संविधान के अनुच्छेद 25 के अधिदेश को ध्यान में रखते हुए स्वतः मुस्लिम "स्वीय विधि" शरीयत को पुनर्जीवित करता है । तदनुसार, यह इंगित किया गया कि चुनौती के पैरामीटर जो कानूनी अधिनियमिति को चुनौती देने के लिए लागू थे, मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत को चुनौती देने के विषय में लागू नहीं होंगे। विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की यह भी दलील थी कि संविधान के अनुच्छेद 25(1) के अधीन अबाद्ध रूप से धर्म के मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता अपनी निजी आस्था को मानने के कार्य में प्रत्येक व्यक्ति को गारंटीकृत एक सार्वभौमिक अधिकार है । यह निवदेन किया गया कि पूर्वोक्त परिधि भारतीय संविधान के पंथनिरपेक्ष प्रकृति का मर्म है । तद्नुसार, यह इंगित किया गया कि अनुच्छेद 25(1) के अधीन संरक्षित अधिकारों की सीमाओं को चुनौती लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के सीमित आधरों पर और उस समय भी यदि संविधान के भाग 3 मूल अधिकारों के उपबंधों का भंग हुआ हो, दी जा सकती है ।

109. यह निवेदन किया गया कि संविधान के अधीन भाग 3 मूल अधिकार में अंतर्विष्ट उपबंधों के भंग का अवलंब राज्य कार्रवाई के प्रतिनिर्देश से ही लिया जा सकता है क्योंकि केवल राज्य कार्रवाई को ही अनुच्छेद 14, 15 और 21 के अनुरूप होना चाहिए । अतः यह निवेदन किया गया कि संविधान के अन्य उपबंधों को अनुच्छेद 25(1) के अधीन अधिकार का दिखावटी आधिपत्य "स्वीय विधि" के मामले में लागू नहीं जिसका किसी कानून या राज्य कार्रवाई में कोई स्रोत नहीं है । यह निवेदन किया गया कि शरीयत अधिनियम मुस्लिम "स्वीय विधि"-शरीयत की

उपयोज्यता की पुष्टि करता है और उसकी धारा 2 के द्वारा इसे निरंतरता प्रदान करता है । अतः, यह मुस्लिम "स्वीय विधि"-शरीयत को कानूनी जामा नहीं प्रदान करेगा ।

110. यह भी निवेदन किया गया कि सुन्नी संविधान के अनुच्छेद 25 के अर्थांतर्गत एक धार्मिक संप्रदाय है और अतः, वे लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन है । अतः सुन्नी मुस्लिमों को, अन्य बातों के साथ-साथ धर्म से संबंधित विषयों में अपनी निजी क्रियाकलापों का प्रबंध करने का अधिकार था । यह इंगित किया गया कि इस बात का खंडन नहीं किया जा सकता कि विवाह और विवाह-विच्छेद धर्म के विषय हैं । अतः धार्मिक संप्रदाय के रूप में सुन्नी विवाह और विवाह-विच्छेद के अपने निजी क्रियाकलापों का प्रबंध करने के हकदार थे जो मुस्लिम "स्वीय विधि"-शरीयत के अनुकूल हैं । अतः, यह निवेदन किया गया कि विवाह और विवाह-विच्छेद से संबंधित ऐसे उपबंध जो मुस्लिम "स्वीय विधि" में हैं, संविधान के अनुच्छेद 25 के अधीन सांप्रदायिक अधिकार के रूप में संरक्षित किए जाने के हकदार हैं ।

111. श्री वी. शेखर, श्री सोम्या चक्रवर्ती, ज्येष्ठ अधिवक्ता, श्री अजीत वाघ, अजमल खान, ज्येष्ठ अधिवक्ता, श्री वी. के. बिजू, श्री बनर्जी, श्री अश्वनी उपाध्याय, श्री विवेक सी. सोल्शा, सुश्री रूख्साना, सुश्री फराह फैज, अधिवक्ता ने भी न्यायालय की सहायता की । न्यायालय को उनकी सहायता अन्य विद्वान् काउंसेलों द्वारा, जो उनके समक्ष उपस्थित हुए थे, पक्षपोषित मुद्दों पर थे । उनके द्वारा दिए गए निवदेनों को पहले ही ऊपर अभिलिखित किया गया है । संक्षिप्तता के कारण, उपर्युक्त निर्दिष्ट विद्वान् काउंसेलों के नाम से पुनः उन्हीं निवेदनों को अभिलिखित करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है । कुल मिलाकर यह उल्लेख करने की आवश्यकता है कि हमने इंगित सभी बारीकियों और संविवाद के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर उनके प्रभाव पर सम्यक् ध्यान दिया ।

भाग 9

परस्पर विरोधी दलीलों पर विचार-विमर्श और हमारा निष्कर्ष

112. अपने विचार-विमर्श के दौरान हमने अनेक जटिल मुद्दों की परीक्षा करने का प्रयास किया । हमें "तलाक-ए-बिद्दत" – तीन तलाक की विधिक शुचिता का अवधारण करने की आवश्यकता है । यह हमें यह सुनिश्चित करने में समर्थ बनाएगी कि क्या "तलाक" की प्रथा की विधायी मान्यता है क्योंकि याची का यह पक्षकथन है कि यह व्यक्त विधान

[मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937] के माध्यम से है । किंतु याची के दावे के संबंध में दलील देने वाले लोगों की ओर से अपनाया गया दृष्टांत यह है कि इसकी उच्चता "स्वीय विधि" की है और उस कारण "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को संवैधानिक संरक्षण प्राप्त है ।

113. किसी भी पक्ष में निष्कर्ष निकालते हुए, हमें यह अवधारित करने की आवश्यकता है कि क्या "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक के माध्यम से विवाह-विच्छेद, संविधान के मूल अधिकार के भाग 3 के नियम विरुद्ध है (यह अवधारण याची की दलील की स्वीकृति के अधीन होगा कि इस प्रथा को कानूनी मान्यता प्राप्त है) । तथापि, यदि हम प्रतिकूल निष्कर्ष निकालते हैं, अर्थात्, यह कि "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक की "स्वीय विधि" की प्रास्थिति है तो हमें प्रथा के बाध्यकारी प्रभाव का अवधारण करना होगा और यह कि क्या इस न्यायालय के न्यायिक पक्ष द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है । संविधान के अनुच्छेद 25 के अधिदेश को ध्यान में रखते हुए वर्तमान अनुक्रम आवश्यक होगा जिसका अवलंब उन लोगों द्वारा लिया गया है जो याची के हेतुक का विरोध कर रहे हैं ।

114. यदि हम इस प्रतिपादना से सहमत भी हो जाएं कि "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक मुस्लिमों को लागू "स्वीय विधि" गठित करता है तो भी विवाह-विच्छेद के मुद्दे पर इस न्यायालय को यह परीक्षा करने की आवश्यकता होगी कि क्या "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक की प्रथा संविधान के भाग 3 के "......लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा अन्य उपबंधों के...." स्वीकृत मानकों का अतिक्रमण करती है (याची द्वारा प्रस्तुत यह पक्षकथन है) । यद्यपि पूर्वगामी पैरा में वर्णित विचार-विमर्श के पश्चात् निकाले गए निष्कर्ष से याची के हेतु के लिए कोई लाभप्रद परिणाम नहीं निकलता, उनका यह पक्षकथन है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा सामाजिक रूप से घृणात्मक होने के कारण उसे संवैधानिक नैतिकता का अतिक्रमण करने वाली घोषित किया जाए क्योंकि याची के अनुसार इस आधार पर इस न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप करने के लिए इस धारणा का अवलंब लिया जाए कि यह व्यापक लोकहित में उद्देश्य को पूरा करेगा । याचियों के हेतुक की पुष्टि धार्मिक इस्लामिक राज्यों सहित अधिकांश मुस्लिम जनसंख्या वाले देशों में संपूर्ण विश्व में वर्तमान संदर्भ में "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के उत्सादन द्वारा होती है । निम्नलिखित परीक्षा में इसमें इसके ऊपर अभिलिखित मार्ग पर विचार किया जाएगा ।

I. क्या राशिद अहमद वाले मामले में 'तलाक-ए-बिद्दत' कायम

रखते हुए, प्रिवी कौंसिल के निर्णय पर पुनर्विचार करने की अपेक्षा है ?

115. मुस्लिम "स्वीय विधि"– "शरीयत" के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता के बारे में इस बहस को लंबा या जटिल बनाने की आवश्यकता नहीं होगी यदि **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल द्वारा दिए गए विनिश्चय को इसकी विधिमान्यता और "तलाक-ए-बिद्दत" के द्वारा विवाह-विच्छेद की अप्रतिसंहरणीय प्रकृति पर अंतिम माना जाए । बहस तत्काल समाप्त हो जाएगी । पूर्वोक्त निर्णय मुस्लिम "स्वीय विधि" को लागू करते हुए दिया गया था । उपर्युक्त निर्णय में "तलाक-ए-बिद्दत" को विधिमान्य और आबद्धकर अभिनिर्धारित किया गया था । **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले के निर्णय का बहुत महत्व है क्योंकि अनीशा खातून - पूर्व पत्नी और उसके पूर्व पति गयासुद्दीन "तलाक-ए-बिद्दत" की उद्घोषणा के पश्चात् 15 वर्ष की अवधि तक अपने पति के साथ सहवास करती रही और रहती रही । इस विवाह-विच्छेद के पश्चात् सहवास के दौरान गयासुद्दीन से अनीशा खातून को पांच बच्चे पैदा हुए । और फिर भी, प्रिवी कौंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया कि पक्षकारों के बीच वैवाहिक संबंध "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक की उद्घोषणा पर तत्काल समाप्त हो गया । प्रिवी कौंसिल ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि अनीशा खातून से पैदा हुए पांच बच्चों को गयासुद्दीन और उनकी पूर्व पत्नी के धर्मज बच्चों के रूप में नहीं माना जा सकता । अतः पक्षकारों के बीच विवाह-विच्छेद हो जाने के पश्चात् अनीशा खातून के जन्में बच्चों को गयासुद्दीन की संपत्ति का वारिस नहीं ठहराया गया । **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय 1932 में दिया गया था । मुस्लिम "स्वीय विधि" (जैसाकि याचियों द्वारा पक्षपोषित किया गया है) की प्राख्यापित कानूनी प्रास्थिति मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की अधिनियमिति से उद्भूत हुई । "शरीयत" अधिनियम में व्यक्ततः यह उपबंध है कि मुस्लिम "स्वीय विधि" - "शरीयत" ऐसे मामलों में "विनिश्चय नियम" गठित करती है जहां पक्षकार मुस्लिम हों । यह विवादित नहीं है कि अन्य बातों के अलावा शरीयत अधिनियम के अधिनियमन के परिणामस्वरूप "तलाक" द्वारा मुस्लिमों में विवाह का विघटन मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" के अनुरूप ही होगा । जैसाकि ऊपर उल्लेख किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" मुसलमानों में "तलाक" द्वारा विवाह के विघटन का एक प्रकार है । याचियों के पक्षकथन के अनुसार मुस्लिम "स्वीय विधि" -"शरीयत" को कानूनी प्रास्थिति प्रदान करने के मुद्दे पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है । यह निवेदन

किया गया कि कानूनी प्रास्थिति अर्जित करने के पश्चात् ("तलाक-ए-बिद्दत" सहित) प्रश्न और विषय संविधान के भाग 3 मूल अधिकार के उपबंधों के अनुरूप होने चाहिए (न कि इसके प्रतिकूल) । यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि ये सभी महत्वपूर्ण विधिक प्रश्न हैं जिनकी परीक्षा करने की अपेक्षा है ।

116. हमारे विचारित मत के अनुसार इस विषय पर निश्चिततः नए सिरे से विचार करने की अपेक्षा है क्योंकि विभिन्न उच्च न्यायालय ने "तलाक-ए-बिद्दत" द्वारा मुस्लिमों के बीच विवाह-विच्छेद की प्रथा की परीक्षा करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" की गलत व्याख्या पर दिया गया था ।

117. यदि याचियों के अनुसार, मुस्लिम "स्वीय विधि" के अनुसार मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 में ऐसी रीति सम्मिलित की गई होती जिसमें निर्वसीयत उत्तराधिकार संविदा या दान के अधीन अभिप्राप्त या विरासत में प्राप्त स्वीय संपत्ति सहित महिलाओं की विशेष संपत्ति या "तलाक", इला, जिहर, लियन, खुला और मुबारक सहित विवाह, विवाह-विघटन, भरणपोषण, मेहर, संरक्षकता, दान, न्यास और न्यास संपत्ति जैसे विषय और वक्फ (जैसा उसकी धारा 2 में है) से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया गया होता तो बिल्कुल अलग बात होती । कुल मिलाकर शरीयत अधिनियम में यह उल्लेख नहीं है कि कैसे उपर्युक्त प्रश्नों और विषयों पर विचार किया जाए । अतः, मुस्लिमों के विवादों के समाधान के लिए सर्वप्रथम यह अवधारित करने की आवश्यकता होगी कि विवाद के प्रतिनिर्देश से मुस्लिम "स्वीय विधि" का अर्थ क्या था । यह जो कुछ भी था, वह 1937 अधिनियम की धारा 2 के निबंधनानुसार "विनिश्चय नियम" गठित करता है । प्रिवी कौंसिल द्वारा **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिए गए निर्णय के पश्चात् और मुस्लिम "स्वीय विधि" - "शरीयत" को प्रख्यापित कानूनी प्रास्थिति प्रदान किए जाने के पश्चात् **ए. युसूफ राथर** बनाम **सोरम्मा**[1] वाले मामले में केरल उच्च न्यायालय के समक्ष मुद्दा विचारार्थ उद्भूत हुआ जिसमें उच्च न्यायालय ने **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिए गए प्रिवी कौंसिल के पूर्वोक्त विनिश्चय की परीक्षा की और यह मत व्यक्त किया कि मुस्लिम "स्वीय विधि" पर ब्रिटिश न्यायालयों के मत "शरीयत" की गलत व्याख्या पर आधारित है । उपर्युक्त निर्णय में

[1] ए. आई. आर. 1971 केरल 261.

केरल उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश (तत्कालीन न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्णा अय्यर) ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :–

"7. अधिवक्ताओं की ओर से पर्याप्त तर्क दिए गए और 'उसके भरणपोषण के लिए व्यवस्था करने की असफलता' पद का अर्थ निकालने के संबंध में और मुस्लिम विधि के अधीन विघटन के लिए यथा विधिमान्य मान्यता प्राप्त आधारों के बारे में दोनों पक्षों द्वारा बहुत नजीरें दी गईं । चूंकि भ्रमातीतत्व न्यायपालिका का सहज गुण नहीं है इसलिए मुस्लिम न्यायविदों द्वारा यह मत व्यक्त किया गया है कि विवाह-विच्छेद की इस्लामिक विधि की भारतीय एंग्लियन न्यायिक प्रतिपादना पवित्र पैगम्बर या पवित्र पुस्तक के अनुरूप हू-ब-हू ठीक नहीं है, सीमांतक विरूपण अनिवार्य हैं जब ड्राउनिंग स्ट्रीट की न्यायिक समिति को भारत और अरबिया के मनु और मुहम्मद का निर्वचन करना है । संस्कृति की आत्मा-विधि काफी औपचारिक है और समुदाय के सांस्कृतिक मानकों की प्रवर्तनीय अभिव्यक्ति को विदेशी मस्तिष्कों द्वारा पूर्णतः नहीं समझा जा सकता । यह मत कि मुस्लिम पति तत्काल 'तलाक' करने की मनमाना और एकपक्षीय शक्ति का उपभोग करते हैं, की सम्मति इस्लामिक व्यादेशों द्वारा नहीं होती है...... । यह जनप्रतिय प्रमुख है कि मुस्लिम पुरुष कुरान विधि के अधीन विवाह को समाप्त करने की बेलगाम शक्ति का उपभोग करता है । "पूरा कुरान व्यक्ततः पुरुष को तब तक अपनी पत्नी को 'तलाक' देने के लिए बहाने करने की मनाही करता है जब तक वह उसकी वफादार और आज्ञाकारी बनी रहती है । 'यदि वे (अर्थात् महिला) तुम्हारी आज्ञा मानती है तब तुम उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं कर सकते' (कुरान IV: 34) । इस्लामिक विधि प्राथमिकतः पुरुष को विवाह के विघटन की सुविधा प्रदान करती है यदि पत्नी अपने सरकशी या अपने बुरे चरित्र के द्वारा विवाहित जीवन को दुखद बनाती है ; किंतु गंभीर कारणों के अभाव में कोई भी पुरुष धर्म या विधि की नजर में 'तलाक' को न्यायोचित नहीं ठहरा सकता । यदि वह अपनी पत्नी का त्याग करता है या थोड़े सनकपन में उसे अलग करता है तो वह ईश्वर अर्थात् पैगम्बर के अभिशाप के लिए स्वयं दैवीय क्रोध को बुलावा देता है जो अपनी पत्नी को मनमौजीपन से इनकार करता है ।" विद्वान् लेखक अहमद ए. गलवास के अनुसार, पैगम्बर के समय के पहले पगन अरब पूर्णतः अपनी पत्नी का परित्याग करने के लिए स्वतंत्र था जब कभी वह उनकी सनक के अनुकूल हो

किंतु जब पैगम्बर आए तो उन्होंने 'तलाक' को ईश्वर की नजर में सर्वाधिक नापसंद विधिसम्मत विषय के रूप में घोषित किया । वस्तुतः वे 'तलाक' के प्रति अपनी घृणा को व्यक्त करने से कभी परेशान नहीं हुए । एक बार उन्होंने कहा : ईश्वर ने भूतल पर ऐसी कोई चीज नहीं बनाई जिसे वह (दासों के) दासत्व मुक्ति के कार्य से अधिक चाहते हों न ही उन्होंने भूतल पर ऐसी कोई चीज बनाई है जिसे वह 'तलाक' के कार्य से अधिक नापसंद करते हों । कुरान के समीक्षकों ने यह ठीक ही मत व्यक्त किया - और यह इराक जैसे कुछ मुस्लिम देशों में अब लागू विधि से मेल खाता है, कि पति को 'तलाक' के लिए कारणों के बारे में न्यायालय को संतुष्ट करना चाहिए । तथापि, भारत में लागू मुस्लिम विधि ने ऐसी भावना के प्रतिकूल मार्ग अपनाया है जो पैगम्बर या पवित्र कुरान ने अधिकथित की है और वही गलत धारणा पत्नी के 'तलाक' के अधिकार से निपटने वाली विधि को दूषित करती है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

118. मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता के मुद्दे पर स्पष्ट परीक्षा किए बिना इस न्यायालय ने **फजलुन्नवी** बनाम **के. खादरवली**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :–

"20. फजलुन्नवी को विदा कहने के पूर्व हमारे लिए इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि मुख्य न्यायाधीश बहरूल इस्लाम ने एक विस्तृत निर्णय में जिसमें कुरान शरीफ से उद्धरण लिए गए हैं, कई पूर्ववर्ती अंग्रेजी लेखकों तथा न्यायाधीशों की गलती को अभिव्यक्त किया है जिन्होंने इस्लामी विधि में 'तलाक' को अच्छा बताया है चाहे वह मनमाने तौर पर या आवेश में आकर दी गई हो और न्यायाधीश बेचलर (आई. एल. आर. 30 बाम्बे 539) के इस कड़े मत के विरुद्ध तर्क किया कि यह मत 'विधि के अनुसार ठीक है चाहे सैद्धांतिक रूप से गलत हो ।' जब यह बात प्रत्यक्ष रूप से उठे तो हो सकता है कि इस प्रश्न पर इस न्यायालय द्वारा विचार किया जाए किंतु आज तक के लिए इतना विरोध पर्याप्त है और हम इस प्रश्न पर अपना मत अभिव्यक्त नहीं करते हैं क्योंकि प्रस्तुत मामले में

[1] [1981] 2 उम. नि. प. 839 = (1980) 4 एस. सी. सी. 125.

विनिश्चय करने के लिए इसकी जरूरत है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल द्वारा निर्णीत विधि की प्रतिपादना पर नए सिरे से विचार किए जाने की आवश्यकता है ।

119. यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि इस अंतराल में, "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता पर गुवाहाटी उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश (तत्कालीन न्यायमूर्ति बहरुल इस्लाम) ने **जियाउद्दीन अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में विचार किया जिसमें उच्च न्यायालय ने (रशीद अहमद वाले मामले में) प्रिवी कौंसिल द्वारा अभिलिखित निर्णय से भिन्न मत व्यक्त किया । ऐसा करते समय, उसने "हदीस", "इजमा" और "क्यास" का अवलंब लिया । विवाद्यक पर पुनः मुसम्मात **रुकैया खातून** (उपर्युक्त) वाले मामले में गुवाहाटी उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा परीक्षा की गई है । आगे पुनः उच्च न्यायालय (तत्कालीन मुख्य न्यायमूर्ति बहरुल इस्लाम की ओर से बोलते हुए) प्रिवी कौंसिल द्वारा व्यक्त किए गए मत से सहमत नहीं हुआ । मामले पर **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश (तत्कालीन न्यायमूर्ति बदर दुरेज अहमद) द्वारा ही परीक्षा की गई । इसमें पुनः सुसंगत हदीस का अवलंब लेते हुए दिल्ली उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि "तलाक-ए-बिद्दत" पर प्रिवी कौंसिल द्वारा व्यक्त विधिक प्रतिपादना मुस्लिम "स्वीय विधि" के अनुरूप नहीं है । केरल उच्च न्यायालय ने **नजीर** (उपर्युक्त) वाले मामले में (न्यायमूर्ति ए. मुहम्मद मुस्ताक द्वारा लिखित) "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के कारण मुस्लिम पत्नियों की दर्दनाक स्थिति को उजागर किया और विषय पर अपना मत व्यक्त किया ।

120. इसमें उपर्युक्त व्यक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए हमारा यह विचारित मत है कि यह अभिनिर्धारित करते हुए **रशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में "तलाक-ए-बिद्दत" के प्रतिनिर्देश से प्रिवी कौंसिल द्वारा व्यक्त की गई यह राय कि "तलाक-ए-बिद्दत" का परिणाम पति-पत्नी के बीच वैवाहिक गठबंधन को अंतिम और असुधार्य रूप से अलग करना होता है, जिस क्षण यह उद्घोषित किया जाता है, नए सिरे से परीक्षा किए जाने की आवश्यकता है । विशेषकर, क्योंकि उस सन्निधि पर शरीयत अधिनियम की पृष्ठभूमि में और भारत के संविधान के उपबंधों के आलोक में भी (वस्तुतः यह ऐसा नहीं होता क्योंकि उस समय विधान उपलब्ध नहीं था

जब प्रिवी कौंसिल द्वारा अपना निर्णय दिया गया) मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" की अनुमोदित अवधारणा के रूप में इसकी विधिमान्यता का मूल्यांकन नहीं किया गया था ।

II. क्या "तलाक-ए-बिद्दत" को विधि की मंजूरी है जिसे पाप समझा जाता है ?

121. याचियों और अन्य जिन्होंने याची के हेतु का समर्थन किया है, ने दृढ़तापूर्वक यह दलील दी कि "तलाक-ए-बिद्दत" का उद्भव कुरान से नहीं है । दलील पर गंभीर रूप से विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" जिसे याची क्रमशः विवाह-विच्छेद का "सर्वोचित" और "उचित" प्ररूप मानते हैं, का भी उल्लेख कुरान में नहीं है । कुरान में "तलाक-ए-अहसन" और "तलाक-ए-हसन" के किसी प्रतिनिर्देश के अभाव के बावजूद किसी भी याची ने इस आधार पर इसे कोई चुनौती नहीं दी । सुस्पष्टतः इस आधार पर "तलाक-ए-बिद्दत" को चुनौती नहीं दी जा सकती । हमारा यह समाधान हो गया है कि मुस्लिमों के बीच "तलाक" की भिन्न-भिन्न अनुमोदित प्रथाओं का उद्भव हदीसों और मुस्लिम विधिशास्त्र के अन्य स्रोतों में उपलब्ध है । अतः, मात्र इस कारण कि यह कुरान में व्यक्ततः उपबंधित नहीं है या अनुमोदित नहीं है, प्रथा को अपास्त करने का विधिमान्य औचित्य नहीं हो सकता ।

122. याची हमसे यह अभिनिर्धारित करने की अपेक्षा करते हुए वस्तुतः संविवाद के सरल और संक्षिप्त निपटान की मांग कर रहे हैं कि जो कुछ भी अनियमित और पापमय है, उसे विधि की मंजूरी नहीं प्राप्त हो सकती है । पूर्वोक्त अनुरोध का समर्थन इस दलील द्वारा किया गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" को धर्मशास्त्र में दोषपूर्ण घोषित किया गया है । यह निवेदन किया गया कि यह प्रथा स्पष्टतः पितृसत्तात्मक है अतः लिंग समता की आज की दुनिया में इसे कायम नहीं रखा जा सकता है । इस न्यायालय को याचियों के इस अनुरोध को कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को विधि की दृष्टि से अस्वीकार्य घोषित किया जाए, स्वीकार करने के लिए न्यायालय का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया गया कि वर्तमान संविवाद पर उसी तरह से हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है जैसा हिंदुओं में समान पितृसत्तात्मक, अनियमित और पापमय प्रथा को दूर करने के लिए अपनाया गया था । इस बाबत, "सती", "देवदासी" और "बहु-विवाह" की प्रथा के प्रतिनिर्देश किया गया ।

123 (i) हम केवल यह उजागर करते हैं कि "सती" को सामान्यतः विधवा दाह के रूप में वर्णित किया जाता है । इस प्रथा में विधवा से अपने पति की चिता पर स्वयं का आत्मदाह करने (या अनुकल्पतः अपने पति की मृत्यु के ठीक पश्चात् आत्महत्या करने) की अपेक्षा की जाती है । "तलाक-ए-बिद्दत" की तरह सती चिरकाल से व्याप्त रहा है । यह विश्वास किया जाता है कि सती की प्रथा एक शताब्दी बी.सी. से पहले से है । भारतीय उप-महाद्वीप में 10वीं शताब्दी ए.डी. से इसका लोकप्रिय होना बताया जाता है । यह निवेदन किया गया कि ठीक जैसे सती को अस्वीकार्य घोषित किया गया उसी प्रकार "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को विधि की दृष्टि से अस्वीकार्य घोषित किया जाए ।

(ii) "देवदासी" का शाब्दिक अर्थ एक ऐसी लड़की से है जो किसी देवता (मूर्ति) या मंदिर की पूजा और सेवा में समर्पित है । प्रथा को दृष्टि से "देवदासी' का समर्पण और सेवा उसके जीवनपर्यंत चलता रहता है । यह प्रथा आदि काल से चली आ रही है, यद्यपि पूर्व में "देवदासी" को समाज में उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी क्योंकि उस समय शासक/नरेश मंदिरों के संरक्षक होते थे । भारत में ब्रिटिश राज के दौरान मंदिरों को नरेशों का प्रोत्साहन और समर्थन कम होता गया । यह विश्वास किया जाता है कि नरेशों द्वारा निधियों की आपूर्ति रोक दिए जाने के पश्चात् देवदासियों ने अपने जीवनयापन के लिए नाचना और गाना आरंभ कर दिया । उन्होंने वेश्यावृत्ति में आलिप्त होना भी आरंभ कर दिया । तत्पश्चात्, "देवदासी" का जीवन अपकीर्ति (बदनामी) का जीवन हो गया और गरीबी के जीवन में परिवर्तित हो गया । इस प्रथा का एक अन्य पहलू यह है कि परम्पराओं ने "देवदासी" को विवाह करने से प्रतिषिद्ध कर रखा था ।

(iii) जहां तक "बहुविवाह" का संबंध है, हमारा विचार है कि बहुविवाह को भलीभांति समझा जा चुका है और उसकी व्याख्या किए जाने की आवश्यकता नहीं है ।

124. हमारा मत है कि उन प्रथाओं, जिनको याचियों द्वारा अपने दावे के समर्थन में निर्दिष्ट किया गया है, को यह समझे जाने के प्रयोजनार्थ कि वे कैसे समाप्त हो गईं, पुनः परीक्षण किए जाने की आवश्यकता है । अब हम उन विवरणों को अभिलिखित करेंगे कि ये प्रथाएं कैसे समाप्त हो गईं ।

(i) जहां तक "सती" प्रथा का संबंध है, यह प्रथा 1815 से 1818 के मध्य चिंताजनक स्थिति में पहुंच गई थी, यह अनुमान लगाया जाता है कि इस अवधि के दौरान "सती" की घटनाएं दोगुनी हो गई थी । "सती" के

उन्मूलन के लिए क्रिस्चियन मिशनरियों (जैसे कि विलियम कैरे) और हिन्दू ब्राह्मणों (जैसे कि राम मोहन राय) द्वारा एक अभियान चलाया गया था । बंगाल की प्रांतीय सरकार ने "सती" पर विधायन द्वारा वर्ष 1929 में प्रतिबंध लगा दिया था । तत्पश्चात्, इसका अनुसरण करते हुए भारत की अन्य रियासतों द्वारा भी समरूप विधियां अधिनियमित की गईं । इस प्रथा को विधि द्वारा प्रतिबंधित किए जाने के पश्चात् 1988 का भारतीय सती निवारण अधिनियम अधिनियमित किया गया जिसके द्वारा "सती" की प्रथा को किसी भी प्रकार से सहायता प्रदान किए जाने, दुष्प्रेरण किए जाने या महिमामंडित किए जाने को दंडनीय कर दिया गया ।

(ii) जहां तक "देवदासी" की प्रथा का संबंध है, ब्रिटिश राज की समाप्ति के तुरंत पश्चात् स्वतंत्र भारत ने तारीख 9 अक्तूबर, 1947 को मद्रास देवदासी (समर्पण का निवारण) अधिनियम (जिसे तमिलनाडु देवदासी (समर्पण का निवारण) अधिनियम भी कहा जाता है) पारित कर दिया । इस अधिनियमिति द्वारा वेश्यावृत्ति को अवैध घोषित कर दिया गया था । इसी विषय पर अधिनियमित अन्य विधानों में 1934 का बाम्बे देवदासी संरक्षण अधिनियम, 1957, बॉम्बे संरक्षण (विस्तारण) अधिनियम और 1988 का आंध्र प्रदेश देवदासी (समर्पण का प्रतिषेध) अधिनियम सम्मिलित हैं । अतः यह सुस्पष्ट है कि इस प्रथा को विधायन द्वारा समाप्त कर दिया गया था ।

(iii) अंतिम पापात्मक प्रथा, जिसे हमारे संज्ञान में लाया गया, "बहुविवाह" थी । बहुविवाह हिन्दुओं के मध्य अनुज्ञप्त थी । 1860 में भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत "बहुविवाह" को दांडिक अपराध बना दिया गया । हिन्दू विवाह अधिनियम वर्ष 1955 में पारित किया गया था । इस अधिनियम की धारा 5 विधिमान्य हिन्दू विवाह के लिए दशाएं उपबंधित करती हैं । इस अधिनियम में एक यह शर्त अनुध्यात थी कि वैवाहिक गठबंधन के किसी भी पक्ष का विवाह के समय पति या पत्नी जीवित नहीं होना चाहिए । अतः, यह सुस्पष्ट है कि हिन्दुओं के मध्य बहुविवाह की प्रथा को न केवल समाप्त कर दिया गया था बल्कि उसे दांडिक अपराध के रूप में दंडनीय भी बना दिया गया था । यह भी विधायन द्वारा ही संभव हुआ ।

125. उसे तथ्यात्मक और विधिक स्थिति से जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती पैराग्राफ में किया गया है, यह स्पष्ट होता है कि "सती", "देवदासी" और "बहुविवाह' की प्रथाएं घिनौनी थीं और उन्हें पापमय के रूप में वर्णित किया जा सकता है । वे पूर्णतः अवांछनीय थीं और धर्मशास्त्र की दृष्टि में निश्चित रूप से अमान्य थी । तथापि, यह उल्लेख किया जाना महत्वपूर्ण है कि

इनमें से किसी भी प्रथा को विधि के किसी भी न्यायालय के समक्ष चुनौती नहीं दी गई थी । इनमें से प्रत्येक प्रथा, जिनकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया, को विधायी अधिनियमितियों के माध्यम से समाप्त कर दिया गया और अविधिमान्य कर दिया गया । अतः, वे दृष्टांत, जिन्हें याचियों द्वारा उद्धृत किया गया है, हमारे समक्ष उपस्थित मामले, जिसमें न्यायिक मध्यक्षेप के लिए प्रार्थना की गई है, के संदर्भ में अधिक लाभप्रद नहीं हो सकते ।

126. अब हम याचियों की व्यथा अर्थात् "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को विधि की दृष्टि में अस्वीकार्य घोषित किए जाने के प्रयोजनार्थ संक्षिप्त निस्तारण के लिए उनके द्वारा की गई साधारण प्रार्थना का उत्तर देने का प्रयास करेंगे । हमारे समक्ष की गई प्रार्थना के समर्थन में यह निवेदन किया गया है कि यह कल्पना नहीं की जा सकती कि किसी भी धार्मिक प्रथा को, जिसे उसी आस्था के अनुयायियों द्वारा पाप माना गया हो, विधि की दृष्टि में प्रवर्तनीय माना जा सकता है । यह प्राख्यान किया गया कि जो पापमय है, वह धार्मिक नहीं हो सकता । यह दलील भी दी गई कि मात्र इस कारणवश कि एक पापमय प्रथा लंबी अवधि से प्रचलन में रही है, इसे अधिक से अधिक एक प्रथा या रूढ़ि के रूप में समझा जा सकता है न कि किसी बाध्यकारी आस्था के रूप में (इस निवेदन पर इसमें इसके पश्चात् भाग 4 में विचार किया जा रहा है) यह निवेदन किया गया है कि किसी न्यायालय को किसी ऐसी प्रथा या रूढ़ि को, जो पापमय है, विधि की दृष्टि में अस्वीकार्य घोषित करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए । याचियों द्वारा दृढ़तापूर्वक यह दलील भी दी गई कि जो धर्मविरोधी है, वह मुस्लिम "स्वीय विधि" -"शरीयत" का भाग कभी नहीं हो सकता । एक विद्वान् काउंसेल ने सुनवाई के अनुक्रम के दौरान जिस रीति में इस प्रतिपादना को अभिव्यक्त किया है वह रुचिकर थी । इसलिए, हम उस निवेदन को ठीक उसी रीति में अभिलिखित कर सकते हैं जिसमें वह किया गया था । विद्वान् काउंसेल ने न्यायपीठ के अंतःकरण को उद्वेलित करने के लिए निवेदन किया कि "यदि कोई बात ईश्वर की दृष्टि में पापमय या घृणित है तो क्या मनुष्य द्वारा बनाई गई कोई भी विधि उसे विधिमान्य ठहरा सकती है ।" हमें ऐसा प्रतीत होता है कि सुझाव यह था कि "तलाक-ए-बिद्दत" का कोई धार्मिक आधार नहीं है और इसलिए इस प्रथा पर धार्मिक प्रथा के रूप में विचार किए जाने की बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं है । याचियों की ओर से इस न्यायालय की सहायता करने वाला एक गैर पेशेवर व्यक्ति यह अभिकथित करते हुए इस सीमा तक चला गया कि इस तथ्य का भय कि पत्नी को उसकी ससुराल से किसी भी समय निकाला जा सकता है, विवाह की

संपूर्ण अवधि के दौरान वैवाहिक गठबंधन के ऊपर लटकने वाली एक तलवार के समान है । यह निवेदन किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" का भय पत्नी के लिए निरंतर मानसिक उत्पीड़न का मामला है । हमें यह बताया गया कि इस प्रथा के घृणित होने की सीमा क्या है, इसे पूर्वोक्त स्थिति से देखा जा सकता है । यह निवेदन किया गया कि यह प्रथा निश्चित रूप से मिटा दिए जाने योग्य है और वैवाहिक जीवन की सम्पूर्ण अवधि के दौरान असुरक्षा का कारण बनी हुई है । यह बताया गया कि इस प्रथा ने कुरान के पवित्र और आदर्श आदेशों का अतिक्रमण किया है । इस बात पर विशेष बल दिया गया कि वे लोग भी, जो प्रत्यर्थियों की ओर से उपस्थित हुए हैं, इस बात को स्वीकार करते हैं कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को मुस्लिमों के मध्य भी नियमित और पापमय माना गया है । तद्नुसार यह प्राख्यान किया गया कि इस बात को सभी लोगों द्वारा स्वीकार किया गया है कि यह प्रथा धर्मशास्त्र की दृष्टि में दूषित मानी थी । इस बात को भी स्वीकार किया गया कि इस प्रथा का आधुनिक समाज में कोई स्थान नहीं है । अतः, विद्वान् काउंसेल ने यह सुझाव दिया कि तीन तलाक को विधि की दृष्टि से अस्वीकार्य घोषित किया जाना चाहिए और उस अंतिम रूप से समाप्त कर दिया जाना चाहिए ।

127. किसी सामान्य विवाद्यक का निश्चित रूप से समान्य उत्तर ही होता है । परस्पर विरोधी पक्षों के विद्वान् काउंसेलों द्वारा चाहे जो कुछ कथित किया गया है, दो विवाद्यकों के संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता । प्रथम यह कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा उमर के जमाने से, जो लगभग 1400 वर्ष पूर्व है, प्रचलन में रही है । द्वितीय, यह कि प्रत्येक विद्वान् काउंसेल ने इस बात को ध्यान में रखे बिना कि उन्होंने किस पक्ष (याचियों का या प्रत्यर्थियों का) का प्रतिनिधित्व किया है, एक स्वर में स्वीकार किया है कि यद्यपि "तलाक-ए-बिद्दत" धर्मशास्त्र की दृष्टि में दूषित है, फिर भी इसे विधि की दृष्टि में उपयुक्त माना गया है । याचियों का प्रतिनिधित्व करने वाले सभी विद्वान् काउंसेल भी इस बाबत एकमत थे कि "तलाक-ए-बिद्दत" को विधि की दृष्टि में विधिमान्य प्रथा के रूप में स्वीकार किया गया था । इस कारणवश हमारे लिए इस प्रथा को मात्र याचियों के कहने पर केवल इस कारण विधि की दृष्टि से अविधिमान्य अभिनिर्धारित करना संभव नहीं है क्योंकि इसे धर्मशास्त्र में दूषित समझा जाता है ।

III. क्या 'तलाक-ए-बिद्दत' की प्रथा 'हदीसों' द्वारा अनुमोदित/ अननुमोदित ?

128. हमने इस मामले पर विचार-विमर्श आरंभ करते समय यह

निष्कर्ष निकाला था कि **राशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी काउंसिल द्वारा दिए गए निर्णय पर **जियाउद्दीन अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में, गुवाहाटी उच्च न्यायालय की एकल न्यायाधीश द्वारा, **रुकैया खातून** (उपर्युक्त) वाले मामले में, इसी उच्च न्यायालय अर्थात् गुवाहाटी उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा, **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में, दिल्ली उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा और अंततः **नजीर** (उपर्युक्त) वाले मामले में, केरल उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा दिए गए निर्णय को सम्मिलित करते हुए विभिन्न उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों को ध्यान में रखते हुए, पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता है ।

129. यद्यपि, यह अत्यधिक महत्व की बात नहीं है और इसे सुसंगत विचारण कभी भी नहीं माना जा सकता, फिर भी इस बात पर विचार किए जाने की आवश्यकता है कि प्रत्येक न्यायाधीश ; जिसने ऊपरनिर्दिष्ट उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णयों को लिखा, मुस्लिम धर्म का पालन करने वाले थे । वे हनाफी मत से संबंधित सुन्नी मुस्लिम थे । अपने धर्म की बाबत उनकी समझ को इस्लाम धर्म से बाहर के किसी व्यक्ति का मत नहीं माना जा सकता । ऊपर निर्दिष्ट चारों निर्णयों में उच्च न्यायालय ने उनके द्वारा निकाले गए अंतिम निष्कर्षों के समर्थन में और उनकी अनुपूर्ति में हदीसों का अवलंब लिया । निश्चित तौर पर इस बाबत किसी प्रकार के संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि यदि वे हदीसें, जिनका अवलंब उच्च न्यायालय द्वारा निर्णय पारित किए जाने के प्रयोजनार्थ लिया गया, विधिमान्य रूप से उस स्थिति की पुष्टि करती है जिन्हें "तलाक-ए-बिद्दत" के संदर्भ में निर्दिष्ट किया गया है, तो हमारे द्वारा उसके विपरीत कोई मत अभिलिखित किए जाने का कोई कारण नहीं है । यह ऊपर कथित पृष्ठभूमि के कारणवश है कि हम उन हदीसों का परीक्षण करने के लिए अग्रसर हुए जिनका अवलंब परस्पर विरोधी पक्षों की ओर से उपस्थित विद्वान् काउंसेलों द्वारा उनके अपने-अपने दावों के समर्थन में लिया गया ।

130. अनेक विद्वान् काउंसेलों ने, जो याचियों के इस दावे के समर्थन में उपस्थित हुए कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा गैर इस्लामिक है और इस न्यायालय को उसे उसी प्रकार घोषित कर देना चाहिए, स्थिति को सिद्ध करने के प्रयोजनार्थ हमारा ध्यान "हदीसों" के एक समुच्य की ओर आकर्षित किया । याचियों की ओर से किए गए प्राख्यानों का विरोध "हदीसों" के एक अन्य समुच्चय का अवलंब लेकर किया गया । हम उनका

आधार लेते हुए एक ठोस निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास करेंगे कि क्या "तलाक-ए-बिद्दत" हदीसों द्वारा मान्यता प्राप्त और समर्थित था या नहीं ।

131. सर्वप्रथम, हम ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री अमित सिंह चड्डा द्वारा किए गए निवेदनों को निर्दिष्ट करेंगे जिन्होंने उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए चार निर्णयों में "हदीसों" को श्रमसाध्यतापूर्वक निर्दिष्ट किया । (विवरण के लिए भाग 6 "तलाक-ए-बिद्दत" विषय पर न्यायिक उद्घोषणाओं को निर्दिष्ट करें) । जहां तक **जियाउद्दीन अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले का संबंध है, संपूर्ण विचारणाओं को ऊपर पैरा 31 में वर्णित किया गया है । इसी प्रकार से **रुकैया खातून** (उपर्युक्त) वाले मामले के संदर्भ में विचारण को पैरा 32 में अभिलिखित किया गया है । **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिए गए निर्णय पर पैरा 33 में विचार किया गया है और अंततः, **नजीर** (उपर्युक्त) वाले मामले का अर्थ, चुनौती, विचारणा और निष्कर्ष को सम्मिलित करते हुए ऊपर पैरा 34 में निकाला गया है । संक्षिप्तता के कारण उपर्युक्त सभी हदीसों को दूसरी कार अभिलिखित करना आवश्यक नहीं है । अतः, ऊपर निर्दिष्ट पैराग्राफों को याचियों की ओर से अभिव्यक्त प्रथम आधार के रूप में निर्दिष्ट किया जाता है जो उनके इस दावे का आधार है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को हनाफी मत से संबंधित सुन्नी मुस्लिमों को सम्मिलित करते हुए मुस्लिमों के मध्य "स्वीय विधि" के मामले के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । वास्तव में विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह प्राख्यान किया कि उच्च न्यायालयों द्वारा अभिव्यक्त स्थिति को इस न्यायालय द्वारा **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में अनुमोदित कर दिया गया था ।

132. ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री आनंद ग्रोवर ने चारों निर्णयों (गुवाहाटी उच्च न्यायालय के दो, दिल्ली उच्च न्यायालय का एक और केरल उच्च न्यायालय का एक) में अभिव्यक्त स्थिति को दोहराया और उनकी पुनः पुष्टि याचियों के दावों को स्वीकार किए जाने और उन्हें पूर्णतया न्यायोचित ठहराने के लिए अपने निवेदनों पर जोर देने के प्रयोजनार्थ की । यह अत्यधिक दिलचस्प है कि विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने उन हदीसों पर दृढ़तापूर्वक आक्रमण किया जिनका अवलंब ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड द्वारा लिया गया है । उन्होंने उन हदीसों की, जिनका अवलंब प्रत्यर्थियों द्वारा लिया गया है, सत्यता को अस्वीकार किए जाने के प्रयोजनार्थ दलील दी कि अब यह स्थिरीकृत हो चुका है कि विभिन्न "हदीसों" की विश्वसनीयता और/या प्रमाणिकता की विभिन्न श्रेणियां हैं ।

सर दिन्शाव फर्दुंजी मुल्ला (लेक्सिस नेक्सिस, बटरवर्थस वाधवा, नागपुर, 20वां संस्करण) द्वारा लिखित प्रिंसिपल्स ऑफ मोहम्मडन लॉ को निर्दिष्ट करते हुए यह दलील दी गई कि वे "हदीसें", जिनका अवलंब ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड द्वारा लिया गया (जिन्हें पृथक् रूप से निर्दिष्ट किया जाएगा) को बहुत पहले पैगम्बर मुहम्मद के जमाने में ही अमान्य कर दिया गया था । यह स्पष्ट किया गया कि बाद में अभिलिखित की गई "हदीसें" अधिक विश्वसनीय नहीं थीं, उनमें तोड-मरोड़ की संभावना थी जिसके कारण वे अविश्वसनीय हो गई थीं । यह दलील दी गई कि उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए चार निर्णयों में जिन "हदीसों" का अवलंब लिया गया है, वे वास्तव में विश्वसनीय "हदीसें" थीं चूंकि वे ऊपर अभिव्यक्त किसी भी शैथिल्य से ग्रसित नहीं थीं । उपर्युक्त के अतिरिक्त, विद्वान् ज्येष्ठ कांउसेल ने हमारा ध्यान सुनान बयहाकी 7/547 की ओर आकर्षित किया जिसे ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड की ओर से निर्दिष्ट किया गया था जिससे की वे यह दलील दे सकें कि उन्हें पैगम्बर मुहम्मद के जमाने में ही अमान्य कर दिया गया था । उपर्युक्त के विपरीत, यह निवेदन किया गया कि बुखारी की "हदीसें" (जिन्हें दारुस्सलाम, सऊदी अरब द्वारा प्रकाशित किया गया) और जिनका अवलंब ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड द्वारा लिया गया, स्पष्ट रूप से तोड-मरोड़ के प्रकट उदाहरण हैं । इसके अतिरिक्त, यह निवेदन किया गया कि ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड द्वारा जिन "हदीसों" का अवलंब लिया गया, वे अल बुखारी हदीसों में नहीं पाई गईं । अतः, यह निवेदन किया गया कि ऊपर निर्दिष्ट अलग-अलग निर्णयों में जिन "हदीसों" का अवलंब लिया गया, उनके अलावा "हदीसों" का अवलंब लिया जाना असुरक्षित होगा । (विवरण के लिए पैराग्राफ 42 को निर्दिष्ट करें)

133. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने यह प्राख्यान भी किया कि शिया मुस्लिमों का ऐतिहासिक रूप से यह विश्वास है कि पैगम्बर, प्रथम खलीफा अबू बकर और द्वितीय खलीफा उमर के समय के दौरान तीन बार लगातार उद्बोधनों द्वारा "तलाक" की उद्घोषणा को एक उद्घोषणा माना जाता था (इस संबंध में "साहिह मुस्लिम" को निर्दिष्ट किया गया जिसका संकल्ना अल हाफिज जकीउद्दीन अब्दुल अजीम अल मुन्धिरी द्वारा किया गया और प्रकाशन दारुस्सलाम द्वारा किया गया) विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने अल हलाल वल हरम फिल इस्लाम (संस्करण अगस्त, 2009) द्वारा लिखित "द लॉफुल एंड द प्रोहिबिटेड इन इस्लाम" का भी अवलंब लिया । यह दलील दी गई कि हमारे समक्ष प्रस्तुत प्रतिलिपि की उत्पत्ति मिश्र में हुई थी और

आगे इस बात पर जोर दिया कि उसे असली माने जाते और विवाद के संबंध में इसका लागू होना स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि मिश्र में मुख्यतः हनफी मत से संबंधित सुन्नी मुस्लिमों का शासन था । यह निवेदन किया गया कि उपर्युक्त प्रकाशन में तुरंत तीन तलाक की प्रथा को पापमय माना गया है । तत्पश्चात्, मौलाना वहीदुद्दीन खान द्वारा लिखित "वूमेन इन इस्लामिक शरिया" (जिसे गुडवर्ड बुक्स द्वारा प्रकाशित किया गया और 2014 में पुनः मुद्रित किया गया) को निर्दिष्ट किया गया जिसमें इस बात को ध्यान में न रखते हुए की "तलाक" शब्द की उद्घोषणा कितनी बार की गई (यदि एक ही समय और एक ही अवसर पर की गई), इसे फतह अल बारी 9/27 में इमाम अबू दाउद की "हदीस" के अनुसार "तलाक" की एकल उद्घोषणा माना गया । यह निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त हदीस पर दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में न्यायतः विचार किया गया । इसके अलावा, प्रो. (डा.) ए. रहमान द्वारा "मैरिज एंड फॅमिली लाइफ इन इस्लाम" (एडम पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2013 संस्करण) को निर्दिष्ट किया गया जिसमें एक हनाफी मुस्लिम विद्वान् का अवलंब लेते हुए यह मत व्यक्त किया गया कि तीन तलाक कुरान की आयातों के अनुकूल नहीं है । आजमगढ़ के अल्लामाह शिब्लिनु मणि, जिन्होंने 19वीं शताब्दी में शिबली महाविद्यालय की स्थापना की थी, द्वारा लिखित "इमाम अबू हनीफा – लाइफ एंड वर्क" का भी अवलंब लिया गया । एक विख्यात हनाफी मुस्लिम विद्वान् का अवलंब लेते हुए इस बात की पुष्टि की गई कि अबू हनीफा ने स्वयं घोषित किया था कि एक ही समय में तीन तलाक दिया जाना मना है और जो कोई भी ऐसा करेगा, वह पापी होगा (विवरण के लिए पैराग्राफ 42 को निर्दिष्ट करें) "हदीसें" के रूप में उपलब्ध पूर्वोक्त लेख के आधार पर यह निवेदन किया गया कि ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड द्वारा अपने अभिवचनों में अंगीकृत की गई स्थिति बिल्कुल ही अस्वीकार्य है और इसे अस्वीकृत कर दिया जाना चाहिए । साथ ही इस न्यायालय द्वारा ऊपर निर्दिष्ट चारों उच्च न्यायालयों द्वारा निकाले गए निष्कर्षों को संविधान के अनुच्छेद 141 के अधीन प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए "तलाक-ए-बिद्दत" के विषय पर विधिमान्य विनिर्धारण घोषित किया जाना चाहिए ।

134. ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड की ओर से उपस्थित होते हुए श्री कपिल सिब्बल ने याचियों की ओर से किए गए निवेदनों का विरोध किया । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने सर्वप्रथम कुरान की आयातों का अवलंब लिया । कुरान, अल-हश्र 59:71; कुरान अल-अनफाल 8:20;

कुरान, अल-निसा 4:64; कुरान अल-अनफाल 8:13; कुरान अल-एहजाब 33:36; और कुरान, अल-निसा 4:115 (विवरण के लिए उपर्युक्त पैरा 86 को निर्दिष्ट करें) को निर्दिष्ट किया गया । तीन तलाक के विषय में विशेष रूप से और यह प्रदर्शित किए जाने के प्रयोजनार्थ कि वह कुरान की आयातों के अनुकूल नहीं है, न्यायालय का ध्यान कुरान, अल-बकरा 2:229; कुरान, अल बकरा 2:229 और 230; कुरान, अल-बकरा 2:232; और कुरान अल-तलाक 65:1 (विवरण के लिए उपर्युक्त पैराग्राफ 86 को निर्दिष्ट करें) की ओर आकर्षित किया गया । पूर्वोक्त के अतिरिक्त, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने इस न्यायालय का ध्यान "तलाक" के संदर्भ में पैगम्बर मुहम्मद के कथनों की ओर भी आकर्षित किया । इस संबंध में, न्यायालय का ध्यान दराकुतनी, किताब अल-तलाक व अल-खुला व अल-एयला, 5/23, हदीस संख्या ; 3992; दराकुतनी, 5/81; किताब अल-तलाक व अल ख्लाव व अल-एयला, 5/23, हदीस संख्या : 4020; सुनान बयहाकी, 7/547, हदीस संख्या : 14955 ; अल-सुनान अल-कुबरालिल बयहाकी, हदीस संख्या : 14492; और साही अल-बुखारी किताब अल-तलाक, हदीस संख्या 5259 (विवरण के लिए उपर्युक्त पैरा 86 को निर्दिष्ट करें) की ओर आकर्षित किया गया । विद्वान् ज्येष्ठ कउंसेल ने ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड का प्रतिनिधित्व करते हुए "तलाक" के विषय पर "हदीसों" का भी अवलंब लिया और हमारा ध्यान सुनान अबू दाउद, बद कराहिया अल-तलाक, हदीस संख्या 2178; मुसंनाफ इब्न अबी शायबह, बब मन कारा अन यातलिक अल रजल इमराताहू थलाथा फीमकद वहादी व अजाजा धालिका अलायही, हदीस संख्या 18089; (मुसंनाफ इब्न अबी शायबा, किताब अल-तलाक, बब फी अल रजल इमराताहू मिआता अव अलफा, हदीस संख्या: 18098; मुसांनाफ अब्द अल-रज्जाक, किताब अल-तलाक, हदीस संख्या 11340; मुसंनाफ इब्न अबी शायबा, किताब अल-तलाक, हदीस संख्या 18091; मुसंनाफ इब्न अबी शायबा, हदीस संख्या 18087; अल-मुहाध्धब, 4/305; और बुखारी, 3/402 (विवरण के लिए उपर्युक्त पैराग्राफ 87 को निर्दिष्ट करें) की ओर आकर्षित किया ।

135. जैसाकि ऊपर उल्लेख किया गया है, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने कुरान और हदीसों में स्पष्ट की गई स्थिति पर विचारोपरांत हदीसों, जिनका अवलंब उच्च न्यायालयों द्वारा सभी चार निर्णयों में लिया गया है, की यथातथ्यता को नकारने का प्रयास किया । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने इस संबंध में इस न्यायालय के विचारणार्थ निम्नलिखित संकलन को प्रस्तुत किया :—

1. जियाउद्दीन अहमद वाला मामला (उपर्युक्त)

क्रम संख्या	संदर्भ	टिप्पणी
(i)	मौलाना मोहम्मद अली (जिन्हें निर्णय में पैरा संख्या 7, 11, 12 और 13 में निर्दिष्ट किया गया है	वह कादिआनी हैं । मिर्जा गुलाम अहमद (कादिआनी मत के संस्थापक) ने पैगम्बर मोहम्मद के पश्चात् स्वयं को पैगम्बर घोषित कर दिया था और इसी कारणवश सभी मुस्लिम कादिआनी सम्प्रदाय को इस्लामिक समुदाय का भाग नहीं मानते है ।

2. **रुकैया खातून** (उपर्युक्त) वाला मामला

क्रम संख्या	संदर्भ	टिप्पणी
(i)		इस निर्णय की नजीरें जियाउद्दीन अहमद **बनाम** अनवरा बेगम वाले ऊपर उल्लिखित निर्णय की नजीरों के समरूप हैं ।

3. **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाला मामला

क्रम संख्या	संदर्भ	टिप्पणी
(i)	मुल्ला (जिन्हें निर्णय के पृष्ठ 153 पर पाद-टिप्पण में निर्दिष्ट किया गया है)	इस प्रतिपादना का अनुमोदन किया गया है कि तीन तलाक पापमय है, फिर भी अप्रतिसंहरणीय तलाक के रूप में प्रभावी है ।

4. **नजीर** (उपर्युक्त) वाला मामला

क्रम संख्या	संदर्भ	टिप्पणी
(i)	बशीर अहमद मोहियदीन	उन्होंने कुरान पर एक टीका

	(जिन्हें निर्णय के पैरा 1 और 6 में निर्दिष्ट किया गया है)	(कमेंटरी) लिखी जिसका शीर्षक, कुरान : द लिविंग ट्रुथ है, तथापि, इस विनिश्चय में जिस उद्धरण का अवलंब लिया गया है, उसमें तीन तलाक की चर्चा नहीं की गई है ।
(ii)	इब्न कथीर (जिन्हें निर्णय के पैरा 1 और 8 में निर्दिष्ट किया गया है)	उन्होंने कुरान पर एक टीका (कमेंटरी) लिखी जिसका शीर्षक है, तफसीर इब्न कथीर । उनका यह मत है कि एक ही बार में तीन बार ("तलाक" की) उद्‌घोषणा विधिविरुद्ध है । यह निवेदन किया गया कि वे अहल-ए-हदीस/सलाफी संप्रदाय से संबंधित थे जो तीन तलाक को मान्यता प्रदान नहीं करता ।
(iii)	डा. ताहिर महमूद (जिन्हें निर्णय के पैरा 6 में निर्दिष्ट किया गया है)	वे दिल्ली विश्वविद्यालय में विधि के प्रवक्ता थे । उन्होंने एक पुस्तक लिखी है जिसका शीर्षक "भारत और विदेश में मुस्लिम विधि" है और साथ ही उन्होंने अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं । अन्य मुस्लिम विद्वान्‌ों को निर्दिष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि यह एक भ्रांत धारणा है कि तीन बार "तलाक" को तीन क्रमागत माहों में उद्‌घोषित किया जाना है, यह कोई सामान्य नियम नहीं है चूंकि तीनों उद्‌घोषणाएं तब की जानी हैं जब पत्नी की माहवारी न चल रही हो, जिस कारणवश स्पष्टतः लगभग तीन माह अपेक्षित होंगे । यह निवेदन किया गया है कि

		उक्त उद्धरण असुसंगत है, संदर्भ से बाहर का है चूंकि इसके विनिर्दिष्ट रूप से तीन तलाक की विधिमान्यता पर विचार नहीं किया गया है ।
(iv)	शेख युसूफ अल-करदावी (जिन्हें निर्णय के पैरा 8 में निर्दिष्ट किया गया है)	उन्होंने तीन तलाक को ईश्वर द्वारा बनाई गई विधि के विरुद्ध माना है । यह निवेदन किया गया कि वह अहल-ए-हदीस संप्रदाय के अनुयायी थे ।
(v)	महमूद रिदा मुराद (जिन्हें निर्णय के पैरा 8 में निर्दिष्ट किया गया है)	उन्होंने एक पुस्तक लिखी है जिसका शीर्षक है, इस्लामिक डाइजेस्ट आफ अकीदह एंड फिकह । उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि तीन तलाक पैगम्बर द्वारा दी गई शिक्षा के अनुरूप में नहीं है । वह अहल-ए-हदीस संप्रदाय के अनुयायी हैं ।
(vi)	सईद अब्दुल आला मौदूदी (जिन्हें निर्णय के पैरा 11 में निर्दिष्ट किया गया है)	वह हनाफी संप्रदाय के विद्वान् हैं । यद्यपि निर्णय में उद्धृत लेखांश यह उपदर्शित करते हैं कि उनका मत यह था कि तीनों उद्‌घोषणाओं को आशय के आधार पर एक उद्‌घोषणा माना जा सकता है । तथापि, उन्होंने बाद में अपने मत में परिवर्तन किया और यह मत व्यक्त किया कि तीन तलाक अंतिम और अप्रतिसंहरणीय है ।
(vii)	डा. अबू अमीनाह बिलाल फिलिप्स (जिन्हें निर्णय के पैरा में निर्दिष्ट किया गया है)	उन्होंने "एवोल्यूशन ऑफ फिकह" नामक किताब लिखी है । उन्होंने कथित किया है कि खलीफा

		उमर ने "तलाक" के दुरुपयोग को हतोत्साहित करने के लिए तीन तलाक को मान्यता प्रदान की थी । वे अहल-ए-हदीस संप्रदाय के अनुयायी हैं ।
(viii)	मुहम्मद हाशिम कमाली (जिन्हें निर्णय के पैरा 23 में निर्दिष्ट किया गया है)	उनका मत यह था कि खलीफा उमर ने "तलाक" के दुरुपयोग को हतोत्साहित करने के लिए तीन तलाक को मान्यता प्रदान की थी । वे विधि के प्रवक्ता थे ।

आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड की ओर से यह निवेदन किया गया कि उन लोगों के मत, जो सुन्नी नहीं हैं, और उन लोगों के मत, जो हनाफी संप्रदाय से संबंधित नहीं हैं, का अवलंब विधिमान्यतः नहीं लिया जा सकता । यह निवेदन किया गया कि मौलाना मोहम्मद अली का अवलंब लेना अनुचित है चूंकि वे कादिआनी है और मुस्लिम कादिआनी संप्रदाय को इस्लामिक समुदाय का भाग नहीं मानते हैं । इसी प्रकार, यह निवेदन किया गया कि बशीर अहमद मोहियदीन के प्रति निर्देश करना अनुचित है चूंकि उनके द्वारा लिखी गई टीका (कमेंटरी) "तलाक-ए-बिद्दत" की संकल्पना पर विचार नहीं करती । तफसीर इब्न कथीर के प्रति किया गया निर्देश अनुचित माना गया चूंकि उनके संबंध अहल-ए-हदीस/सलाफी संप्रदाय से था, जो तीन तलाक को स्वीकार नहीं करता । यह निवेदन किया गया कि डा. ताहिर महमूद दिल्ली विश्वविद्यालय के विधि के प्रवक्ता थे और उनके विचारों को उनके व्यक्तिगत विचार माना जाना चाहिए और उनका उन्नयन हदीसों की श्रेणी तक नहीं किया जाना चाहिए । यह दलील दी गई कि शेख युसूफ अल-कारादावी अहल-ए-हदीस संप्रदाय के अनुयायी थे और इसलिए उनके मतों पर विचार नहीं किया जा सकता था । इसी प्रकार, यह निवेदन किया गया कि महमुद रिदा मुराद अहल-ए-हदीस/सलाफी संप्रदाय के अनुयायी थे । यह दलील दी गई कि सय्यद अब्दुल अल मौदूदी के संदर्भ का अवलंब अनुचित रूप से लिया गया है क्योंकि उनके द्वारा व्यक्त किए गए विचार यह थे कि तलाक की तीन उद्घोषणाओं को पति के "आशय" पर निर्भर करते हुए माना जा सकता है । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार यह स्थिति उस प्रतिपादना का समर्थन नहीं करती जिसे याचियों की ओर से प्रस्तुत किया गया है क्योंकि यदि "आशय" "तीन"

उद्घोषणाएं करने का था, तो इससे विधिमान्य "तलाक" गठित हो जाएगा । अबू अमीनाह बिलाल फिलिप्स के संदर्भ में यह निवेदन किया गया कि वे भी अहल-ए-हदीस/सलाफी संप्रदाय के अनुयायी थे । अंततः, मोहम्मद हाशिम कमाली के संदर्भ में यह दलील दी गई कि वह विधि के मात्र प्रवक्ता थे और उनके द्वारा व्यक्त किए गए विचार उनके व्यक्तिगत विचार माने जाने चाहिए । तद्नुसार, यह प्राख्यान किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के संदर्भ में हनाफी संप्रदाय के प्रस्तावकों द्वारा अन्य सुन्नी मुस्लिम संप्रदायों के मतों को चालाकी से और वह भी शिया मुस्लिमों के विश्वास सहित स्थान देना उस संप्रदाय की न्यायसंगत समझ और प्रश्नगत प्रथा का स्पष्ट रूप से अतिक्रमण था ।

136. यहां उपर्युक्त उल्लेख के अनुसार ए. आई. एम. पी. एल. बी. की ओर से दी गई दलीलों के आधार पर इस बात पर बल देने की ईप्सा की गई कि धार्मिक पंथ को लागू मानकों से संबंधित ऐसे जटिल मुद्दों का अवधारण स्वयं समुदाय द्वारा ही किया जाए । विद्वान् काउंसेल ने इस न्यायालय को वर्तमान अवधारण के जंजाल में पड़ने के प्रति सचेत किया क्योंकि इस न्यायालय के पास इस मुद्दे पर विचार करने की विशेषज्ञता नहीं है ।

137. गंभीर विचार करने और पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों द्वारा अवलंबित परस्पर प्रतिकूल "हदीथ" की परीक्षा करने पर हमारे पास ए. आई. एम. पी. एल. बी. की ओर से उपस्थित विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की दलील को स्वीकार करने और उनके काउंसेल की (अवलंबित "हदीथ" के आधार पर) यह अवधारण करने कि मुस्लिम स्वीय विधि – शरीयत के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" से तीन-तलाक गठित होता है या नहीं, के जंजाल में न फंसने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं है । वस्तुतः, याचियों की ओर से उपस्थित श्री सलमान खुर्शीद ने भी ("तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को खंडित करने की ईप्सा करते हुए) इंगित किया था कि मुस्लिम "स्वीय विधि"- "शरीयत" की बारीकियों का निर्वचन करने की न्यायालय की कोई भूमिका नहीं है । यह इंगित किया गया कि मुस्लिम "स्वीय विधि" के अधीन पक्षकारों के बीच परस्पर विरोध के समाधान के लिए धार्मिक प्रधान - इमाम को कुरान और "हदीथ" में व्यक्त उपदेशों को स्पष्ट करने के लिए बुलाया जाता है । यह निवेदन किया गया कि अकेले इमाम को ही मुस्लिमों के बीच धार्मिक विरोध का समाधान करने का प्राधिकार है । यह निवेदन किया गया कि इमाम ऐसा न केवल अपने निजी विचारों के आधार पर

बल्कि कुरान और हदीथ की आयतों का अवलंब लेकर और उपलब्ध अन्य विधिशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर करेगा और तत्पश्चात् सही निर्वचन करेगा । श्री सलमान खुर्शीद, विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता ने इस न्यायालय को भी सतर्क किया कि आस्था की सही जटिलताओं का अवधारण करने की उसकी भूमिका नहीं है ।

138. ए. आई. एम. पी. एल. बी. का प्रतिनिधित्व कर रहे विद्वान् काउंसेल की ओर से दिए गए उपर्युक्त सभी निवेदन महत्वहीन हो जाएंगे यदि **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में, इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को "तलाक-ए-बिद्दत" की बाबत विधिक स्थिति घोषित करते हुए स्वीकार किया जाए । उपर्युक्त निर्णय की अंतर्वस्तु पर गंभीर रूप से विचार करते हुए, यह अभिलिखित किए जाने की आवश्यकता है कि इस न्यायालय ने **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता के मुद्दे पर चर्चा नहीं की । प्रतिपादना के अनुकूल या विरुद्ध किसी निवेदन पर ध्यान नहीं दिया गया । अतः, विषय पर अभिलिखित मताभिव्यक्तियों को मामले में विनिश्चयाधार नहीं माना जा सकता । वस्तुतः, "तलाक-ए-बिद्दत" की विधिमान्यता के प्रश्न पर इस न्यायालय के समक्ष कभी चर्चा नहीं की गई । यह पहला अवसर है कि परस्पर प्रतिकूल निवेदनों के पश्चात् विषय पर विचार किया जा रहा है । फिर भी उपर्युक्त निर्णय में न्यायालय को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के अधीन भरणपोषण से संबंधित विवाद का न्याय-निर्णयन करना था । पति ने भरणपोषण के दायित्व से बचने के लिए यह अभिवचन किया कि उसने अपनी पत्नी को तलाक दे दिया । इस न्यायालय ने उपर्युक्त निर्णय में तथ्यात्मक मुद्दे का विनिश्चय इस प्रकार किया :–

> "15. प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा अपने लिखित कथन में लिए गए अभिवाक् पर फिर से ध्यान दिया जाए । प्रत्यर्थी सं. 2 ने अस्पष्टतः अपीलार्थी पत्नी के विरुद्ध कतिपय सामान्य अभियोग लगाए और यह कहा कि विवाह होने के बाद से ही वह अपनी पत्नी को बहुत तेज, चालाक और शरारतपूर्ण पाया । कुटुम्ब के प्रति अपमान करने का पत्नी पर अभियोग लगाते हुए प्रत्यर्थी सं. 2 ने पैरा 12 द्वारा आगे यह कहा (अंग्रेजी में अनुवाद) - 'उत्तर देने वाले प्रत्यर्थी ने याची पत्नी की अशोभनीय ऐसी सभी क्रियाकलापों से परेशान होकर अपनी पत्नी को 11 जुलाई, 1987 को तलाक दे दिया ।' अभिकथित तलाक की विशिष्टियों का न तो अभिकथन किया गया है न ही ऐसी

परिस्थितियां जिनके अधीन और ऐसे व्यक्ति यदि कोई हों जिनकी उपस्थिति में तलाक की घोषणा की गई, का उल्लेख किया गया । ऐसी खामी विचारण के दौरान भी बनी रही और प्रत्यर्थी सं. 2 ने स्वयं की परीक्षा के सिवाय तारीख 11 जुलाई, 1987 को उसके द्वारा दिए गए उक्त तलाक के सबूत में कोई साक्ष्य पेश नहीं किया । तलाक के औचित्य में कोई कारण नहीं बताया गया है और तलाक के पहले सुलह करने के प्रयास का कोई अभिवाक् या सबूत नहीं दिया गया ।

16. हमारी यह भी राय है कि प्रभावी होने वाले तलाक को ही घोषित किया जाए । "घोषणा" पद का अभिप्राय घोषित करना, औपचारिक रूप से उपचारित करना, अलंकारिक रूप से कहना, प्रकट करना, उच्चारण करना, व्यक्त करना है (चैम्बर 20वीं शताब्दी डिक्शनरी, नया संस्करण, पृष्ठ 1030 देखें) । तारीख 11 जुलाई, 1987 को तलाक किए जाने का कोई सबूत नहीं है । उच्च न्यायालय ने किसे तलाक अभिनिर्धारित किया है, यह लिखित कथन में किया गया अभिवाक् और तारीख 5 दिसंबर, 1999 को लिखित कथन की प्रति परिदत्त करते हुए पत्नी को इसकी संसूचना है । हमारा यह स्पष्ट विचार है कि पहले किसी समय उद्घोषित किए गए तलाक का लिखित कथन में किए गए मात्र अभिवाक् को पत्नी को लिखित कथन की प्रति के परिदान की तारीख को तलाक के प्रभावी होने के रूप में स्वयं नहीं माना जा सकता । प्रत्यर्थी सं. 2 को साक्ष्य पेश करना चाहिए और तारीख 11 जुलाई, 1987 को तलाक की उद्घोषणा साबित करना चाहिए और यदि वह लिखित कथन में किए गए अभिवाक् को साबित करने में असफल रहता है तो अभिवाक् को असफल समझा जाना चाहिए । हम, मुल्ला और डा. ताहिर महमूद द्वारा क्रमशः अपने समीक्षात्मक पुस्तकों में निर्दिष्ट किए गए विनिश्चित मामलों में उद्घोषित मत से सहमत नहीं हैं जिसमें लिखित कथन में यद्यपि असंपोषित किए गए पूर्व तलाक के मात्र अभिवाक् को लिखित कथन के फाइल करने की तारीख से वैवाहिक संबंध समाप्त करने के लिए तलाक के सबूत के रूप में स्वीकार किया गया है । लिखित कथन में किए गए पूर्व तलाक के अभिवाक् को न्यायालय में लिखित कथन फाइल करने की तारीख के पश्चात् पत्नी को उसकी प्रति के परिदान से पति द्वारा तलाक की घोषणा के रूप में कतई नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार, प्रत्यर्थी सं. 2 के स्वतः कथन वाले शपथपत्र तारीख 21 अगस्त, 1988 जो परस्पर पक्षकार न

होते हुए किसी पूर्व न्यायिक कार्यवाही में फाइल की गई थी, को साक्ष्य में सुसंगत और किसी मूल्य का होने के रूप में नहीं पढ़ा जा सकता ।

17. पूर्वगामी कारणों से, अपील मंजूर की जाती है । न तो पक्षकारों के बीच हुआ विवाह तारीख 5 दिसंबर, 1990 को विघटित होता है और न ही उस तारीख को प्रत्यर्थी सं. 2 का भरणपोषण अदा करने का दायित्व समाप्त होता है । प्रत्यर्थी सं. 2 विधि के अनुसार दायित्व समाप्त होने तक भरणपोषण के संदाय का दायी बना रहेगा । इस अपील की लागत का खर्च प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा उठाया जाएगा ।"

"तलाक-ए-बिद्दत"- तीन तलाक विधि की दृष्टि से विधिमान्य नहीं था, इस कारण नहीं बल्कि इस कारण कि पति तलाक के तथ्य को साबित करने में समर्थ नहीं था, भरणपोषण के भुगतान का दायित्व स्वीकार किया गया । अतः **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले के बल पर विद्वान् काउंसेल द्वारा किए गए निवेदन को स्वीकार किया जाना संभव नहीं है ।

139. मुद्दे की समग्रता पर गंभीर विचार करते हुए, हम श्री कपिल सिब्बल और श्री सलमान खुर्शीद, ज्येष्ठ अधिवक्ता की सलाह स्वीकार करते हैं । याचियों के विद्वान् काउंसेल द्वारा अवलंबित चार निर्णयों में व्यक्त राय और परस्पर विरोधी पक्षकारों द्वारा अवलंबित कुरान की आयतों और हदीथ के बावजूद प्रस्तुत मुद्दे पर अवधारण करने से विरत रहना उचित होगा । हम वस्तुतः स्वयं इस कार्य के लिए समर्थ नहीं पाते है । हमने यह अनुक्रम, इसलिए चुना क्योंकि हमारा यह समाधान है कि संविवाद का अंतिम रूप से न्यायनिर्णयन, विचार के इस भाग में की गई प्रतिपादना के उत्तर के अभाव में भी किया जा सकता है ।

IV. क्या "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा मुस्लिमों के लिए आस्था का विषय है ? यदि हां, तो क्या यह उनकी "स्वीय विधि" का घटक है ?

140. हमारे विचार के दो पूर्ववर्ती भागों में, हमने "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को अननुमोदित और अमान्य नहीं ठहराया है । तथापि, हमारे लिए याचियों के अनुमोदन को स्वीकार करना संभव हो सकेगा यदि यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि "तलाक-ए-बिद्दत" हनफी विचारधारा के सुन्नी मुस्लिमों की "स्वीय विधि" का घटक है । और हो सकता है, यह मात्र रूढ़ि या प्रथा हो । अब हम उपर्युक्त उल्लिखित वाद बिंदु का उत्तर निकालने का प्रयास करते हैं ।

141. ऐतिहासिक तथ्य के रूप में, "तलाक-ए-बिद्दत" को उमायद शासकों के निर्देश पर 1400 वर्ष से अधिक पूर्व मुस्लिम परंपरा में प्रचलित माना जाता है । निश्चित रूप से इसका पता खलिफा उमर - पैगंबर मुहम्मद के वरिष्ठ साथी की अवधि लगाया जा सकता है । खलिफा उमर 23 अगस्त, 634 को दूसरे खलिफा के रूप में अबू बकर (632-634) के उत्तरवर्ती थे । यदि यह स्थिति सही है तो "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को कुछ 1400 वर्ष पूर्व का उद्भव होना निश्चित रूप से कहा जा सकता है । तथ्यतः, श्री कपिल सिब्बल ने बार-बार उपर्युक्त तथ्यात्मक पहलू पर बल दिया और याची के वाद का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी विद्वान् काउंसेल (और प्राइवेट व्यक्ति) द्वारा इसका खंडन नहीं किया गया ।

142. यह तथ्य कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा काफी व्याप्त है, को विवादित नहीं किया जा सकता । वर्तमान निर्णय के भाग 5 में - विधान द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा का उत्सादन संपूर्ण विश्व के इस्लामिक और गैर-इस्लामिक राज्यों में किया गया, हमने अरब राज्यों - अलगारिया, मिश्र, इराक, जार्डन, कुवैत, लेबनान, लिबिया, मोरक्को, सूडान, सीरिया, ट्यूनिशिया, यूनाइटेड अरब अमीरात, यमन के विधानों पर विचार किया ; हमने दक्षिण-पूर्व एशियाई राज्यों - इंडोनेशिया, मलेशिया, फिलिपिन्स के विधानों पर भी विचार किया ; हमने उप-महाद्वीपीय राज्यों - पाकिस्तान और बंग्लादेश के विधानों पर अतिरिक्त रूप से विचार किया । इन सभी देशों ने एक या अन्य प्ररूप में "तलाक-ए-बिद्दत" के संदर्भ में विधान बनाए हैं । इन सभी विधानों से निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "तलाक-ए-बिद्दत" इन राज्यों में मुस्लिमों के बीच व्याप्त प्रथा है । यदि यह ऐसा नहीं होता तो विषय पर विधान की अपेक्षा न होती । अतः, यह स्पष्ट है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा कतिपय क्षेत्रों तक सीमित नहीं है बल्कि काफी व्यापक है ।

143. हमने अपने परस्पर दलीलों को सिद्ध करने के लिए परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों का प्रतिनिधित्व करने वाले विद्वान् काउंसेल द्वारा दिए गए निवेदनों पर उनके द्वारा अवलंबित हदीथों को भी उद्धृत किया । सुसंगत हदीथों में इस्लामिक न्यायविदों के बीच चर्चा और विचार-विमर्श से यह प्रकट होता है कि तीन-तलाक की प्रथा निश्चित ही मुस्लिमों में प्रसिद्ध है चाहे यह अनियमित या पापपूर्ण माना जाता हो, यह बिल्कुल अन्य विषय है । सभी सहमत हैं कि चाहे अनुचित या अपवित्र माना जाता हो, फिर भी यह विधिसम्मत स्वीकार किया जाता है । मुस्लिम समुदाय में यह चर्चा और

विचार-विमर्श - सुनवाई के दौरान विवाद करने वालों द्वारा जैसा प्रस्तुत किया गया है और जैसा अनुमानतः विद्वान् व्यक्तियों के लेखों द्वारा उजागर किया गया है जो मीडिया में आया (कम से कम सुनवाई के दौरान), से इसके अस्तित्व के बारे में विचार प्रकट होता है । इन लेखों में केवल चर्चा इस्लामिक मूल्यों के साथ "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा से सुसंगति या अन्यथा के बारे में थी । यह नहीं कि प्रथा व्याप्त नहीं है । चालू चर्चा और वार्तालाप से और कुछ नहीं बल्कि यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि प्रथा अब भी व्यापकतः अभिभावी और प्रचलित है ।

144. यह तथ्य कि भारत में लगभग 90 प्रतिशत सुन्नी हनफी विचारधारा के हैं और वे तलाक के विधिमान्य रूप में "तलाक-ए-बिद्दत" को स्वीकार कर रहे हैं, भी विवाद का विषय नहीं है । यह तथ्य कि मुद्दे को उच्चतम न्यायालय की संवैधानिक न्यायपीठ के समक्ष जोरदार रूप से पक्षपोषित किया जा रहा है । यह तथ्य कि काफी पहले वर्ष 1992 में **राशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल के निर्णय ने इस तथ्य के आधार पर वैवाहिक बंधन के पृथक्करण को अभिनिर्धारित किया कि पति द्वारा तीन बार कहा गया तलाक न केवल इसकी वास्तविकता को प्रदर्शित करता है बल्कि पक्षकारों के सिविल अधिकारों के अवधारण के लिए इसका प्रवर्तन भी करती है । अतः, यह स्पष्ट है कि हनफी विचारधारा के सुन्नी मुस्लिमों के बीच "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा अनंतकाल से काफी अधिक व्याप्त है । यह मुस्लिम जनसंख्या वाले देशों के मुस्लिमों के बीच काफी व्याप्त है । यद्यपि, यह ऐसे धार्मिक समुदाय के भीतर जिसमें प्रथा व्याप्त है, अधार्मिक माना जाता है फिर भी समुदाय इसे विधि की दृष्टि से विधिमान्य मानता है । इस प्रथा का अनुसरण करने वाले लोग अपने सिविल अधिकारों को उस पर सुलझाने की अनुज्ञा को स्वीकार करते हैं । "तलाक-ए-बिद्दत" भारत में मुस्लिमों के (जो हनफी विचार धारा के हैं) 90 प्रतिशत द्वारा अपनाई जाती है । भारत में मुस्लिम जनसंख्या 13 प्रतिशत से अधिक (लगभग 16 करोड़) है जिसमें से 4-5 करोड़ शिया हैं और शेष सुन्नी (लगभग 10 लाख अहमदियों के अलावा) - अधिकांशतः हनफी विचारधारा के हैं । अतः, यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होगा कि भारत में मुस्लिमों की काफी जनसंख्या अपने धार्मिक विश्वास - अपनी आस्था के रूप में - "तलाक-ए-बिद्दत" के माध्यम से अपने विवाह बंधन के पृथक्करण का अनुक्रम अपनाते हैं ।

145. हमारा यह समाधान हो गया है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा

हनफी विचारधारा के सुन्नी लोगों में - प्रश्नगत धार्मिक समुदाय का अभिन्न भाग मानी जाती है । हमारे समक्ष अन्यथा अभिलिखित करने का तनिक भी कारण नहीं है । हमारा यह मत है कि 'तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा ऐसे धार्मिक समुदाय जो इसका आचरण करती है, का अनुमोदन और मंजूरी प्राप्त है और इस प्रकार, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि यह प्रथा उनकी स्वीय विधि का भाग है ।

V. क्या मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 उक्त विधान द्वारा विनियमित विषयों को कानूनी प्रास्थिति प्रदान करती है ?

146. "स्वीय विधि" को संवैधानिक संरक्षण है । यह संरक्षण संविधान के अनुच्छेद 25 के माध्यम से "स्वीय विधि" तक विस्तारित है । यह याद रखने की आवश्यकता है कि "स्वीय विधि" की महत्ता मूल अधिकार जैसी है । "स्वीय विधि" की इस महत्ता तक उत्थापन तब प्राप्त हुआ जब संविधान प्रवृत्त हुआ । यह संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 25 के शामिल किए जाने के कारण था । दूसरे शब्दों में, प्रत्येक धार्मिक समुदाय की "स्वीय विधि" अनुच्छेद 25 द्वारा और इसके अधीन उपबंधित के सिवाय, आक्रमण और भंग से संरक्षित है ।

147. आगे, यह प्रदर्शित करते हुए, इस दलील पर विचार किया गया कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के अधिनियमन के पश्चात् शरीयत अधिनियम के अधीन आने वाले प्रश्न और विषय "स्वीय विधि" नहीं रह गए और "कानूनी विधि" में परिवर्तित हो गए । इस संदर्भ में, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल सुश्री इंदिरा जय सिंह और कुछ अन्य लोगों द्वारा अनुरोध किया गया कि शरीयत अधिनियम के अधिनियमन के पश्चात् कम से कम ऐसे प्रश्न/विषय जिसके संदर्भ में विधान अधिनियमित किए गए थे, मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत से "स्वीय विधि" का टैग हट गया । जहां तक वर्तमान संविवाद का संबंध है, इतना ही ध्यान देना पर्याप्त है कि अधिनियमिति में शरीयत अधिनियम के अधीन आने वाले प्रश्नों/विषयों के साथ-साथ "..... तलाक सहित विवाह का विघटन...." सम्मिलित किया गया है और सुस्पष्टतः, जब पक्षकार मुस्लिम हैं तो तलाक के अंतर्गत "तलाक-ए-बिद्दत" सम्मिलित हैं । इंगित दलील का यह अर्थ निकाला जाना चाहिए कि शरीयत अधिनियम के अधिनियमन के पश्चात् मुस्लिमों के बीच तलाक (और "तलाक-ए-बिद्दत") सहित विवाह का विघटन राज्य विधान के माध्यम से यथा विनियमित माना जाए ।

148. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल का यह निवेदन था कि भारत के

संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् राज्य की अधिनियमिति का भाग होने के कारण संविधान के प्रारंभ के ठीक पहले प्रवृत्त सभी विधियां इसके पश्चात् भी प्रवृत्त बनी रहेंगी । वर्तमान प्राख्यान के लिए संविधान के अनुच्छेद 372 का अवलंब लिया गया है । इस अवसर पर हम केवल यह कहेंगे कि यदि विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल द्वारा उठाई गई पहली प्रतिपादना सही है (कि तलाक सहित मुस्लिमों के बीच विवाह के विघटन का कानूनी रूप से विनियमन 1937 अधिनियम के पश्चात् किया गया), तो किए गए निवेदन के बाद वाले भाग को निःसंदेह परिशुद्धतः स्वीकार किया जाना चाहिए ।

149. हमने पहले ही शरीयत अधिनियम के सुसंगत उपबंधों (विस्तार के लिए मुस्लिम स्वीय विधि पर भाग 4 भारत का विधान निर्दिष्ट करें) का उल्लेख किया है । इसकी धारा 2 (उपर्युक्त पैरा 23 में उद्धृत) के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि निर्वसीयती उत्तराधिकार, संविदा या दान या "स्वीय विधि" के किसी अन्य उपबंध के अधीन विरासत से प्राप्त या अभिप्राप्त व्यक्तिगत संपत्ति सहित स्त्रियों की विशेष संपत्ति, विवाह, तलाक, ईला, जिहर, खुला और मुबारक सहित विवाह-विघटन, भरणपोषण, दहेज, संरक्षकता, दान, न्यास और न्यास संपत्ति और वक्फ के प्रश्न/विषय पर जहां पक्षकार मुस्लिम है, विनिश्चय का निर्धारण मुस्लिम "स्वीय विधि" - शरीयत के आधार पर किया जाएगा । वर्तमान दलील के समर्थन में, याचियों का प्रतिनिधित्व कर रहे विद्वान् काउंसेल का यह निवेदन था कि तलाक ("तलाक-ए-बिद्दत") के प्रतिनिर्देश के साथ-साथ "विनिश्चय के न्यायादेश" का विनियमन, शरीयत अधिनियम के अनुसार किया जाना है तो (उपर्युक्त अधिनियमिति के पूर्व) कैसे "स्वीय विधि" कानूनी विधि में परिवर्तित हो गई । याचियों के विद्वान् काउंसेल के अनुसार यह काफी महत्वपूर्ण है कि शरीयत अधिनियम के पूर्व जिसे "स्वीय विधि" माना जाता था वह राज्य का अधिनियम हो गया । यह निवेदन किया गया कि राज्य अधिनियम होने के कारण इसे संविधान के भाग 3 मूल अधिकार की अपेक्षाओं का पालन करना चाहिए । यह इंगित किया गया कि यह अनुच्छेद 13(1) का अभिव्यक्त अधिदेश है जिसमें यह उपबंध है कि संविधान के प्रारंभ से ठीक पूर्व प्रवृत्त विधियां जहां तक वे संविधान के भाग 3 के उपबंधों से असंगत हैं ऐसी असंगतता तक शून्य मानी जाएंगी ।

150. पक्षपोषित किए जा रहे मुद्दे के समर्थन में यह निवेदन किया गया कि कोई "विनिश्चय का नियम" संविधान के भाग 3 का अतिक्रमणकारी नहीं हो सकता और शरीयत अधिनियम के अधीन आने

वाले प्रश्नों/विषयों पर "विनिश्चय का नियम" राज्य अवधारण के विषय समझे जाएंगे । तथापि, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने निष्पक्ष रूप से यह स्वीकार किया कि "स्वीय विधि" जो कुटुम्ब और प्राइवेट व्यक्ति (जहां राज्य की कोई भूमिका नहीं थी) के बीच विवादों के बारे में है, इस आधार पर चुनौती का विषय नहीं हो सकता कि वे संविधान के भाग 3 के मूल अधिकार का अतिक्रमण करते हैं । विद्वान् काउंसेल द्वारा दिया गया सामान्य तर्क यह था कि "विनिश्चय का नियम" में संपरिवर्तित हो गए मुस्लिमों के बीच भिन्न-भिन्न स्वीय विधियों से संबंधित सभी प्रश्नों को पक्षकारों के बीच प्राइवेट मामलों के रूप में अब नहीं समझा जा सकता और न ही वे "स्वीय विधि" के विषय माने जाएंगे । इसके अलावा उपर्युक्त स्थिति को पक्षपोषित करने के लिए अपनाया गया तर्क यह था कि यदि यह पूर्व स्थिति को परिवर्तित नहीं करता तो विधान (शरीयत अधिनियम) को लाने का क्या प्रयोजन था ।

151. इस उपधारणा पर कि "स्वीय विधि" का परिवर्तन "कानूनी विधि" में हो गया, याचियों के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने संविधान के अनुच्छेद 14, 15/21 के निष्कर्ष पर "तलाक-ए-बिद्दत" की संवैधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी थी ।

152. ए. आई. एम. पी. एल. बी. की ओर से उपस्थित विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री कपिल सिब्बल ने हमारा ध्यान विधान सभा की चर्चा, तदुपरि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 अधिनियमित किया गया (विस्तार के लिए पैरा 94 देखें) की ओर आकृष्ट किया । पूर्वोक्त चर्चा विशेषकर अब्दुल क्यूम (उत्तरी-पश्चिमी फ्रंटिय प्रांत का प्रतिनिधित्व कर रहे) के कथनों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए, यह दलील दी गई कि निर्देशाधीन विधान का अधिनियमन मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को कानूनी हैसियत देने के उद्देश्य से नहीं किया गया था । यह प्राख्यान किया गया कि उद्देश्य मात्र प्रथा और रूढ़ि के प्रभाव को नकारना था । यह इंगित किया गया कि यद्यपि मुस्लिमों को मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के अधीन विनियमित किया जाना था फिर भी प्रतिकूलतः प्रथाओं और रूढ़ियों को अभिभावी प्रभाव प्रदान किए गए । इस विस्तार तक कि स्थानीय जनजातियों (स्थानीय ग्रामों के भी) की भी प्रथाओं और रूढ़ियों को न्यायिक अवधारण के अनुक्रम में जहां पक्षकार मुस्लिम थे, मुस्लिम स्वीय विधि पर अभिभावी स्थिति प्रदान की जा रही थी । अतः, यह प्राख्यान किया गया कि यह मानना गलत होगा कि शरीयत अधिनियम का अधिनियमन

करते समय विधायकों का लक्ष्य और उद्देश्य मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को कानूनी हैसियत प्रदान करना था । दूसरे शब्दों में, विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की यह दलील थी कि शरीयत अधिनियम को प्रथागत व्यवहारों और रूढ़ियों को नकारने के लिए ही समझा जाए जो विद्यमान मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के प्रतिकूल थे ।

153. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री वी. गिरि ने ए. आई. एम. पी. एल. बी. की ओर से मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 का अवलंब लेते हुए उक्त दलील का समर्थन किया । यह प्राख्यान किया गया कि धारा 2 एक सर्वोपरि खंड है । यह इंगित किया गया कि उपर्युक्त सर्वोपरि खंड मात्र प्रथा और रूढ़ियों से संबंधित था । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल के अनुसार, धारा 2 के परिशीलन से किसी तरह का कोई संदेह नहीं रह जाता कि शरीयत अधिनियम की धारा 2 में निर्दिष्ट प्रथा और रूढ़ि केवल ऐसी प्रथाएं और रूढ़ियां थीं जो मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के प्रतिकूल थी । तद्नुसार, यह निवेदन किया गया कि शरीयत अधिनियम की धारा 2 का उद्देश्य ऐसी स्थितियों में जहां प्रथाएं और रूढ़ियां प्रतिकूल थीं, मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को "विनिश्चय का नियम" घोषित करना था ।

154. प्रत्यर्थियों के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने हमसे दूसरे अन्य कारण से उनके दृष्टिकोण को स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त की । यह निवेदन किया गया कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 यह विनिश्चित नहीं करता कि क्या मुस्लिम "स्वीय विधि" शरीयत, है और क्या नहीं ? अतः यह इंगित किया गया कि यह विचार करना मिथ्या होगा कि शरीयत अधिनियम का अधिनियमन मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत पर किसी रीति से मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के क्षेत्र में किया गया था । यह निवेदन किया गया कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत वैसे ही बना रहा जैसे वह था । यह इंगित किया गया कि शरीयत अधिनियम द्वारा विनियमित प्रश्न/विषय पर व्यक्त आस्था की वस्तुओं को अधिनियम में विचार नहीं किया गया और वे वैसे ही बनी रही जैसा उनके आस्था के मानने वालों द्वारा समझी जाती थी । तद्नुसार, यह दलील दी गई कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को शरीयत अधिनियम के माध्यम से पुरःस्थापित/अधिनियमित नहीं किया गया था । यह भी इंगित किया गया कि शरीयत अधिनियम विभिन्न प्रश्नों या विषयों पर मानकों को स्पष्ट या प्रतिपादित नहीं करता जो सुन्नी और शिया और उनकी भिन्न-भिन्न विचारधाराओं को लागू थे ।" तद्नुसार, यह इंगित किया गया कि शरीयत अधिनियम के उपबंधों का

निर्वचन करना भ्रामक होगा जैसा कि मुस्लिमों की स्वीय विधि की बाबत भिन्न-भिन्न प्रश्नों/विषयों के लिए कानूनी प्रास्थिति की गई है । अतः यह दलील दी गई कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को कानून में कभी रूपांतरित नहीं किया गया था । अतः, यह दलील दी गई कि यह मानना पूर्णतः अनुचित होगा कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के माध्यम से कानूनी प्रभाव दिया गया था ।

155. पूर्वोक्त दलीलों के आधार पर यह निवेदन किया गया कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 को मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत पर कानूनी हैसियत प्रदान करने वाला नहीं माना जा सकता और इस प्रकार, इसे कानूनी अधिनियमिति नहीं माना जा सकता जिससे कि संविधान के अनुच्छेद 13(1) के अधीन अनुध्यात रीति में इसकी विधिमान्यता का परीक्षण किया जा सके ।

156. हमने, परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों के द्वारा दिए गए निवेदनों पर गंभीर रूप से विचार किया । मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 की गहन परीक्षा के पश्चात्, हमारा यह मत है कि पूर्वोक्त उपबंध का सीमित प्रयोजन मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत पर प्रथा और रूढ़ि के अभिभावी प्रभाव को नकाराना था । हमारा यह अवधारण मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 की अधिनियमिति के पूर्व विधान सभा में बहस से भी प्रकट होता है । वस्तुतः, **एच. एम. अब्दुला** (पश्चिम केंद्रीय पंजाब के प्रतिनिधि) और **अब्दुल क्यूम** (उत्तरी-पश्चिमी फ्रंटियर प्रांत के प्रतिनिधि) के कथनों से किसी तरह का कोई संदेह नहीं रह जाता कि शरीयत द्वारा प्राप्त किए जाने वाला ईप्सित उद्देश्य अन्य बातों के साथ-साथ मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत पर प्रथा और रूढ़ि पर अभिभावी प्रभाव को नकाराना था । बहस से यह प्रकट होता है कि जनजातियों द्वारा रूढ़ियों और प्रथाओं को मुस्लिमों के बीच मुद्दों का अवधारण करते समय न्यायालयों द्वारा अभिभावी प्रभाव दिए जाते थे । यहां तक कि विशिष्ट ग्राम की प्रथा और रूढ़ि को मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत पर अभिभावी प्रभाव दिए गए थे । हमारा विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल की दलील को स्वीकार करने का समाधान हो गया है कि धारा 2 की परिशीलन और उसमें प्रयुक्त सर्वोपरि खंड का वही आशय है । हमारे विचारित मत के अनुसार, शरीयत अधिनियम न तो मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत और न ही विधान के अधीन आने वाले प्रश्नों/विषयों का अधिकथन करता है न ही

घोषित करता है । किसी संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि शिया और सुन्नी को लागू होने वाले मानकों में पर्याप्त अंतर है । आगे इनके संबद्ध विचारधाराओं के मानकों में भी अंतर है । शरीयत अधिनियम ऐसे मानकों को सुस्पष्ट नहीं करता जो शिया और सुन्नी या उनके संबद्ध विचारधाराओं को लागू होते हैं । हमारे विचारित मतानुसार, शरीयत अधिनियम के माध्यम से जो किया जाना ईप्सित था, वह मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को संरक्षित करना था जैसा कि यह अनंतकाल से विद्यमान था । हमारा यह मत है कि शरीयत अधिनियम मुस्लिम स्वीय विधि को उसी तरह से विनिश्चय के नियम के रूप में मान्यता प्रदान करता है जैसा अनुच्छेद 25 सभी धर्मों की स्वीय विधि की सर्वोपरिता और प्रवर्तनीयता को मान्यता प्रदान करता है । तद्नुसार, हमारा यह समाधान हो गया है कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत विधि के निकाय के रूप में शरीयत अधिनियम द्वारा स्थिर कर दिया गया है और जो (प्रथा और रूढ़ि के माध्यम से सैलाब के कारण) असंदिग्ध हो गया था, को स्पष्ट किया गया और प्रदीप्त किया गया । प्रतिकूलतः, यदि ऐसा अभिवाक् मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 जो मुस्लिम महिलाओं के लिए तलाक के आधार, विधायी रूप से अभिधारित करता है, के संदर्भ में उठाया गया होता तो यह निवेदन स्वीकार्य होता । 1939 अधिनियम, कानूनी विधि का भाग गठित करता है न कि स्वीय विधि का । अतः, हम प्रत्यर्थियों के विद्वान् काउंसेलों द्वारा दी गई दलीलों को स्वीकार करने के लिए मजबूर हैं कि याचियों की ओर से पक्षपोषित प्रतिपादना, अर्थात् यह कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937, शरीयत अधिनियम द्वारा लागू प्रश्नों/विषयों पर कानूनी प्रास्थिति प्रदान करता है, स्वीकार नहीं की जा सकती है । ऐसी स्थिति में मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत को राज्य अधिनियमिति नहीं माना जा सकता ।

157. पूर्वगामी पैरा में अभिलिखित निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए, हमारे लिए याचियों की ओर से दी गई इस दलील को स्वीकार करना संभव नहीं है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के अधीन आने वाले प्रश्न/विषय "स्वीय विधि" नहीं रह गए और "कानूनी विधि" में परिवर्तित हो गए । उपर्युक्त निष्कर्ष निकालते हुए हमें यह भी अभिनिर्धारित करना चाहिए (जिसे हमने किया है) कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत की प्रथाओं को संविधान के अनुच्छेद 13 के अनुसार राज्य कार्रवाइयों को लागू संविधान के भाग 3 मूल अधिकार में अंतर्विष्ट उपबंधों को संतुष्ट करने की अपेक्षा नहीं हो सकती ।

VI. क्या "तलाक-ए-बिद्दत" संविधान के अनुच्छेद 25 में अभिव्यक्त पैरामीटर का अतिक्रमण करता है ?

158. उपर्युक्त अभिलिखित हमारी चर्चा में, हमने यह अभिनिर्धारित किया है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937, मुस्लिम स्वीय विधि - शरीयत की स्वीय विधि प्रास्थिति को परिवर्तित नहीं करता । अब हम अगले बिंदु पर विचार करते हैं । चूंकि "तलाक-ए-बिद्दत" हनफी विचारधारा के सुन्नी मुस्लिमों को लागू स्वीय विधि का विषय बना रहता है, क्या इसे विधि में अप्रवर्तनीय के रूप में घोषित किया जा सकता है क्योंकि यह अनुच्छेद 25 में अभिव्यक्त पैरामीटर का अतिक्रमण करता है (यह भी याचियों के मामले का समर्थन कर रहे लोगों की एक सूचक दलील है) ?

159. उपर्युक्त प्रतिपादना का सभी विद्वान् काउंसेलों ने जोरदार विरोध किया जो प्रत्यर्थियों की ओर से उपस्थित हुए, विशेषकर ए. आई. एम. पी. एल. वी. का प्रतिनिधित्व कर रहे विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने । इस विरोध के अनुक्रम में, हमारा ध्यान **नरासू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले में, बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को आकृष्ट किया गया । हम संक्षेप में, इसका उल्लेख करते हैं । उक्त निर्णय के पैरा 13 में मुख्य न्यायमूर्ति एम. सी. छागला और पैरा 23 में न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर (तत्कालीन) द्वारा दिए गए निर्णय में निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां अभिलिखित की गईं :–

> "13. यह कि यह अंतर विधायिका द्वारा मान्यता प्राप्त है जो स्पष्ट है यदि कोई भारत सरकार अधिनियम, 1915 की धारा 112 की भाषा का परिशीलन करे । वह धारा उच्च न्यायालय द्वारा प्रशासित की जाने वाली विधि के बारे में है और यह उपबंध करती है कि उच्च न्यायालय भूमि, किराया और माल के विरासत और उत्तराधिकार के मामलों में और दो पक्षकारों के बीच संविदा और व्यवहार के मामलों में जब दोनों पक्षकार प्रवृत्त विधि की उसी स्वीय विधि या रूढ़ि के अधीन हैं, उसी स्वीय विधि या रूढ़ि के अनुसार विनिश्चय करेगा और जब पक्षकार प्रवृत्त विधि के भिन्न स्वीय विधि या रूढ़ि के अधीन हैं तो उस विधि या रूढ़ि के अनुसार विनिश्चय करेगा जिसके अधीन प्रतिवादी आता है । अतः स्वीय विधि और विधि का बल रखने वाली रूढ़ि के बीच स्पष्ट अंतर किया गया है । यह संविधान अधिनियम में एक उपबंध है और अनुच्छेद 13 में 'विधि' को परिभाषित करते हुए स्वयं संविधायी सभा के समक्ष इस मॉडल को स्वीकार करते हुए

केवल 'प्रथा या रूढ़ि' पद का प्रयोग किया गया और स्वीय विधि का लोप किया गया । हमारी राय में, अनुच्छेद 13 की परिधि से स्वीय विधि को अपवर्जित करने के संविधान बनाने वाली निकाय का आशय का यह बहुत स्पष्ट संकेत है । यहां कई अन्य संकेत भी हैं । अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता का अंत करता है और किसी भी रूप में उसके आचरण का निषिद्ध करता है । अनुच्छेद 25(2)(ख) राज्य को सार्वजनिक प्रकार की हिंदुओं की सभी धार्मिक संस्थाओं को हिंदुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोलने का उपबंध करता है । अब यदि हिंदू स्वीय विधि अनुच्छेद 13 के कारण शून्य हो जाती है और इसके किन्हीं उपबंधों के कारण किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करती है तो हिंदू स्वीय विधि के कतिपय पहलुओं के लिए अनुच्छेद 17 और अनुच्छेद 25(2)(ख) में विनिर्दिष्ट रूप से उपबंध करना अनावश्यक था जो अनुच्छेद 14 और 15 का उल्लंघन करती है । यह स्पष्टतः दर्शित करता है कि केवल कतिपय पहलुओं में ही संविधान ने स्वीय विधि पर विचार किया है । संविधान में अनुच्छेद 44 की उपस्थिति पृथक् स्वीय विधि के अस्तित्व को मान्यता प्रदान करती है और समवर्ती सूची की प्रविष्टि सं. 5 विधायिका को स्वीय विधि को प्रभावित करने वाली विधि पारित करने की शक्ति प्रदान करती है । अतः, यह प्रतीत होता है कि संविधान की स्कीम में स्वीय विधि को उसके सिवाय अप्रभावित छोड़ दिया जहां इसके बारे में विनिर्दिष्ट उपबंध किया गया है और भविष्य में विधायिका पर एक समान और समरूप संहिता को कानूनी पुस्तक में अंततः लाने के लिए और इसे रूपांतरित और सुधार करने के लिए छोड़ दिया है । हमारा ध्यान भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 292 की ओर आकृष्ट किया गया जिसमें यह उपबंध है कि ब्रिटिश भारत में प्रवृत्त सभी विधि सक्षम विधायिका या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा परिवर्तित या निरसित या संशोधित किए जाने तक प्रवृत्त रहेंगी और धारा 293 विद्यमान दंड विधियों के अनुकूलन के बारे में है । हमारे संविधान के अनुच्छेद 372(1) और 372(2) में इसी प्रकार का उपबंध है । यह दलील दी गई कि ऐसी विधियां जो धारा 372(1) के अधीन प्रवृत्त बनी हुई हैं, में स्वीय विधियां सम्मिलित हैं क्योंकि ये विधियां संविधान के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए प्रवृत्त बनी हुई हैं, यह आग्रह किया गया कि अनुच्छेद 13(1) के आधार पर किसी स्वीय विधि का ऐसा कोई उपबंध जो मूल अधिकारों से संगत है, शून्य होगी । किंतु अनुच्छेद

372(1) और (2) की भाषा से यह स्पष्ट है कि इस अनुच्छेद में प्रयुक्त 'प्रवृत्त विधि' पद स्वीय विधि को सम्मिलित नहीं करता क्योंकि अनुच्छेद 372(2) राष्ट्रपति को निरसन या संशोधन द्वारा प्रवृत्त विधि में अनुकूलन और उपांतरण करने की शक्ति प्रदान करता है और बिल्कुल यह दलील नहीं दी जा सकती कि यह किसी समुदाय की स्वीय विधि को परिवर्तित करने या अनुकूलित करने के लिए राष्ट्रपति को प्राधिकृत करने के आशय से यह उपबंध बनाया गया था । यद्यपि हमारे समक्ष आग्रह किया गया मुद्दा किसी भी रूप से कठिनाई से मुक्त नहीं है और संविधान के विभिन्न उपबंधों का सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि स्वीय विधि को अनुच्छेद 13(1) में प्रयुक्त 'प्रवृत्त विधि' पद में सम्मिलित नहीं किया गया ।

23. .... स्वयं भारत का संविधान शब्दों में इन स्वीय विधियों के अस्तित्व को मान्यता प्रदान करता है जब वह समवर्ती सूची-सूची III के मद 5 में स्वीय विधि के अधीन आने वाले विषयों के बारे में विचार करता है । यह मद विवाह और विवाह-विच्छेद; शिशु और अवयस्क, दत्तक ग्रहण; विल, निर्वसीयता और उत्तराधिकार; अविभक्त कुटुंब और विभाजन; वे सभी विषय जिनके संबंध में न्यायिक कार्यवाहियों में पक्षकार इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले अपनी स्वीय विधि के अधीन थे, प्रसंग के बारे में है । इस प्रकार, या तो राज्य या संघ विधायिका स्वीय विधि की परिधि के भीतर आने वाले विषयों पर विधान बनाने के लिए सक्षम है और फिर भी 'स्वीय विधि' पद का प्रयोग अनुच्छेद 13 में नहीं किया गया था । क्योंकि मेरी राय में, संविधान निर्माता संविधान के भाग-III की परिधि के बारह स्वीय विधि को रखना चाहते थे । उन्हें यह ज्ञात रहा होगा कि इन स्वीय विधियों में कई तात्विक विशिष्टियों में सुधार किए जाने की आवश्यकता है और वस्तुतः वे इन भिन्न स्वीय विधियों को समाप्त करना और एक समान संहिता विकसित करना चाहते थे । फिर भी वे यह नहीं चाहते थे कि स्वीय विधि के उपबंधों की चुनौती संविधान के भाग-III में प्रत्याभूत मूल अधिकारों के आधार पर दी जाए और इसलिए उन लोगों ने 'प्रवृत्त विधि' पद की परिभाषा के भीतर इन स्वीय विधियों को सम्मिलित नहीं किया । अतः मैं विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के इस धारणा से सहमत हूं कि स्वीय विधियां कतई अनुच्छेद 13(1) के भीतर नहीं आती ।"

160. हमें यह प्रतीत होता है कि उपर्युक्त उद्धृत बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त स्थिति विधि की वर्तमान घोषित स्थिति पर विचार किया जा सकता है विशेषकर क्योंकि भारत के विद्वान् महान्यायवादी की ओर से यह स्वीकार किया गया कि **नरासू अप्पा माली** (उपर्युक्त) वाले मामले में बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को **श्री कृष्ण सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले और **महर्षि अवधेश** (उपर्युक्त) वाले मामलों में न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया जिसमें इस न्यायालय ने **मोहम्मद अहमद खान** बनाम **शाहबानो बेगम**[1] (पांच न्यायाधीशों की संविधान न्यायपीठ द्वारा), **डैनियल लतीफी** बनाम **भारत संघ**[2] (पांच न्यायाधीशों की संविधान न्यायपीठ द्वारा) और **जॉन बेल्लामेटम** (उपर्युक्त) (तीन न्यायाधीशों की खंड न्यायपीठ द्वारा) वाले मामलों में मूल अधिकारों की कसौटी पर "स्वीय विधि" का परीक्षण किया था । भारत संघ की ओर से मामले के अभिलेख पर प्रस्तुत लिखित निवेदन के उद्धरण को उपर्युक्त पैरा 71 में शब्दसः प्रस्तुत किया गया है ।

161. विद्वान् महान्यायवादी की ओर से दिया गया निष्पक्ष अनुमोदन हमारे लिए इस प्रतिपादना और बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त विधिक स्थिति जिसके सुसंगत भाग को ऊपर उद्धृत किया गया है, को स्वीकार करने का उचित आधार है । हमारे वर्तमान अवधारण के बावजूद, हमारे लिए विवाद्यक के कुछ निर्णयों पर ध्यान देना आवश्यक है जो विषय के काफी नजदीक है ।

(i) सर्वप्रथम **श्री कृष्ण सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले को निर्दिष्ट किया जा सकता है । उपर्युक्त मामले की तथ्यात्मक स्थिति का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :

"एस." नामक एक हिंदू तपस्वी ने वर्ष 1985 में वाराणसी में गरवाघाट मठ स्थापित किया । मठ (विहार) के भीतर बंगला कुटि और अन्य भवन तथा उसके भक्तों द्वारा दान में दी गई भूमि थी । "एस." संत मठ संप्रदाय का था जो शंकराचार्य (मठ के प्रधान) द्वारा स्थापित दसनामी पंथ का एक धार्मिक संप्रदाय है । अपने जीवनकाल के दौरान, "एस." ने "ए." को अपना चेला (शिष्य) बनाया और उसे दीक्षा और भेष (आध्यात्मिक प्राधिकार) का पूर्ण अधिकार दिया । "एस." की मृत्यु के पश्चात्, "एस."

---

[1] (1985) 2 एस. सी. सी. 556.
[2] (2001) 7 एस. सी. सी. 740.

की इच्छाओं के अनुसार, उनके भेष और संप्रदाय (प्रधान या शिष्यों का उत्तराधिकार) ने "ए." को मठ का चादर महंती (मुख्य पुजारी का भेष) दिया और उसे महंत (मुख्य पुजारी) बनाया । इसके पश्चात् "ए." ने वादी एक शूद्र (चार हिंदू जातियों की निम्नतम जाति) को पंथ की प्रथा और रूढ़ि के अनुसार अपना चेला बनाया और उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी इच्छाओं के अनुसार, भेष और संप्रदाय के महंत और सन्यासी (सन्यासी का जीवन जी रहे व्यक्ति) ने वादी को "चादर महंती" बनाया और इस आशय का दस्तावेज निष्पादित करते हुए "ए." के स्थान पर मठ के महंत के रूप में उसे बैठाया । "ए." अपने जीवनकाल के दौरान मठ की आय से वाराणसी शहर में दो मकान खरीदे । जब वादी महंत हो गया तो उसने इस आधार पर उन मकानों में से एक से प्रत्यर्थी सं. 2 से 5 तक की बेदखली के लिए वाद दायर किया कि प्रत्यर्थी सं. 2 ने "ए." से किराए पर मकान लेने के पश्चात् विधि विरुद्ध रूप से प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 को परिसर को उप-किराए पर दिया था । प्रतिवादी प्रत्यर्थियों ने अन्य बातों के साथ-साथ यह अभिवचन किया कि "ए." द्वारा उन्हें दी गई अनुज्ञप्ति के आधार पर वे "ए." के चेला के रूप में अपने निजी अधिकारों के आधार पर मकान का अधिभोग कर रहे हैं, अतः, उनकी मृत्यु पर उनके नैसर्गिक पुत्र और शिष्य होने के कारण अपीलार्थी उसके स्वामी हो गए । उपर्युक्त संविवाद में अवधारणीय विरचित आवश्यक प्रश्नों में से एक इस प्रकार था :

(1) क्या शूद्र होने के कारण वादी को धार्मिक व्यवस्था से अभिषिक्त कर "सन्यासी" या "यती" नहीं बनाया जा सकता और संत मठ संप्रदाय के सिद्धांतों के अनुसार महंत बनाया जा सकता है ?

उपर्युक्त विवादित मुद्दे में अनुच्छेद 25 को निर्दिष्ट करते हुए, अपना निष्कर्ष इस न्यायालय ने अभिलिखित करते हुए यह अभिनिर्धारित किया :–

> "17. आरंभ में उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त मत पर विचार करना सुविधाजनक होगा कि स्मृति लेखकों द्वारा व्यादिष्ट कठोर नियम जिसके परिणामस्वरूप शूद्रों को यती या सन्यासी बनने के अयोग्य माने जाते थे, संविधान के भाग 3 के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकारों के कारण विधिमान्य नहीं रह गया है । हमारी राय में, विद्वान् न्यायाधीश यह मूल्यांकन करने में असफल रहे कि संविधान का भाग 3 पक्षकारों के स्वीय विधियों को स्पष्ट नहीं करता । पक्षकारों के स्वीय विधियों को लागू होने के लिए वह आधुनिक अपनी निजी अवधारणा को लागू नहीं कर सकता बल्कि हिंदू विधि के मान्यता प्राप्त और

प्रमाणिक स्त्रोतों अर्थात् स्मृतियों और निर्दिष्ट समीक्षाओं से यथा व्युत्पन्न विधि प्रवृत्त करना चाहिए जैसा कि विभिन्न उच्च न्यायालयों के निर्णयों में निर्वचित है, इसके सिवाए जहां ऐसी विधि का परिवर्तन किसी प्रथा या रूढ़ि द्वारा किया गया है या कानून द्वारा उपांतरित या उत्सादित है ।"

(ii) **मधु किश्वर** बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले को निर्दिष्ट करना भी आवश्यक है जिसमें इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :–

"विषय से संबंधित कुछ विधानों का वर्णन करना उपयुक्त रहेगा । हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम भारत के बहुसंख्यक समाज अर्थात् हिंदू, सिख, बौद्ध, जैन आदि को शासित करता है और उन्हें लागू होने वाले उत्तराधिकार के नियम विहित करता है जिनमें कम से कम 1956 से स्त्री उत्तराधिकारी को पुरुष उत्तराधिकारी के समकक्ष रखा गया है । दूसरा मुसलमानों को लागू होने वाली शरीयत विधि है जिसमें स्त्री उत्तराधिकारी को उत्तराधिकार का असमान अंश जो पुरुष उत्तराधिकारी के देखने में सामान्यतः आधा होता है, प्राप्त है । तत्पश्चात् भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम है जो ईसाइयों और सामान्यतः उन लोगों को जो पूर्वोक्त दोनों विधियों के अधीन नहीं आते हैं को लागू होता है और पुरुषों की भांति स्त्रियों को कतिपय उत्तराधिकार प्रदान करता है । इसके कतिपय अध्याय कतिपय समुदायों को लागू नहीं किए गए हैं । हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 2 की उपधारा (2) में विशेष रूप से यह उपबंधित है कि इस अधिनियम में दी गई कोई भी बात उस समय तक जब तक कि केंद्रीय सरकार द्वारा राजपत्र में अधिसूचना द्वारा अन्यथा निदेश न किया जाए, संविधान के अनुच्छेद 366 के खंड (25) के अर्थान्तर्गत किसी अनुसूचित जनजाति को लागू नहीं होगी । धारा 3(2) में आगे यह भी उपबंधित है कि इस अधिनियम, जब तक कि प्रसंग की अन्यथा अपेक्षा न हो, में के शब्दों जिन्हें पुरुषवाचक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, के अंतर्गत स्त्रियां नहीं आएंगी । विधायी व्यवहार का साधारण नियम यह है कि जब तक कि कोई बात विषय या प्रसंग के विरुद्ध न हो कानूनों में प्रयुक्त पुरुषवाचक शब्दों में स्त्रियों को सम्मिलित माना जाता है । इस संबंध में साधारण खंड अधिनियम की धारा 13 की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है । किंतु

[1] [1997] 1 उम. नि. प. 98 = (1996) 5 एस. सी. सी. 125.

उत्तराधिकार के मामलों में बहुवचन का साधारण नियम सावधानीपूर्वक लागू किया जाना चाहिए । अतः उक्त उपबंध अत्यधिक सावधानी बरतते हुए अंतःस्थापित किया गया प्रतीत होता है । भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 3 के अधीन भी राज्य सरकार किसी मूलवंश, पंथ या जनजाति को जो हमारे समक्ष चर्चा का विषय हैं, इस प्रकार छूट प्रदान की गई हैं । इस प्रकार न तो हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, न भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम और न ही शरीयत विधि रूढ़ि शासित जनजातियों को लागू होती है । यह बात सुमान्य है रूढ़ि पृथक् लोगों और क्षेत्रों के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं ।

संवेदनशीलता जनजाति-समाज द्वारा, जो अपनी प्रथाओं परंपराओं और रूढ़ियों को अत्यंत मूल्यवान समझते हैं, स्थापित इन विखंडित धारणाओं (जो क्षेत्र विशेष में प्रचलित हैं) और सहजदृश्य विभाजनकारी दीवारों (सीमाओं) के सामने न्यायिक सक्रियता द्वारा अभिजातीय दृष्टिकोण या समता के सिद्धांत के आधार पर अन्य व्यक्तियों को लागू होने वाली स्वीय विधि के सिद्धांतों को ऐसी जनजातियों के संबंध में न्यायिक रूप से लागू करना कठिन और मस्तिष्क को झंझट में डालने वाला प्रयास होगा । बंधु न्यायमूर्ति के. रामस्वामी ने यह मत अपनाया है कि भारतीय विधान-मंडल (और सरकारें भी) इस दिशा में राजनीतिक कारणोंवश इतनी सक्रिय प्रतीत नहीं होती और इस स्थिति में सक्रिय न्यायालय जो प्रकटतः राजनीतिक नहीं हैं कार्रवाई करके याचियों द्वारा अपने लिखित निवेदनों में सुझाई गई रूपरेखा के अनुसार व्यापक रूप में विधान बनाने का कार्य कर सकती हैं । भले ही परिणाम सराहनीय, वांछनीय और उपयोगी क्यों न सही हमारे विद्वान् बंधु द्वारा यह उचित ही कहा गया है कि सक्रिय न्यायालय के पास विधायी विषय के पूर्ण ब्यौरे नहीं हो सकते, न ही न्यायालय को विषय की जटिलताओं का ज्ञान होता है । वह तो मात्र समस्या से संबंधित राज्य की नीति को स्पष्ट करके उसकी ओर ध्यान आकृष्ट कर सकता है और राज्य को सचेत बना सकता है और उसे (राज्य को) लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रेरित कर सकता है । चाहे न्यायालय कितनी भी चिंता व्यक्त क्यों न करे, वह अपनी पहल पर कहीं न कहीं और कभी-कभी नियंत्रण लगाने के लिए विवश है और इस नियंत्रण को न्यायिक भाषा में आत्म नियंत्रण कहा जाता है । अतः हम बंधु न्यायमूर्ति के. रामस्वामी द्वारा अपने निर्णय के पृष्ठ 36 पर अंतिम पैरा में व्यक्त किए गए इस मत से

सहमत हैं कि इन परिस्थितियों में जनजातीय निवासियों को रूढ़ियों को संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 का अतिक्रमणकारी मानना उचित नहीं होगा और प्रत्येक मामले की परीक्षा तभी की जानी चाहिए जब न्यायालय के समक्ष पूर्ण तथ्य प्रस्तुत किए गए हों ।

अधिनियम के कानूनी उपबंधों से संबंधित उन्होंने उनकी सांविधानिकता को परिरक्षित रखने के लिए धारा 7 और 8 को व्यापक रूप में न लेने की बात कही है । यह बात उनके निर्णय के पृष्ठ 36 से आगे स्पष्टतया देखने में आती है । जहां भी "पुरुष वंशज" शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनमें "स्त्री वंशज" भी सम्मिलित होंगी । यह भी कहा गया है कि यद्यपि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के उपबंध और भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 के निबंधन अनुसूचित जनजातियों को लागू नहीं होंगे, उनके साधारण सिद्धांत जिनमें न्याय, साम्या और ऋजु व्यवहार की बात कही गई है, उन्हें लागू होंगे । इस आधार पर यह मत अपनाने की बात कही गई है, उन्हें लागू होंगे । इस आधार पर यह मत अपनाने की बात कही गई है कि अनुसूचित जनजाति की स्त्रियां अपने पैतृक माता-पिता, भ्राता या पति की संपदा निर्वसीयत उत्तराधिकार द्वारा उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त करने की हकदार होंगी और हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम और भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम के सिद्धांतों के अनुसार पुरुष उत्तराधिकारी के साथ आत्यंतिक अधिकार सहित समान अंश प्राप्त करेंगी । तथापि, हमारे यह चाहते हुए कि विधि ऐसी हो, हमें खेद है कि हम इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधनों का अनुमोदन करने में असमर्थ हैं । यदि न्यायालय के लिए इस मार्ग का अनुसरण करना बाधा रहित नहीं है, तो यह बेहतर होगा कि न्यायालय इससे बचे । यह कल्पना की जा सकती है कि विषम परिस्थितियों में इस प्रकार के दावे बार-बार किए जाएंगे जो न केवल जनजातीय परिभाषाओं तक ही सीमित रहेंगे अपितु विधि की अन्य प्रणालियों को हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम और भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम को आदर्श मानकर इनके अनुरूप बनाए जाने के लिए आंदोलन छिड़ जाएगा । वास्तव में उत्तराधिकार के नियम अनिवार्यतः समान नहीं हैं और विभेदात्मक व्यवहार पर आधारित हैं । अनुरूपता के न होने से सभी स्थितियों में अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं होता है । न्यायाधीशों द्वारा उपबंधों में सामान्यतः सुलभ विधान-मंडल को किनारे रखकर संशोधन किए जाने से बचा जाना चाहिए । अतः हम सतर्कता

बरतते हुए इस मत को अपनाने के लिए विवश हैं भले ही रूढ़िवादी क्यों न सही और जो मत हमारे विद्वान् बंधु ने व्यक्त किया है, हम उससे सहमत होने के लिए तैयार नहीं हैं ।"

(iii) **अहमदाबाद वूमेन एक्शन ग्रुप** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने पैरा 1 से 3 में विचारार्थ उद्‌भूत प्रश्नों को अभिलिखित किया जिन्हें यहां नीचे दोहराया जा रहा है :–

"ये सभी रिट याचिकाएं लोकहित वाद के रूप में फाइल की गई हैं । 1996 की रिट याचिका (सिविल) सं. 494 में प्रार्थित अनुतोष इस प्रकार हैं –

(क) मुस्लिम स्वीय विधि घोषित करना जो बहु-विवाह को संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 के उल्लंघनकारी के रूप में शून्य होने के रूप में अनुज्ञात करता है ;

(ख) मुस्लिम स्वीय विधि घोषित करना जो किसी मुस्लिम पुरुष को अपनी पत्नी की सहमति के बिना और न्यायालयों की न्यायालयिक प्रक्रिया का अवलंब लिए बिना एकतरफा तलाक देना संविधान के अनुच्छेद 13, 14 और 15 के उल्लंघनकारी होने के कारण शून्य होना समर्थ बनाता है ;

(ग) यह घोषित करना कि मात्र यह तथ्य कि मुस्लिम पति द्वारा एक से अधिक पत्नी रखना मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 की धारा 2 के खंड 8(च) के अर्थान्तर्गत क्रूरता का कार्य है ;

(घ) यह घोषित करना कि मुस्लिम महिला (तलाक के अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 1986 अनुच्छेद 14 और 15 का उल्लंघन करने के कारण शून्य है ;

(ङ) आगे यह घोषित करना कि विरास्त की सुन्नी और शिया विधियों के उपबंध जो उसी हैसियत के पुरुषों के अंश की तुलना में महिलाओं के उनके अंश के प्रति विभेद करते हैं, मात्र लिंग के आधार पर ही महिलाओं के विरुद्ध विभेदकारी होने के कारण शून्य है ;

---

[1] (1997) 3 एस. सी. सी. 573.

(2) 1996 की रिट याचिका (सिविल) सं. 496 में प्रार्थित अनुतोष इस प्रकार है –

(क) हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 2(2), 5(ii) और (iii), 6 और धारा 30 के स्पष्टीकरण को भारत के संविधान के अनुच्छेद 13 के साथ पठित अनुच्छेद 14 और 15 को उल्लंघनकारी होने के कारण शून्य घोषित करना ;

(ख) हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 2 को भारत के संविधान की अनुच्छेद 14 और 15 का उल्लंघनकारी होने के कारण शून्य घोषित करना ;

(ग) संरक्षक और वार्ड अधिनियम की धारा 6 के साथ पठित हिंदू अप्राप्तव्यता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 3(2), 6 और 9 को शून्य घोषित करना ;

(घ) हिंदू पति को अपनी पत्नी और आश्रित के सुनिश्चित शेयर का उपबंध किए बिना वसीयती व्यवस्था करने की अनुज्ञा देने के लिए अबाधित और आत्यंतिक विवेकाधिकार को शून्य घोषित करना ;

(3) 1996 की रिट याचिका (सिविल) सं. 721 में प्रार्थित अनुतोष इस प्रकार है –

(क) भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम की धारा 10 और 34 को शून्य घोषित करना और भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 43 से 46 को भी शून्य घोषित करना ।"

मधु किश्वर (पूर्वोक्त) वाले मामले में, इस न्यायलय द्वारा प्रतिपादित विधिक स्थिति पर ध्यान देने के पश्चात् उपर्युक्त प्रश्नों की बाबत व्यक्त स्थिति को नीचे पैरा 4 में अभिलिखित किया गया है :–

"4. आरंभ में, हम यह कहना चाहते हैं कि इन रिट याचिकाओं का निपटान गुणागुण के आधार पर नहीं किया जाता क्योंकि हमारे समक्ष विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा दिए गए तर्कों में राज्य नीतियों के मुद्दे अंतर्वलित हैं जिनका न्यायालय से सामान्यतः कोई संबंध नहीं है । इसके अतिरिक्त, हम यह पाते हैं कि जब पूर्व अवसरों पर अन्य लोगों द्वारा इस तरह के प्रयास किए गए तो इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उपचार कहीं अन्यत्र है जो न्यायालयों का

दरवाजा खटखटाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता ।"

(iv) **सेदना ताहर सैफुद्दीन साहेब** (पूर्वोक्त) वाले मामले को भी निर्दिष्ट किया जा सकता है जिसमें इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

"आयुक्त, हिंदू धार्मिक विन्यास मद्रास **बनाम** श्री लक्ष्मींद्र तीर्थ स्वामियर आफ श्री शिरूर मठ ; महंत जगन्नाथ रामनुज दास **बनाम** उड़ीसा राज्य ; श्री वेंकटरमन देवालु **बनाम** मैसूर राज्य ; दरगाह समिति, अजमेर **बनाम** सैयद्द हुसैन अली और अन्य कई मामलों में इस न्यायालय के समक्ष संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 का अंतर्वस्तु विचारार्थ उद्‌भूत हुआ और इन उपबंधों के मुख्य सिद्धांतों को इन विनिश्चयों में संविवाद से परे रखा गया । पहला यह है कि इन अनुच्छेदों का संरक्षण सिद्धांत या आस्था के विषयों तक सीमित नहीं है बल्कि वे धर्म के अनुसरण में किए गए कार्यों तक भी विस्तारित हैं । अतः रीति रिवाज और अनुष्ठान, उत्सव और उपासना के ढंग के लिए भी गारंटी है जो धर्म के अभिन्न भाग हैं । दूसरा यह है कि धर्म या धार्मिक पद्धति का आवश्यक भाग क्या गठित करता है, का विनिश्चय उस विशिष्ट धर्म के सिद्धांतों के प्रतिनिर्देश से न्यायालयों द्वारा किया जाना चाहिए और ऐसी पद्धतियों को सम्मिलित किया जाना चाहिए जिसे समुदाय द्वारा उसके धर्म के भाग के रूप में माना जाता है ।"

(v) **एन. आदित्यन** (पूर्वोक्त) वाले मामले का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिसमें इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :–

"9. इस न्यायालय ने शेषामल **बनाम** तमिलनाडु राज्य, (1972) 2 एस. सी. सी. 11 वाले मामले में पुनः अर्चक के वंशानुगत अधिकार के उत्सादन के प्रति की गई चुनौती के संदर्भ में अनुच्छेद 25 और 26 में वर्णित संरक्षण के सिद्धांतों का पुनर्विलोकन किया और इस प्रकार स्थिति को दोहराया (एस. सी. सी. पृष्ठ 21, पैरा 13-14):

13. इस न्यायालय ने सेदना ताहर सैफुद्दीन साहेब **बनाम** बम्बई राज्य, ए. आई. आर. 1962 एस. सी. 853 वाले मामले में विधिक स्थिति को संक्षेप में इस प्रकार उल्लेख किया –

"आयुक्त, हिंदू धार्मिक विन्यास मद्रास **बनाम** श्री लक्ष्मींद्र तीर्थ स्वामियर आफ श्री शिरूर मठ ; महंत जगन्नाथ रामनुज

दास **बनाम** उड़ीसा राज्य ; श्री वेंकटरमन देवालु **बनाम** मैसूर राज्य ; दरगाह समिति, अजमेर **बनाम** सैयद हुसैन अली और अन्य कई मामलों में, इस न्यायालय के समक्ष संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 का अंतर्वस्तु विचारार्थ उद्भूत हुआ और इन उपबंधों के मुख्य सिद्धांतों को इन विनिश्चयों में संविवाद से परे रखा गया । पहला यह है कि इन अनुच्छेदों का संरक्षण सिद्धांत या आस्था के विषयों तक सीमित नहीं है बल्कि वे धर्म के अनुसरण में किए गए कार्यों तक भी विस्तारित हैं । अतः रीति रिवाज और अनुष्ठान, उत्सव और उपासना के ढ़ंग के लिए भी गारंटी है जो धर्म के अभिन्न भाग हैं । दूसरा यह है कि धर्म या धार्मिक पद्धति का आवश्यक भाग क्या गठित करता है, का विनिश्चय उस विशिष्ट धर्म के सिद्धांतों के प्रतिनिर्देश से न्यायालयों द्वारा किया जाना चाहिए और ऐसी पद्धतियों को सम्मिलित किया जाना चाहिए जिसे समुदाय द्वारा उसके धर्म के भाग के रूप में माना जाता है ।"

14. मस्तिष्क में इन सिद्धांतों को समाहित करते हुए, हमें वर्तमान मामले के संविवाद पर विचार करना है ।"

16. अब यह सुस्थिर है कि अनुच्छेद 25 प्रत्येक व्यक्ति को अनुच्छेद 17 सहित लोक व्यवस्था, स्वास्थ्य, नैतिकता और भाग 3 के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, अन्य लोगों के नैतिक उन्नति के लिए अपने विवेक और अंतःकरण के अनुसार बाह्य कार्यों और ऐसे धार्मिक विश्वास के प्रचार और प्रसार द्वारा ग्रहण करने और प्रदर्शित करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है । राज्य को ऐसे निर्बंधन अधिरोपित करने का अधिकार है जो स्वयं अनुच्छेद 25 या 26 में लोक व्यवस्था, स्वास्थ्य और नैतिकता के आधारों पर वांछित या आवश्यक पाए जाते हैं । अनुच्छेद 25(2)(ख) राज्य के हिंदुओं के सभी वर्गों और अनुभागों को लोक प्रकृति के हिंदू धार्मिक संस्थाओं को खुला रखने के अलावा सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए विधि बनाने का अधिकार सुनिश्चित करता है और राज्य या समाज के समुदाय या वर्गों के ऐसे किन्हीं अधिकारों को विभिन्न अधिकारों के सामंजस्य की प्रक्रिया में सम्यक् विनियमन के लिए भी आवश्यक समझा जाता है । संविधान निर्माताओं का तर्क या तार्किक आधार से रहित मात्र पारंपरिक अंधविश्वास का पालन करने हेतु समाज के ऐसे अंधविश्वास और

रीति रिवाजों से मुक्त करने की धारणा को अनुच्छेद 17 के रूप में व्यक्त किया गया है । यह विधिक स्थिति कि अनुच्छेद 25 और 26 के अधीन संरक्षण का विस्तार रीति-रिवाज और धर्म अनुष्ठान, उत्सव तथा पूजा की रीति की गारंटी तक विस्तारित है जो धर्म के अभिन्न भाग हैं और वस्तुतः धर्म या धार्मिक पद्धति का आवश्यक भाग क्या गठित करता है, धर्म के भाग के रूप में माने जाने वाले विशिष्ट धर्म या पद्धति के सिद्धांत के प्रतिनिर्देश से न्यायालयों द्वारा विनिश्चित किया जाना चाहिए, समानतः दृढ़तः अधिकथित किया गया ।"

(vi) विवाद्यक से सुसंगत **श्री आदि विश्वेश्वरा आफ काशी विश्वनाथ मंदिर, वाराणसी** (पूर्वोक्त) वाले मामले का निर्णय भी है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया :–

"28. ..... सभी पंथ-निरपेक्ष गतिविधियां, जो धर्म से सहबद्ध हो सकती हैं, लेकिन जो इसके आवश्यक अंग रूप संबद्ध या गठित नहीं हो सकती, राज्य विनियमनों के अधीन परीक्षणार्थ हो सकती है लेकिन जो धर्म के आवश्यक अंग हैं उसके तत्व ऐतिहासिक आधारभूमि और विकास की प्रक्रिया में परिवर्तन, आदि के अनुसार स्वयं उस धर्म के सिद्धांतों से प्रधानतः सुनिश्चित की जा सकती है । अनिवार्यता की संकल्पना स्वयमेव निर्णायक घटक नहीं है । अधिनिर्णीत करते समय विचारणीय परिस्थितियों में से एक परिस्थिति यह है कि क्या धर्म के विशिष्ट विषय या धार्मिक आचरण या विश्वास धर्म के अभिन्न अंग हैं । यह विनिश्चय अवश्य किया जाना चाहिए कि क्या स्वयं समुदाय आचरण या विषय को अनिवार्य मानता है । यद्यपि यह निश्चायक नहीं है, फिर भी यह एक पहलू है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए । प्रश्नगत आचरण धार्मिक स्वरूप का है और यह कि क्या इसे धर्म के अभिन्न और अनिवार्य अंग के रूप में माना जा सकता और यदि न्यायालय अपने समक्ष प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि यह धर्म का अभिन्न और अनिवार्य अंग है तो अनुच्छेद 25 उसे संरक्षण प्रदान करता है ।"

(vii) यह स्थिति स्पष्ट प्रतीत होती है कि "स्वीय विधि" में न्यायिक हस्तक्षेप ऐसी रीति से ही किया जा सकता है जैसा संविधान के अनुच्छेद 25 में उपबंधित किया गया है । आस्था के विषय के पैरामीटर को भंग करना संभव नहीं है क्योंकि उन्हें अनुच्छेद 25 (स्वयं उपबंध में यथा उपबंधित के सिवाय) का संरक्षणात्मक कवच प्राप्त है ।

162. विद्वान् महान्यायवादी के प्रति निष्पक्ष होने के लिए यह अभिलिखित करना आवश्यक है कि उन्होंने **नरासू अप्पा माली** (पूर्वोक्त) वाले मामले में, बम्बई उच्च न्यायालय द्वारा अभिलिखित अवधारण और इस न्यायालय द्वारा इसकी पुष्टि करते हुए दिए गए निर्णयों का दृष्टांत देते हुए विरोध किया कि स्थिति पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है (विस्तार के लिए उपर्युक्त पैरा 71 को निर्दिष्ट करें) । हमारे लिए इस अभिवाक् को ग्रहण न करने के दो कारण हैं । पहला, विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार भी, संविधान न्यायपीठ (पांच न्यायाधीशों की) द्वारा दिए गए कम से कम दो निर्णयों में इस न्यायालय द्वारा प्रतिपादना को स्वीकार किया गया है और इस प्रकार, हम (पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ) स्पष्टतः इस प्रतिपादना पर पुनर्विचार करने के निरर्हित हैं । और दूसरा, स्वीय विधि की चुनौती अनुच्छेद 25 के अधीन भी सक्षम है यदि संविधान के भाग 3 मूल अधिकार के उपबंधों का अतिक्रमण होता है जिसका हम इसके पश्चात् याचियों की ओर से दिए गए निवेदनों की परीक्षा करते समय विचार करेंगे । इसी प्रकार हम श्री कपिल सिब्बल, ज्येष्ठ अधिवक्ता द्वारा खंडन करते हुए दिए गए निवेदनों पर विचार नहीं करेंगे ।

163. जहां तक अनुच्छेद 25 में अंतर्विष्ट संवैधानिक उद्देश्य के प्रतिनिर्देश से तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा की चुनौती का संबंध है, हमने सुनवाई के दौरान प्रस्तुत निवेदनों पर भी विचार किया । यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि स्वीय विधि के सिद्धांतों के संवैधानिक संरक्षण में हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता जब तक यह "लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य" और/या संविधान के भाग 3 के उपबंधों का उल्लंघन न करता हो। यह अनुच्छेद 25(1) में अभिव्यक्त स्पष्ट स्थिति है ।

164. अब हम "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा के प्रतिनिर्देश से वर्तमान चुनौती की परीक्षा करेंगे । हमारे लिए यह स्वीकार करना संभव नहीं है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को अपास्त किया जाए और अनुच्छेद 25(1) में व्यक्त तीन परिभाषित प्रयोजनों अर्थात् लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के प्रतिकूल होने के आधार पर, विधि में अपोषणीय अभिनिर्धारित किया जाए । इस दृष्टिकोण से ध्यान देते हुए यह निष्कर्ष निकालना असंभव है कि प्रथा "लोक व्यवस्था" या उस विषय के लिए "स्वास्थ्य" का अतिक्रमण करती है । हमारा यह भी समाधान है कि इसका नैतिकता से भी कोई संबंध नहीं है । अतः हमारे विचारित मतानुसार, "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को तीन अननुज्ञेय/प्रतिषिद्ध क्षेत्र जिसका अनुच्छेद 25 स्वीय विधि के

बाबत भी इनकार करती है, के आधार पर अभिखंडित किया जा सकता है । अतः हमारे लिए इस आधार पर याचियों की ओर से उठाई गई दलील को कायम रखना संभव नहीं है ।

165. केवल शेष आधार जिस पर अनुच्छेद 25 के अधीन "तलाक-ए-बिद्दत" की चुनौती कायम रखी जा सकती है, यह है यदि "तलाक-ए-बिद्दत" को संविधान के भाग 3 के उपबंधों के अतिक्रमण के रूप में पाया जाए । याचियों की ओर से दी गई चुनौती अनुच्छेद 14, 15 और 21 के प्रथा के अभिकथित रूप से अतिक्रमण में होने तक सीमित थी जैसा याचियों की ओर से दिए गए निवेदनों के अभिलेखन के दौरान व्यापक रूप से ध्यान दिया गया है । हम वर्तमान दलील की सत्यता की भी परीक्षा करेंगे । अनुच्छेद 14, 15 और 21 में अधिष्ठापित मूल अधिकार राज्य कार्रवाइयों के विरुद्ध हैं । इन उपबंधों (अनुच्छेद 14, 15 और 21) के अधीन चुनौती का अवलंब राज्य के विरुद्ध ही लिया जा सकता है । यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि अनुच्छेद 14 राज्य को मनमाने ढंग से कार्य करने से निषिद्ध करता है । अनुच्छेद 14 राज्य से भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण सुनिश्चित करने की अपेक्षा करता है । इसी प्रकार, अनुच्छेद 15 राज्य को धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधारों पर विभेदकारी कार्य करने से प्रतिषिद्ध करता है । अनुच्छेद 15 का अधिदेश राज्य से सबके साथ समान व्यवहार करने की अपेक्षा करता है । अनुच्छेद 21 भी राज्य कार्रवाई से संरक्षण है चूंकि यह राज्य को प्राण और स्वतंत्रता के विषय के रूप में (विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिवाए) उनके किन्हीं अधिकारों से वंचित करने से प्रतिषिद्ध करता है । हमने पहले ही याचियों की ओर से दी गई दलीलों को खारिज कर दिया है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के उपबंध शरीयत के स्वीय विधि प्रास्थिति को परिवर्तित नहीं करते । हमने यह स्वीकार नहीं किया है कि शरीयत अधिनियम की अधिनियमिती के पश्चात् उक्त विधान द्वारा आरक्षित प्रश्न/विषय स्वीय विधि नहीं रह गए और कानूनी विधि में संपरिवर्तित हो गए । चूंकि हमने यह अभिनिर्धारित किया है कि मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत किसी राज्य विधायी कार्रवाई पर आधारित नहीं है अतः हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि मुस्लिम स्वीय विधि - शरीयत का परीक्षण राज्य कार्रवाई होने की कसौटी पर नहीं किया जा सकता । हमारे मतानुसार, मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत मुस्लिम की स्वीय विधि का विषय है जिनका पता चार स्रोतों अर्थात् कुरान, हदीथ, इजमा और क्यास से लगाया जाना चाहिए । इनमें से किसी को

किसी राज्य कार्रवाई द्वारा किया गया नहीं समझा जा सकता । हमने पहले ही यह निष्कर्ष निकाला है कि "तलाक-ए-बिद्दत" हनफी विचारधारा के सुन्नी मुस्लिमों के बीच की प्रथा है । ऐसी प्रथा जो उस विचारधारा के उनकी आस्था का एक संघटक है । स्वीय विधि धार्मिक आस्था का विषय होने के कारण और राज्य कार्रवाई न होने के कारण, इसे भारत के संविधान के उपबंधों, विशेषकर, याचियों द्वारा "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को चुनौती देने के लिए अवलंबित उपबंध अर्थात् संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 का अतिक्रमणकारी होने का कोई प्रश्न ही नहीं होता है ।

(vii) **संवैधानिक नैतिकता और "तलाक-ए-बिद्दत"**

166. याचियों की ओर से पक्षपोषित मुद्दों में से एक जिसका भारत के विद्वान् महान्यायवादी द्वारा इस आधार पर भेदन किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" - तीन तलाक की प्रथा की संवैधानिक विधिमान्यता संवैधानिक नैतिकता के भंग में है । हमारे समक्ष उठाया गया प्रश्न यह था कि क्या पंथ निरपेक्ष संविधान के अधीन महिलाओं का विभेद केवल उनकी धार्मिक पहचान के आधार पर किया जा सकता है ? यह प्राख्यान किया गया कि व्यष्टिक धार्मिक संप्रदाय की महिला किसी अन्य धर्म को मानने वाली महिला की तुलना में समाज में घटिया प्रास्थिति से ग्रस्त नहीं हो सकती । यह इंगित किया गया कि मुस्लिम महिलाओं को उनके समकक्ष जो अन्य आस्था को मानते हैं, की तुलना में अधिक संवेदनशील स्थिति में रखे गए हैं । यह निवेदन किया गया कि हिंदू, ईसाई, जोरोष्टीयन, बौद्ध, सिख, जैन महिलाएं किसी युक्तियुक्त हेतुक के बिना निश्चित रूप से पति के सनक पर ; निश्चित रूप से पत्नी द्वारा व्यक्त मतों के सम्यक् विचार के बिना जिनके पास तलाक के लिए पति के दावे का खंडन करने का अधिकार है, अपने वैवाहिक संबंध से वहिष्कृत किए जाने के अधीन नहीं है । यह प्राख्यान किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" किसी कारण या औचित्य के बिना पति के पास तत्काल वैवाहिक संबंध समाप्त करने का अनरहित अधिकार निहित नहीं करता । यह निवेदन किया गया कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रक्रिया न्यायिकेतर है और इस प्रकार, संबद्ध पत्नी पर भयानक परिणामों की चुनौती देने के लिए कोई उपचारात्मक उपाय नहीं है । यह इंगित किया गया कि संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन प्रत्येक नागरिक को गारंटीकृत समता के मूल अधिकार के अंतर्गत भिन्न-भिन्न धार्मिक समुदायों की महिलाओं के बीच समता को सम्मिलित किया गया, पढ़ा जाना चाहिए । यह निवेदन किया गया कि लिंग समता, लिंग साम्या और लिंग न्याय के मूल्य अनुच्छेद 14 के अधीन सभी (नागरिकों और विदेशियों)

को प्राप्त गारंटी में परस्पर गुथे हुए हैं । यह प्राख्यान किया गया कि पितृसत्तात्मक मूल्यों पर आधारित सामाजिक प्रास्थिति का प्रदान संविधान के भाग 3 के अधीन उपबंधित मूल अधिकारों के संरचना के भीतर कायम नहीं रखा जा सकता जिससे कि महिला वर्ग को पुरुषों की दया पर रखा जा सके । यह दलील दी गई कि समता के अलावा अनुच्छेद 14 और 15 लिंग विभेद का प्रतिषेद्ध करते हैं । यह इंगित किया गया कि लिंग के आधार पर विभेद अनुच्छेद 15 के अधीन व्यक्ततः प्रतिषिद्ध है । यह दलील दी गई कि मानवीय गरिमा, सामाजिक सम्मान और आत्म सम्मान का महिलाओं का अधिकार अनुच्छेद 21 के अधीन प्राण के अधिकार का एक महत्वपूर्ण फलक है । यह निवेदन किया गया कि लिंग न्याय संविधान के निर्माताओं द्वारा अनुध्यात एक संवैधानिक लक्ष्य है । संविधान के अनुच्छेद 51क(ङ) को निर्दिष्ट करते हुए, यह इंगित किया गया कि संविधान के भाग 4 में अंतर्विष्ट घोषित मूल कर्तव्यों में से एक यह सुनिश्चित करना है कि महिलाओं को ऐसे अपमानजनक प्रथाओं के अधीन न रखा जाए जो उनकी गरिमा को प्रभावित करता हो । यह इंगित किया गया कि लिंग समता और महिलाओं की गरिमा गैर-विनिमेय हैं । यह उजागर किया गया कि महिलाएं राष्ट्र की जनसंख्या का आधा भाग हैं और महिलाओं के विरुद्ध असमानता से निश्चित ही संपूर्ण लिंग विभेद का निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए ।

167. जैसा कि इसके पूर्व उल्लेख किया गया है, याचियों की ओर से दी गई दलीलों के समर्थन में **सरला मुदगल** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले का अवलंब लिया गया । उसमें अभिलिखित निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया :–

> "44. विवाह, विरासत, विवाह-विच्छेद, संपरिवर्तन उतने ही धार्मिक प्रकृति और तत्व के हैं जैसा किसी अन्य आस्था और विश्वास में हैं । अग्नि के सात फेरे लेना या काजी के समक्ष सहमति देना आस्था और अंतःकरण के विषय हैं, जितना स्वयं पूजा का । जब कोई हिंदू कलमा पढ़कर संपरिवर्तित हो जाता है या कोई मुसलमान कुछ मंत्र पढ़कर हिंदू हो जाता है तो यह विश्वास और अंतःकरण का विषय है । एक धर्म के सदस्यों द्वारा पालन किए जाने वाले ये कुछ पद्धतियां दूसरे सदस्यों के लिए ज्यादतीपूर्ण और यहां तक कि मानव अधिकारों के अतिक्रमण में प्रतीत हो सकते हैं । किंतु ये आस्था के

[1] (1995) 3 एस. सी. सी. 635.

विषय हैं । तर्क की इसमें कोई भूमिका नहीं है । भावनाओं और धारणाओं को गंभीर प्रयास द्वारा शांत किया जाना चाहिए । किंतु इस समय कोई राजाराम मोहन राय नहीं है जिन्होंने अकेले ऐसा वातावरण पैदा किया था जिससे सती उन्मूलन का रास्ता बनाया गया । न ही पंडित नेहरू की हैसियत का कोई नेतृत्व है जो सफलतापूर्वक हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम और हिंदू विवाह अधिनियम के माध्यम से परंपरागत हिंदू विधि में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सके । एक समान संहिता की वांछनीयता के प्रति मुश्किल से संदेह किया जा सकता है । किंतु इसे ठोस रूप तभी दिया जा सकता है जब समाज के संभ्रांत व्यक्तियों, नेताओं के बीच राजनेताओं द्वारा ऐसा सामाजिक वातावरण तैयार किया जाए जो व्यक्तिगत लाभ से ऊपर उठें और जनमानस को परिवर्तन स्वीकार करने के प्रति सजग करें ।"

वालसम्मा पाल (पूर्वोक्त) वाले मामले का अवलंब लिया गया, जहां से विद्वान् काउंसेल ने निम्नलिखित पैरा में अभिलिखित मताभिव्यक्तियों पर बल दिया :–

"6. परस्पर प्रतिकूल दलीलों से संविधान के अनुच्छेद 16(4) और 15(4) के अंतर्गत स्वीय विधि और संवैधानिक प्रवृत्ति के बीच विरोध में सामंजस्य बैठाने का प्रश्न उद्भूत होता है । अनुच्छेद 14 और इसकी प्रजाति अनुच्छेद 15(4) और 16(4) द्वारा प्रत्याभूत 'विधि के समक्ष समता' और 'विधियों के समान संरक्षण' की अवधारणों का उद्देश्य समाज के सभी वर्गों के लिए राजनीतिक लोकतंत्र में सामाजिक और आर्थिक न्याय स्थापित करना, प्रास्थिति में असमानता दूर करना और व्यक्ति विशेष को भी नहीं बल्कि अनुसूचित जाति (संक्षेप में दलित) अनुसूचित जनजाति (संक्षेप में जनजाति) और नागरिकों के अन्य पिछड़े वर्ग (संक्षेप में ओ. बी. सी.) के लोगों के समूहों में भी सुविधा और अवसर उपलब्ध कराना, आजीविका के पर्याप्त उपाय अर्जित करना तथा समाज के कमजोर वर्ग विशेषकर दलित और जनजाति के आर्थिक और शैक्षिक हितों का विशेष देखभाल करते हुए संवर्धन करना जिससे कि इन्हें सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से संरक्षित किया जा सके । 42वें संविधान (संशोधन) अधिनियम द्वारा यह महसूस कराने के लिए संविधान की उद्देशिका में पंथनिरपेक्ष और समाजवाद जोड़ा गया कि लोकतंत्र में जब तक समाज के सभी वर्गों को जाति, धर्म और लिंग को ध्यान दिए बिना राजनीतिक लोकतंत्र में भाग लेने के लिए

सुविधाएं और अवसर उपलब्ध नहीं किए जाते हैं तब तक राजनीतिक लोकतंत्र काफी समय तक जीवित नहीं रहेगा । डा. अम्बेडकर ने तारीख 25 नवंबर, 1949 को प्रारूप संविधान पर अपना समापन भाषण देते हुए, यह कहा कि "हमें मात्र राजनीतिक लोकतंत्र प्राप्त नहीं करना चाहिए ; हमें राजनीतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र भी बनाना चाहिए । राजनीतिक लोकतंत्र तब तक नहीं चल सकता है जब तक यह सामाजिक लोकतंत्र पर आधारित न हो ।"

सामाजिक लोकतंत्र का अभिप्राय ऐसी जीवन शैली से है जो जीवन के सिद्धांत के रूप में स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व को मान्यता प्रदान करती है । ये त्रित्व के पृथक् मद नहीं है बल्कि वे त्रित्व का संगम गठित करते हैं । एक से दूसरे को अलग करना लोकतंत्र के प्रयोजन को ही विफल करना है । समता के बिना, स्वतंत्रता कई लोगों पर प्रभुत्व पैदा करेगा । स्वतंत्रता के बिना समता व्यक्तिगत पहल की हत्या करेगा । भ्रातृत्व के बिना, स्वतंत्रता और समता अपना प्राकृतिक आयाम नहीं ले सकता । अतः अनुच्छेद 15(4) और 16(4) वास्तविकता में उपलब्ध समान अवसर प्रदान करने के लिए सामाजिक और आर्थिक असमानता को दूर करना चाहते हैं । सामाजिक और आर्थिक न्याय समाज के समर्थन के लिए अनुष्ठापित अधिकार है । संविधान की उद्देशिका में परिकल्पित और मूल अधिकार तथा नीति निदेशक तत्वों में वर्धित विशेषकर संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 16, 21, 38, 39 और 46 में सामाजिक और आर्थिक न्याय का अधिकार समाज के गरीब, वंचित और दिव्यांग नागरिकों के जीवन में गुणता लाना है । अनुच्छेद 14 का समान संरक्षण सुविधा और अवसर उपलब्ध कराकर उन असमान लोगों के लिए सकारात्मक कार्रवाई की अपेक्षा करता है । जहां अनुच्छेद 15(1) धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान के आधारों पर विभेद का प्रतिषेध करता है, अनुच्छेद 15(4) इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद 39(2) में उपबंधित के बावजूद राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों की किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या दलितों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष उपबंध करने का व्यादेश देता है । इसी प्रकार, अनुच्छेद 16(1) राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन या नियुक्ति से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समता की गारंटी देता है वहीं अनुच्छेद 16(4) राज्य को पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग के पक्ष में जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्य के

अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, आरक्षण का उपबंध करने के लिए व्यादेश देता है । संविधान का अनुच्छेद 335 यह निदेश देता है कि संघ या किसी राज्य के कार्यकलाप से संबंधित सेवाओं और पदों के लिए नियुक्तियां करने में, दलित और जनजातियों के सदस्यों के दावों का प्रशासन की दक्षता बनाए रखने की संगति के अनुसार ध्यान रखा जाएगा । अतः इस न्यायालय ने यह निर्वचन किया कि अनुच्छेद 14, 15(1) और 16(1) द्वारा प्रत्याभूत समान संरक्षण इंदिरा साहनी **बनाम** भारत संघ, 1992 सप्ली. 3 एस. सी. सी. 217, मंडल मामले के नाम से ज्ञात 1992 सप्ली. 3 एस. सी. सी. 217 के बहुमत के अनुसार, संविधान के अनुच्छेद 15(4), 16(4), 38, 39, 46 और 335 को संगति के अनुसार लागू किए जाने की अपेक्षा है । दूसरे शब्दों में, समान संरक्षण हजारों वर्षों से प्रचलित अस्पृश्यता के ऐतिहासिक तथ्यों के कारण उन असमान अक्षम लोगों के लिए जिसे अनुच्छेद 17 द्वारा समाप्त कर दिया गया है ; अन्य पिछड़े वर्गों के सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन के कारण हमारी राष्ट्रीय मुख्य धारा से दूर रह रहे जनजातियों के लिए सकारात्मक कार्रवाई की अपेक्षा है ।

* * * * *

16. संविधान एक ऐसे पंथ निरपेक्ष सामाजवादी लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना करना चाहता है जिसमें प्रत्येक नागरिक के पास जाति, वर्ग, धार्मिक अवरोध से उन्हें हटकर एक समग्र भारत में उनके बीच भ्रातृत्व की भावना पैदा करने के लिए राष्ट्र की एकता और अखंडता, व्यक्ति की गरिमा लोगों में बढ़ाने के लिए प्रास्थिति और अवसर की समता है । अतः नागरिक पर उत्कृष्टता लाने और व्यक्ति की समान प्रास्थिति और गरिमा पर बल दिया गया है । समान स्तर पर सभी नागरिकों को लोकतंत्रात्मक नीति में सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र के लिए संवैधानिक दर्शन और मानव अधिकारों के प्रवर्धन के लिए, पंथनिरपेक्षता को संविधान का एक आधारभूत लक्षण अभिनिर्धारित किया गया है एस. आर. बोम्बई **बनाम** भारत संघ, (1994) 3 एस. सी. सी. 1 द्वारा और समतावादी सामाजिक व्यवस्था इसका आधार है । जब तक वर्गगत, जातिगत, धार्मिक या धार्मिक अवरोधों को पार कर लोगों को स्वतंत्र गतिशीलता की अनुज्ञा नहीं दी जाती, तब तक पंथनिरपेक्ष सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना कठिन है । कर्नाटक राज्य **बनाम** अप्पा बालूइंग्ले, 1995 (सप्ली.) 4 एस. सी. सी. 469 वाले मामले में, इस न्यायालय ने पैरा 34 में यह

अभिनिर्धारित किया कि न्यायपालिका लोगों की स्वतंत्रता और अधिकारों के बुर्ज के रूप में कार्य करती है । न्यायाधीश जीवन की अबाध धारा में कठोरता और निराकारता के खतरों के बीच विधि को आगे बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय जीवन की जीवंत धारा के भागीदार हैं । न्यायाधीश को विधायक के बुद्धिमत्ता, इतिहासविद की सच्चाई की तलाश, ईश्वर की दिव्य दृष्टि, वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता, वस्तुपरखता का विनिश्चय करने के लिए भविष्य की मांगों को पूरा करने की क्षमता, व्यक्तिगत प्रभाव या पूर्व धारणाओं से स्वयं को अलग करने की क्षमता से संपन्न एक न्यायवादी होना चाहिए । न्यायाधीशों को समय की महसूस आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपने निर्वचनात्मक शस्त्रागार से संविधान और अधिनियम के अधीन व्यापक अवधारणाओं के प्रयोजनात्मक निर्वचन अपनाना चाहिए । सामाजिक विधान दुराराध्य भाषा का दस्तावेज नहीं है बल्कि लोगों के जीवन को व्यवस्थित करने का साधन है । विधि का अर्थान्वयन करने के लिए व्यक्ति को इसकी भावना, इसकी व्यवस्था और इतिहास पर विचार करना चाहिए । विधि को लोगों की स्वतंत्रता का विस्तार करने में सक्षम होना चाहिए और विधिक व्यवस्था उच्च असाम्यापूर्ण सामाजिक व्यवस्था से मजबूत करते हुए परम समान सुरक्षा प्रदान कर सकती है । न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रयोग परिवर्तित सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अंतर्वर्ती सामाजिक मूल्यों के साथ किया जाना चाहिए । विद्यमान सामाजिक असमान्यताओं और असंतुलनों को विधि के नियम के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था का पुनः समायोजन कर हटाए जाने की अपेक्षा है । उस दशा में सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम के अधीन अधिकारों का संरक्षण करने की आवश्यकता है और अस्पृश्यता और किसी रूप में इसके आचरण को दूर करने के संवैधानिक अधिदेश को कायम रखने की आवश्यकता पर बल दिया गया था ।

* * * * *

21. संविधान ने व्यक्तियों के अधिकारों और कर्तव्यों के बीच संतुलन बनाए रखने के लिए और राज्य की समतावादी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए वचनबद्धता को पूरा करने के लिए अपनी उद्देशिका, मूल अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों के माध्यम से समता और गैर विभेद के सिद्धांत के आधार पर एक पंथनिरपेक्ष राज्य का सृजन किया । डा. के. एम. मुंशी ने संविधान सभा के पटल

पर यह दलील दी कि "हम विरासत या उत्तराधिकार के बारे में पक्षकारों के अधिकारों से धर्म से स्वीय विधि को अलग करना चाहते हैं जिसे हम सामाजिक संबंध कह सकते हैं । इनका धर्म से क्या लेना देना है, हम यह समझने में असमर्थ हैं ? हम ऐसी अवस्था में हैं जहां हमें धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप के बिना सभी साधनों से राष्ट्र को एकीकृत और संरक्षित करना चाहिए । तथापि, पहले, यदि धार्मिक प्रथाओं का ऐसा अर्थान्वयन किया गया है जो जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को आवृत्त करता हो तो हम ऐसे मोड़ पर पहुंच गए हैं जहां हमें अपना पैर नीचे रखना चाहिए और यह कहना चाहिए कि ये धार्मिक विषय नहीं हैं, ये विशुद्धतः पंथनिरपेक्ष के विधान के विषय हैं । धर्म ऐसे क्षेत्र तक निर्बंधित होना चाहिए जो विधिसम्मत रूप से धर्म से जुड़ा हो और शेष जीवन ऐसी रीति से विनियमित, एकीकृत और उपांतरित किया जाना चाहिए कि हम यथासंभव शीघ्र एक ठोस और समेकित राष्ट्र विकसित कर सकें (संविधान सभा बहस अंक 7 पृष्ठ 356-58 द्वारा) ।

* * * * *

26. मानव अधिकार व्यक्ति की गरिमा और अंतर्निहित योग्यता से व्युत्पन्न हैं । मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रताओं को सार्वभौमिक मानव अधिकार घोषणाओं में दोहराया गया है । लोकतंत्र मानव अधिकारों का विकास और सम्मान तथा मूल स्वतंत्रताएं परस्पर स्वतंत्र हैं और पारस्परिकतः प्रवर्तनीय हैं । अतः बालिका सहित महिला का मूल अधिकार असंक्राम्य, अभिन्न और सार्वभौमिक मानव अधिकार का अविभाजनीय भाग है । राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में महिलाओं द्वारा व्यक्तित्व का पूर्ण विकास और मूल अधिकार तथा समान भागीदारिता राष्ट्रीय विकास, सामाजिक और पारिवारिक स्थिरता तथा सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक वृद्धि के सहवर्ती हैं । लिंग के आधारों पर सभी प्रकार के विभेद मूल अधिकारों और मानव अधिकारों का अतिक्रमण है । महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेद की उन्मूलन का अभिसमय (संक्षेप में "सी.ई.डी.ए.डब्ल्यू.") की पुष्टि तारीख 18 दिसंबर, 1979 को यू.एन.ओ. द्वारा की गई और भारत सरकार ने सी.ई.डी.ए.डब्ल्यू. पर सहमति तारीख 19 जून, 1993 को सक्रिय भागीदार के रूप में पुष्टि की और दोहराया कि महिलाओं के विरुद्ध विभेद समता के अधिकार और मानव गरिमा के सम्मान के सिद्धांतों का अतिक्रमण करता है और यह अपने देश के

राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में पुरुषों के साथ समान शर्तों पर भागीदारी में अड़चन डालता है ; यह संबद्ध देश और मानवता की सेवा में महिलाओं के पूर्ण विकास की संभावनाओं के लिए और कठिन बनाकर समाज और कुटुम्ब से व्यक्तित्व के विकास में बाधा डालता है ।

जॉन वल्लामट्टम (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का भी प्रतिनिर्देश किया गया जहां से याची के विद्वान् काउंसेल ने निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों को उजागर किया :–

"42. अनुच्छेद 25 मात्र रीति रिवाज और समारोह आदि के आचरण की स्वतंत्रता को संरक्षण प्रदान करता है जो केवल धर्म के अभिन्न भाग हैं । अतः भारत के संविधान का अनुच्छेद 25 वर्तमान मामले में लागू नहीं होगा ।

*   *   *   *   *

44. मेरे द्वारा मामले का समापन करने के पूर्व, मैं यह कहना चाहता हूं कि अनुच्छेद 44 में यह उपबंध है कि राज्य, भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा । पूर्वोक्त उपबंध इस पर आधारित है कि सभ्य समाज में धार्मिक और स्वीय विधि के बीच कोई आवश्यक संबंध नहीं है । संविधान का अनुच्छेद 25 अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है । पूर्वोक्त दो उपबंध अर्थात् अनुच्छेद 25 और 44 यह उपदर्शित करते हैं कि पहला धार्मिक स्वतंत्रता की गारंटी देता है जबकि बाद वाला धर्म को सामाजिक संबंध और स्वीय विधि से वंचित करता है । इसमें कोई संदेह नहीं है कि विवाह, उत्तराधिकार और पंथनिरपेक्ष प्रकृति के ऐसे मामलों को संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 में अनुष्ठापित गारंटी के भीतर नहीं लाया जा सकता । ऐसा कोई विधान जो उत्तराधिकार और पंथनिरपेक्ष प्रकृति के समान मामलों को अनुच्छेद 25 और 26 की परिधि के भीतर लाता है, एक संदेहास्पद विधान है, यद्यपि यह संदेहपूर्ण है कि क्या संदिग्ध विधान के अमेरिकी सिद्धांत का पालन इस देश में किया गया है । सरला मुद्‌गल **बनाम** भारत संघ (1995) 3 एस. सी. सी. 635 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया गया कि विवाह, उत्तराधिकार और पंथनिरपेक्ष के समतुल्य मामलों को संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 के अधीन

अनुष्ठापित प्रत्याभूति के भीतर नहीं लाया जा सकता । यह खेद का विषय है कि संविधान के अनुच्छेद 44 को प्रभावी नहीं बनाया गया है । संसद् को देश में समान सिविल संहिता विरचित करने का अभी कदम उठाना है । समान सिविल संहिता सिद्धांतों पर आधारित विरोधों को दूर कर राष्ट्रीय एकता बनाने में सहायक होगी ।"

सबसे अंत में हमारा ध्यान **सी. मसिलामणि मुदालियर** (उपर्युक्त) वाले मामले की ओर आकृष्ट किया गया जिससे इस प्रकार अवलंब लिया गया :—

"15. यह देखने में आया है कि यदि संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् संविधान की उद्देशिका, मूल अधिकार और निदेशक सिद्धांतों में अनुष्ठापित व्यक्ति की समता और गरिमा के अधिकार जो सामाजिक हैसियत या लिंग के आधारों पर ही विभेद या निर्योग्यता को हटाने की आशय के तृत्व हैं, ने ऐसे पूर्व विद्यमान अड़चनों को हटा दिया जो समाज के कमजोर वर्गों या महिलाओं के रास्ते में थे । एस. आर. बोम्बई **बनाम** भारत संघ (1994) 3 एस. सी. सी. 1 वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उद्देशिका संविधान के आधारभूत ढांचे का भाग है । व्यक्ति की गरिमा के साथ न्याय, समता और स्वतंत्रता के तृत्व को जीवित रखने के लिए विधि के नियमों के अधीन ही अड़चनों को दूर किया जाना चाहिए । महिलाओं को अवरतम हैसियत प्रदान करने वाली स्वीय विधियां समता के प्रति अभिशाप हैं । स्वीय विधियां संविधान से नहीं बल्कि धर्म ग्रंथों से व्युत्पन्न हैं । इस प्रकार व्युत्पन्न विधियां संविधान से संगत होनी चाहिए अन्यथा वे अनुच्छेद 13 के अधीन शून्य हो जाएंगी यदि वे मूल अधिकारों का अतिक्रमण करती है । समता का अधिकार एक मूल अधिकार है अतः संसद् ने हिंदू महिलाओं के उनके पूर्ण स्वामित्व के बिना संपत्ति के अधिकार से सीमित करते हुए पूर्व विद्यमान निर्योग्यता को हटाने के लिए धारा 4 का अधिनियमन किया । विभेद को धारा 14क के साथ स्पष्टीकरण जोड़ते हुए हिंदू महिला द्वारा संपत्ति की अर्जन की व्याप्ति को बढ़ाकर उपचार प्रदान किए जाने की ईप्सा की गई है ।"

168. हमने पूर्वगामी पैरा में ध्यान दिए गए निवेदनों पर गहनतापूर्वक विचार किया । हमारा यह मत है कि पक्षपोषित विषय का अवधारण करने में अनुच्छेद 25 और 44 के तात्पर्य और सार को समझना होगा । अब हम

पूर्वोक्त उपबंधों पर विचार करने का प्रयास करेंगे ।

169. सुनवाई के दौरान हमारा ध्यान, अनुच्छेद 25 (प्रारूप अनुच्छेद 19) के प्रतिनिर्देश से संविधान सभा बहस की ओर आकृष्ट किया गया । बहस से यह प्रकट होता है कि संविधान सभा के सदस्य "स्वीय विधि" और "सिविल संहिता" के बीच अंतर को स्पष्टतः समझते थे । "स्वीय विधि" को समुदायों के सदस्यों की प्रथाओं पर आधारित होने के रूप में माना जाता है । यह स्वयं समुदाय तक ही सीमित था और अन्य समुदायों के सदस्यों को प्रभावित नहीं करता । दूसरी ओर, "सिविल संहिता" का असीमित दायरा है । यह माना जाता है कि "सिविल संहिता" भू-भाग के प्रत्येक नागरिक को लागू होगा चाहे वह किसी भी समुदाय का हो । जहां तक स्वीय विधि का संबंध है इसे सदियों से विशिष्ट समुदायों के सदस्यों द्वारा अपनाई गई प्रथाओं से उद्भूत माना जाता है । सभा के केवल सदस्य जिन्होंने बहस के दौरान अपनी प्रस्तुति दी (मोहम्मद इस्माईल साहिब) ने यह कहा, "स्वीय विधि अपनाने की यह प्रथा लोगों में सदियों से चली आ रही है । हम इस संशोधन के अधीन यह चाहते हैं कि प्रथा में अब हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए और मैं प्रथा को केवल चलते रहने देना चाहता हूं जो सदियों से लोगों के बीच चली आ रही है......... । इस संशोधन के अधीन इस सदन से जो मैं स्वीकार करने की इच्छा रखता हूं यह है कि जब हम राज्य से धर्म के पंथनिरपेक्ष पहलू के प्रतिनिर्देश से कोई बात करने के बारे में कहते हैं तो स्वीय विधि का प्रश्न नहीं लाया जाएगा और यह प्रभावित नहीं करेगा .... । व्यक्ति की अपनी आस्था को मानने, आचरण करने और प्रचार करने का प्रश्न एक ऐसा अधिकार है जो मानव के पास आरंभ से ही था और जिसे इस भूमि में ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व में प्रत्येक मानव के असंक्राम्य अधिकार के रूप में माना जाता है और मैं यह समझता हूं कि मानव के रूप में मनुष्य के उस अधिकार को प्रभावित करने के लिए कुछ नहीं किया जाना चाहिए । अनुच्छेद का वह भाग जैसा वह है ठीक से शब्दांकित किया गया है और इसे वैसा ही होना चाहिए जैसा यह है ।" यह स्पष्ट है कि **सरला मुदग्ल** (उपर्युक्त) वाले मामले में व्यक्त स्थिति स्पष्टतः संविधान सभा में बहस के दौरान उपर्युक्त प्रतिपादना को दोहराती है । (मोहम्मद इस्माईल साहिब के) उपर्युक्त कथन को उत्तर लक्ष्मीकांत मित्र द्वारा दिया गया जिन्होंने यह मत व्यक्त किया, "प्रारूप संविधान का यह अनुच्छेद 19 सभी व्यक्तियों को ऐसा किसी धर्म जिसे वे पसंद करते हैं को मानने, आचरण करने और प्रचार करने का अधिकार प्रदान करता है, किंतु यह अधिकार कतिपय शर्तों द्वारा सीमित किया गया है जो राज्य सार्वजनिक

नैतिकता, लोक व्यवस्था और सार्वजनिक स्वास्थ्य के हितों में अधिरोपित करने के लिए स्वतंत्र होगा और यह भी जहां तक यह प्रदत्त अधिकार किसी तरह से संविधान के भाग के अधीन वर्णित अन्य उपबंधों के प्रतिकूल न हो । हमारे कुछ मित्रों ने यह तर्क किया कि मात्र इस कारण इस प्रारूप में संविधान में इस अधिकार को अनुज्ञा नहीं दी जानी चाहिए क्योंकि हमने बार-बार यह घोषित किया है कि यह एक पंथनिरपेक्ष राज्य होने जा रहा है और इस प्रकार धर्म की प्रथा को मूल अधिकार के रूप में अनुज्ञा नहीं दी जानी चाहिए । आगे यह तर्क किया गया कि विशिष्ट आस्था या धर्म का प्रचार करने का अतिरिक्त अधिकार प्रदत्त कर सभी प्रकार की परेशानियों और विरोधों के लिए दरवाजा खोल दिया जाता है जो अंततोगत्वा राज्य के सामान्य जीवन को नष्ट कर देगी । तत्काल हम यह भी कहना चाहते हैं कि पंथनिरपेक्ष की यह अवधारणा पूर्णतः दोषपूर्ण है । पंथनिरपेक्ष राज्य द्वारा, जैसा कि हम समझते हैं, इसका यह अभिप्राय है कि राज्य धार्मिक आस्था के किसी विशिष्ट रूप को मानने वाले किसी व्यक्ति के विरुद्ध धर्म या समुदाय के आधार पर किसी प्रकार का कोई विभेद नहीं करने जा रहा है । सारतः इसका यह अभिप्राय है कि राज्य का कोई विशिष्ट धर्म किसी प्रकार का कोई राज्य संरक्षण प्राप्त नहीं करेगा । राज्य अन्य के अपवर्जन या अधिमान्य किसी विशिष्ट धर्म को स्थापित, संरक्षित या स्थायी निधि देने नहीं जा रहा है और यह कि राज्य का कोई नागरिक मात्र इस आधार पर कोई अधिमानी बर्ताव नहीं प्राप्त करेगा या उसके विरुद्ध विभेद नहीं किया जाएगा कि वह धर्म के किसी विशिष्ट रूप को मानता है .... । वहीं हमें यह विचार करते समय बहुत सावधानी बरतनी होगी कि हमारे देश में हम किसी को न केवल मानने या आचरण करने के अधिकार बल्कि किसी विशिष्ट धर्म को प्रचारित करने के अधिकार से वंचित न करें ... । अतः मैं यह महसूस करता हूं कि संविधान ने ठीक ही न केवल अधिकार बल्कि मूल अधिकार के रूप में इसका उपबंध किया है । इस मूल अधिकार का प्रयोग करते हुए किसी धर्म को मानने वाले इस राज्य में रह रहे प्रत्येक समुदाय को जो कुछ वह चाहता है उसके धर्म के अनुसार समान अधिकार या करने की समान सुविधाएं होंगी, बशर्ते यह यहां अधिकथित शर्तों के विरोध में न हों ।

170. अनुच्छेद 25 के प्रतिनिर्देश से संविधान सभा की बहस से किसी संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रहेगी कि संविधान निर्माता स्वीय विधि को मूल अधिकार का भाग बनाना चाहते थे । राज्य को यह स्वतंत्रता थी कि वे सामाजिक सुधार करें । इस प्रक्रम पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि

वलसम्मा पाल (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय वर्तमान संविवाद का आधार नहीं हो सकता क्योंकि यह ऐसी स्वीय विधि से उद्भूत मुद्दों पर विचार नहीं करता जो संवैधानिक संरक्षण का उपभोग करते हैं । यह अभिलिखित करने की भी आवश्यकता है कि **जॉन वल्लामट्म** (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय यह व्यक्त करता है कि ऐसी प्रकृति के मामले में विधान के माध्यम से विचार किए जाने की आवश्यकता है और इस प्रकार उपर्युक्त निर्णय में व्यक्त मत याचियों के हेतुक को आगे बढ़ाने में कोई सहायता प्रदान नहीं कर सकता ।

171. अनुच्छेद 44 के बारे में, संविधान सभा के भी बहस सुसंगत हैं । हम प्रारूप अनुच्छेद 25 (जो अनुच्छेद 44 के रूप में अधिनियमित किया गया) का उल्लेख करते हैं । अनुच्छेद, राज्य से एक समान सिविल संहिता बनाने का प्रयास करने की अपेक्षा करता है । ऐसे सदस्य जिन्होंने संविधान सभा की चर्चा के दौरान उपबंध पर बहस किया, ने यह पक्षपोषित किया कि धार्मिक समुदायों के समूहों और वर्गों को उनकी निजी स्वीय विधि का पालन करने का अधिकार दिया जाए (मोहम्मद इस्माईल साहिब), जैसा कि यह महसूस किया गया कि स्वीय विधि में हस्तक्षेप लोगों की जीवनशैली और धर्म में हस्तक्षेप करने के समान होगा । यह भी तर्क किया गया कि (नजीरूद्दीन अहमद द्वारा) अनुच्छेद 25 (प्रारूप अनुच्छेद 19) के माध्यम से संरक्षण के रूप में जिसका विस्तार किया गया, अर्थात्, "सभी व्यक्ति अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता के समानतः हकदार हैं' ....। अनुच्छेद 44 द्वारा छीने जाने की ईप्सा की गई । ऐसी स्थिति को उजागर किया गया कि सभी धार्मिक प्रथाओं को विधि की परिधि से परे रखा जाना चाहिए । संविधान सभा के एक सदस्य (महमूद अली बेग साहिब बहादुर) ने कहा कि अनुच्छेद में एक समान सिविल संहिता में स्वीय विधि सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए । उन्होंने यह प्राख्यान करते हुए एम. अनंत सैनम अटयंगर के सुझावों का खंडन किया कि 1350 वर्षों से प्रचलित मुस्लिम प्रथाओं में परिवर्तन नहीं किया जा सकता । एक अन्य सदस्य - पोकर साहिब बहादुर ने मोहम्मद इस्माईल साहिब के सुझाव का समर्थन किया । उनके द्वारा प्रस्तुत प्रश्न यह था कि " .... क्या स्वतंत्रता द्वारा हमने इस देश को अभिप्राप्त किया है, क्या हम अंतःकरण की स्वतंत्रता और धार्मिक प्रथाओं की स्वतंत्रता, और अपनी निजी स्वीय विधि को अपनाने की स्वतंत्रता को छोड़ते जा रहे हैं ....।" किंतु इन सभी निवेदनों को अस्वीकार कर दिया गया । इन सबसे यह स्पष्ट सोच प्रकट होती है कि संविधान विद्वान्

महान्यायवादी द्वारा दिए गए निर्णयों में व्यक्त विकृतियों का उपचार करने और शांत करने के लिए राज्य से एक समान सिविल संहिता का उपबंध करने की अपेक्षा करती है ।

172. इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता है कि स्वीय विधि को संविधान में मूल अधिकार की हैसियत तक उत्थापित किया गया है और स्वीय विधि इस प्रकार प्रवर्तनीय है जैसा वह है । सभी संविधानिक न्यायालय सभी मूल अधिकारों (संविधान के भाग 3 में सम्मिलित) के संविधानिक संरक्षक हैं । अतः यह सभी न्यायालयों का संवैधानिक कर्तव्य है कि वे सभी मूल अधिकारों को संरक्षित, सुरक्षित और प्रवर्तित करें, और कोई अन्य रास्ता नहीं है । न्यायालय के लिए किसी कारण या तर्क के आधार पर असंवैधानिक (या विधि में अस्वीकार्य) घोषित करने के किसी अनुरोध को स्वीकार करना न्यायिकतः अविचारणीय नहीं है जिसे संविधान मूल अधिकार के रूप में घोषित करता है । क्योंकि अनुरोध को स्वीकार करने की दशा में, यह न्यायालय अनुच्छेद 25 के अधीन व्यक्ततः संरक्षित अधिकारों का इनकार करेगा ।

173. भारतीय संविधान के उपबंधों पर अमेरिकी संविधान से उद्‌भूत अवधारणाओं को स्वीकार करना संभव नहीं है । अतः, वर्तमान संविवाद के विनिश्चय के आधार पर तब सारवान् सम्यक् प्रक्रिया को निर्दिष्ट करना संभव नहीं है जब भारतीय संविधान के अधीन वर्तमान विषय पर व्यक्त उपबंध उपबंधित हैं । यह भी संविधान के अधीन पढ़ना संभव नहीं है जिसे संविधान सभा ने सोच-समझकर और विचारपूर्वक अपवर्जित किया है (या व्यक्ततः सम्मिलित किए गए उपबंधों की अनदेखी की) । कोई यू.एस. उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों का प्रतिनिर्देश नहीं कर सकता, यद्यपि भारत के संविधान और विधियों के उपबंधों के अनुरूप हेतुक के समर्थन में अनुनयकारी प्रभाव के लिए उन पर विचार करने में कोई कठिनाई नहीं है । वस्तुतः यह न्यायालय भारत के उच्चतम न्यायालय के निर्णयों द्वारा आबद्ध है जो संविधान के अनुच्छेद 141 के निबंधनानुसार विधि की आबद्धकारी घोषणाएं हैं ।

174. याचियों का प्रतिनिधित्व कर रहे लोगों द्वारा इस न्यायालय को किए गए अनुरोध का यह आधार कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा संवैधानिक नैतिकता की अवधारणा के अतिक्रमण में है, स्वीकार नहीं किया जा सकता और तद्‌नुसार खंडित किया जाता है ।

(viii) भारत में 'स्वीय विधि' के सुधार

175. हमारे विचार से, "स्वीय विधि" से विशुद्धतः संबंधित विषयों से संबंधित भारत में विस्तृत विधान का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है और विशेषकर विवाह और विवाह-विच्छेद से संबंधित मुद्दों को अर्थात् ऐसे विषय जो विशुद्धतः स्वीय विधि की परिधि के भीतर हैं ।

176(i) इस संदर्भ में, सर्वप्रथम भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 का प्रतिनिर्देश किया जा सकता है । विधेयक के उद्देश्यों और कारणों के कथनों में ऐसे प्रयोजन का रेखांकन किया गया है जिनका अधिनियमिति के माध्यम से प्राप्त किया जाना ईप्सित था । उसके सुसंगत भाग को यहां दोहराया जा रहा है :–

> "उद्देश्यों और कारणों का कथन –
>
> भारतीय विवाह-विच्छेद विधेयक का उद्देश्य उच्च न्यायालयों द्वारा अपनी प्रारंभिक अधिकारिता के प्रयोग में प्रशासित वैवाहिक विधि को वही आधार प्रदान करने का है जो कि इंग्लैंड के विवाह-विच्छेद तथा विवाह-विषयक मामलों के न्यायालय द्वारा प्रशासित वैवाहिक विधि का है ।
>
> भारत में उच्च न्यायालयों को स्थापित करने के लिए संसद् के अधिनियम (24 और 25 विक्टोरिया, अध्याय 104) की धारा 9 में उपबंधित है कि उच्च न्यायालय ऐसी वैवाहिक अधिकारिता का प्रयोग करेंगे जो हर मजेस्टी लैटर्स पेटेंट द्वारा अनुज्ञात और निर्दिष्ट करे । संसद् द्वारा इस प्रकार प्रदत्त प्राधिकार के अधीन, लैटर्स पेटेंट की धारा 35 में, जो कि उच्च न्यायालयों का गठन करती है, निम्नलिखित उपबंध किया गया है –
>
> > "और हम इसके बाद यह व्यादेश देते हैं कि बंगाल में फोर्ट विलियम स्थित उक्त उच्च न्यायालय को क्रिश्चियन धर्म मानने वाले हमारे नागरिकों के बीच वैवाहिक मामलों में अधिकारिता होंगी और यह कि ऐसी अधिकारिता का विस्तार उन स्थानीय परिसीमाओं तक होगा जिनके भीतर जब उच्चतम न्यायालय को चर्च की अधिकारिता प्राप्त है । परंतु यह सदैव होगा कि इसमें अंतर्विष्ट किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि यह उक्त प्रेसिडेंसी के भीतर रायल चार्टर द्वारा स्थापित न की गई किसी न्यायालय द्वारा वैवाहिक मामलों में, जो उसके विधिपूर्ण

है, हस्तक्षेप करती है ।"

सेक्रेटरी आफ स्टेट की डाक, जिस द्वारा लैटर्स पेटेंट भेजा गया था, पैरा 33 और 34 निम्नलिखित रूप में है –

33. "हर मजेस्टी की सरकार प्रेसिडेंसी के भीतर क्राउन के क्रिश्चियन नागरिकों को उच्च न्यायालय के अधीन साधारणतः वैवाहिक मामलों में वही स्थिति प्रदान करना चाहती है जो उनकी अब उच्चतम न्यायालय के अधीन है और उनके विचार से यह चार्टर के खंड 35 द्वारा प्रभावी की जाएगी । किंतु वे यह समीचीन समझते हैं कि उच्च न्यायालय को इसके अतिरिक्त विवाह-विच्छेद की डिक्री देने की भी शक्ति होनी चाहिए जो कि उच्चतम न्यायालय की नहीं है, दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय को वही अधिकारिता होनी चाहिए जो कि अधिनियम 20 और 21 विक्टोरिया अध्याय 85 के आधार पर स्थापित इंग्लैंड में विवाह-विच्छेद तथा विवाह विषयक मामलों की है और जिनके संबंध में और आगे उपबंध 22 और 23 विक्टोरिया अध्याय 61 तथा 23 और 24 विक्टोरिया अध्याय 144 द्वारा किए गए हैं तथापि, उच्च न्यायालयों की स्थापना करने के लिए संसद् का अधिनियम, क्राउन को यह शक्ति देने का अध्युपाय नहीं करता कि वह चार्टर में विवाह-विच्छेद न्यायालय अधिनियम के सभी उपबंधों को मान ले और उनमें से कुछ को तो क्राउन स्पष्ट रूप से इस प्रकार ला भी नहीं सका है, उदाहरणार्थ, वे जो पुनर्विवाह की अवधि विहित करते हैं तथा जो उन पदार्थों को उत्पादन से छूट प्रदान करते हैं जो जारकर्म करने वालों का पुनर्विवाह करने से इनकार करते हैं । वास्तव में ये सभी विषय भारतीय विधान-मंडल के लिए हैं और मैं यह निवेदन करता हूं कि आप तुरंत इस विषय पर विचार करेंगे तथा अपनी काउंसिल में, इंग्लैंड में विवाह-विच्छेद न्यायालय की अधिकारिता और शक्तियां उच्च न्यायालय को प्रदान करने के लिए एक विधेयक पेश करेंगे जिस विधेयक में एक उपबंध उन मामलों में जिनमें विवाह-विच्छेद न्यायालय अधिनियम, हाउस आफ लार्ड्स को अपील अनुज्ञात करता है, प्रिवी कौंसिल को अपील अनुज्ञात करने के लिए होना चाहिए ।"

34. "खंड 35 के अंत में दिए गए उपबंध का उद्देश्य किसी ऐसे संदेह को दूर करने का है जो संभवतः इस बारे में पैदा हो कि क्या इंग्लैंड के विवाह-विच्छेद तथा विवाह विषयक मामलों के न्यायालय की शक्तियां उच्च न्यायालय में निहित करने का आशय प्रेसिडेंसी के

खंड के भीतर के उन न्यायालयों को जो रायल चार्टर द्वारा स्थापित नहीं किए गए हैं, ऐसी कोई अधिकारिता से वंचित करने का है जो उनकी वैवाहिक मामलों में हो सकती हैं, उदाहरणार्थ, आर्मेनियन या देशी क्रिश्चियनों के बीच निर्वाह-व्यय संबंधी वाद । ऐसी किसी अधिकारिता में उसका हस्तक्षेप करने का आशय नहीं है ।''

सेक्टेरी आफ स्टेट द्वारा वर्णित संसद् के उस अधिनियम के अतिरिक्त जो इंग्लैंड के विवाह-विच्छेद न्यायालय की अधिकारिता को विनियमित करता है, कानून 25 और 26 विक्टोरिया अध्याय 81 को अभी समाप्त हुए वर्ष (1862) में पारित किया गया है । इस कानून का उद्देश्य 23 और 24 विक्टोरिया अध्याय 144 को, जिसकी अस्तित्वावधि मूलतः दो वर्ष के लिए सीमित की गई थी, शाश्वत बनाना है ।

एक विधयेक का प्रारूप सेक्रेटरी आफ स्टेट के अनुदेशों को प्रभावी करने के लिए तैयार किया गया है । किंतु प्रक्रिया के बारे में इंग्लैंड के कानून से कुछ परिवर्तनों को अंगीकार किया गया है । अधिकारिता की विभिन्न शाखाओं में व्यावहारिक एकरूपता लाने की दृष्टि से विधेयक में यह उपबंध है कि इंग्लैंड में विवाह-विच्छेद और विवाह-विषयक मामलों के लिए हर मजेस्टी के न्यायालय के नियमों के स्थान पर सिविल प्रक्रिया संहिता की प्रक्रिया का पालन किया जाएगा और उसमें जूरी द्वारा तथ्य संबंधी प्रश्नों के आमतौर पर विचारण किए जाने से संबंधित 20 और 21 विक्टोरिया अध्याय 85 के उपबंध का लोप किया गया है ।

(ii) विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 की धारा 10 में विवाह के विघटन के आधार उपबंधित हैं । इसे यहां नीचे उद्धृत किया जा रहा है :–

"10. विवाह के विघटन के आधार – (1) कोई विवाह चाहे यह भारतीय विवाह-विच्छेद (संशोधन अधिनियम, 2001) के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात् अनुष्ठापित हो, पति या पत्नी द्वारा जिला न्यायालय को दी गई अर्जी पर इस आधार पर विघटित किया जा सकेगा कि विवाह के अनुष्ठापन से प्रत्यर्थी –

(i) जारकर्म का प्राप्त किया है ;

(ii) किसी धर्म के संपरिवर्तन द्वारा ईसाई नहीं रह गया है;

(iii) अर्जी के प्रस्तुत करने के ठीक पूर्व दो वर्ष से अन्यून

समय की लगातार अवधि से असाध्य विकृतचित है ; या

(iv) अर्जी के प्रस्तुत करने के ठीक पूर्व दो वर्ष से अन्यून समय से कुष्ठ रोग के असाध्य रोग से ग्रस्त रहा है ; या

(v) अर्जी के प्रस्तुत करने के ठीक पूर्व संक्राम्य रूप के यौन रोग से ग्रस्त रहा है ; या

(vi) ऐसे व्यक्तियों द्वारा सात वर्ष या अधिक समय से जीवित होने के बारे में नहीं सुना गया है जिनके द्वारा प्रत्यर्थी के बारे में स्वाभाविक रूप से सुना होता यदि प्रत्यर्थी जीवित रहता; या

(vii) विवाह का संभोग करने से जानबूझकर इनकार किया और इस प्रकार विवाह का संभोग नहीं किया गया है ;

(viii) प्रत्यर्थी के विरुद्ध डिक्री पारित करने के पश्चात् दो वर्ष से या अधिक की अवधि के लिए दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री का अनुपालन करने में असफल रहा है ; या

(ix) अर्जी के प्रस्तुत करने के ठीक पूर्व कम से कम दो वर्ष तक याची अधित्यजित रहा है ; या

(x) याची के साथ ऐसी क्रूरता का बर्ताव किया है जिससे याची की मस्तिष्क में यह युक्तियुक्त आशंका पैदा हो कि प्रत्यर्थी के साथ याची का रहना अपहानिकर या खतरनाक होगा ।

(2) पत्नी इस आधार पर अपने विवाह के विघटन की अर्जी भी पेश कर सकेगी कि पति विवाह के अनुष्ठापन से ही बलात्संग, गुदा मैथुन या पशुगमन का दोषी रहा है ।

(iii) उपर्युक्त के अलावा अतिरिक्त संशोधन के परिणामस्वरूप इसमें धारा 10क सहमति द्वारा विवाह के विघटन का उपबंध करने के लिए जोड़ी गई । यह उजागर करना ईप्सित है कि भारत में ईसाई आस्था का अनुगमन करने वालों में भी विवाह-विच्छेद का उपबंध करने के लिए विधान की अपेक्षा थी । वर्तमान विधान में इन आधारों का उपबंध है जिन पर ईसाई पति और पत्नियां विवाह-विच्छेद अभिप्राप्त कर सकती हैं ।

177. (i) भारत में पारसी, ईरानीयन प्रोफेट जोरोस्टर के अनुयायी हैं ।

जैसा कि कहा गया है कि पारसी ईरान से मुस्लिमों द्वारा धार्मिक उत्पीड़न से बचने के लिए भारत में प्रवर्जित हो गए । भारत के पारसी, विवाह और विवाह-विच्छेद के विषय में अपनी स्वीय विधि द्वारा शासित थे । पहली बार वर्ष 1865 में पारसी विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम पारित किया गया । मूल अधिनियमिति में सारवान् संशोधन करने के पश्चात् इसके स्थान पर पारसी विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1936 रखा गया । पारसी विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1936 के उद्देश्यों और कारणों के कथन में स्पष्टतः उक्त स्थिति प्रदर्शित होती है । इसे नीचे दोहराया जा रहा है :–

"उद्देश्यों और कारणों का कथन

इस समय प्रवृत्त पारसी विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1865 में पारित किया गया था । तब से परिस्थितियां बहुत बदल गई हैं और पारसी समुदाय की भावनाओं और विचारों में भी कुछ बदलाव आया है । अतः वर्षों से विधि में कुछ तब्दीली करने की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था । पारसी केंद्रीय संगम ने वर्ष 1923 में यह प्रश्न उठाया था और संशोधनों का सुझाव देने के लिए एक उपसमिति का गठन भी किया था । उपसमिति ने एक रिपोर्ट पेश की जिसे संगम ने मुद्रित कराया और मुंबई और मुंबई के बाहर बहुत से अन्य पारसी संगमों और समुदाय के महत्वपूर्ण व्यक्तियों को उनकी राय जानने के लिए परिचालित किया । बहुत से सुझाव प्राप्त हुए थे जिनमें मुंबई पारसी पंचायत के न्यासियों को सुझाव भी था जिसे अन्य सुझाव देखने का लाभ मिला था । केंद्रीय संगम ने पंचायत न्यासियों के सुझावों को अंगीकार किया और पूरे को पुनः मुद्रित कर परिचालित कराया । संगमों और व्यष्टियों द्वारा समाचारपत्रों और मंचों पर नए सुझाव दिए गए । उन पर न्यासियों और संगम द्वारा पूरा विचार किया गया और वर्तमान प्रारूप उसी का परिणाम है । कुल मिलाकर यह समुदाय के बहुसंख्यक लोगों के दृष्टिकोण को प्रकट करता है और सर दीनशा ई. वाचा और स्वर्गीय सेवानिवृत्त माननीय सर दीनशा एफ. मुल्ला जैसे महत्वपूर्ण पारसियों द्वारा भी इसे अनुमोदित किया गया है ।

(ii) पूर्वोक्त अधिनियमिति का अध्याय 2 पारसियों के बीच विवाहों के विषय के बारे में है । धारा 3 में विधिमान्य पारसी विवाह की अपेक्षाओं का उपबंध है । धारा 6 विवाह के प्रमाणपत्र की अपेक्षा का उल्लेख करती है ।

अध्याय 4 में विभिन्न प्रकार के विवाह विषय वादों का उपबंध है जिसमें धारा 30 अकृतता के लिए वादों के बारे में है । धारा 31 विवाह के विघटन के लिए वादों का उपबंध करती है । विवाह-विच्छेद के आधार धारा 32 में वर्णित है जिसे यहां नीचे दोहराया जा रहा है :-

32. विवाह-विच्छेद के आधार - कोई भी विवाहित व्यक्ति निम्नलिखित आधारों में से किसी एक या अधिक पर विवाह-विच्छेद के लिए वाद ला सकेगा, अर्थात् –

(क) विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् प्रतिवादी द्वारा जानबूझकर विवाहोत्तर संभोग करने से इनकार करने के कारण एक वर्ष के भीतर विवाहोत्तर संभोग नहीं हो पाया है ;

(ख) प्रतिवादी विवाह के समय विकृतचित्त था और वाद की तारीख तक प्रायः ऐसा ही रहा है :

परंतु इस आधार पर विवाह-विच्छेद तभी किया जाएगा जबकि – (1) वादी, विवाह के समय उस तथ्य के बारे में अनभिज्ञ था, और (2) वादी ने विवाह की तारीख से तीन वर्ष के भीतर वाद फाइल कर दिया है ;

(खख) प्रतिवादी वाद फाइल किए जाने के, ठीक पूर्व दो वर्ष या उससे अधिक की अवधि के असाध्य रूप से विकृतचित्त रहा है अथवा निरंतर या आंतरायिक रूप से इस प्रकार के और इस हद तक मानसिक विकार से पीड़ित रहा है कि वादी से युक्तियुक्त रूप से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह प्रतिवादी के साथ रहे ।

स्पष्टीकरण – इस खंड में, –

(क) "मानसिक विकार" पद से मानसिक बीमारी मस्तिष्क का संरोध या अपूर्ण विकास, मनोविकृति या मस्तिष्क का कोई अन्य विकार या निःशक्तता अभिप्रेत है और उसके अंतर्गत विखंडित मनस्कता भी है ;

(ख) "मनोविकृति" पद से मस्तिष्क या दीर्घ-स्थायी विकार या निःशक्तता (चाहे इसमें बुद्धि की अवसामान्यता हो या नहीं) अभिप्रेत है, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिवादी का आचरण सामान्य रूप से आक्रामक या गंभीर रूप से अनुत्तरदायी हो जाता है,

और चाहे उसके लिए चिकित्सीय उपचार अपेक्षित हो या नहीं अथवा ऐसा उपचार किया जा सकता हो या नहीं;

(ग) प्रतिवादी विवाह के समय वादी से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा गर्भवती थी :

परंतु इस आधार पर विवाह-विच्छेद तभी किया जाएगा, जबकि (1) वादी विवाह के समय अभिकथित तथ्य के बारे में अनभिज्ञ था, (2) वाद-विवाद की तारीख से दो वर्ष के भीतर फाइल कर दिया गया है, और (3) वादी को उस तथ्य की जानकारी हो जाने के पश्चात् वैवाहिक संभोग नहीं किया गया है ;

(घ) प्रतिवादी विवाह के पश्चात् जारकर्म या व्यभिचार या द्विविवाह या बलात्संग या कोई अप्राकृतिक अपराध किया है :

परंतु वाद वादी को उस तथ्य की जानकारी होने के दो वर्ष के पश्चात् फाइल किया गया है तो इस आधार पर विवाह-विच्छेद नहीं किया जाएगा ;

(घघ) यह कि प्रतिवादी ने विवाह के अनुष्ठापन के समय से ही वादी के साथ क्रूरता का व्यवहार किया है या इस रूप में आचरण किया है जिससे वादी को प्रतिवादी के साथ रहने के लिए बाध्य करना न्यायालय की राय में अनुचित होगा :

परंतु इस आधार पर विवाह-विच्छेद के प्रत्येक वाद के न्यायालय को यह विवेकाधिकार होगा कि वह डिक्री विवाह-विच्छेद के लिए मंजूर करे या केवल न्यायिक पृथक्करण के लिए ;

(ङ) प्रतिवादी ने विवाह के पश्चात् वादी की स्वेच्छया घोर उपहति की है, या उसने वादी को रतिज रोग संक्रांत किया है या जहां प्रतिवादी पति है, वहां उसने पत्नी को वेश्यावृत्ति के लिए विवश किया है :

(i) घोर उपहति करने के, या

(ii) वादी को संक्रामण की जानकारी होने के, या

(iii) वेश्यावृत्ति के लिए अंतिम बार विवश किए जाने के, दो वर्ष के पश्चात् फाइल किया गया है ;

(च) प्रतिवादी भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) में परिभाषित किसी अपराध के लिए सात वर्ष या उससे अधिक के लिए कारावास का दंड भोग रहा है :

परंतु इस आधार पर विवाह-विच्छेद तभी किया जाएगा जब प्रतिवादी वाद फाइल करने के पूर्व उक्त अवधि में से कम से कम एक वर्ष का कारावास भोग चुका हो ;

(छ) प्रतिवादी ने कम से कम दो वर्ष के लिए वादी का अभित्यजन किया है;

(ज) प्रतिवादी के विरुद्ध वादी को पृथक् भरणपोषण के लिए मजिस्ट्रेट द्वारा आदेश पारित किया जा चुका है, और वह पक्षकारों ने ऐसी डिक्री का आदेश से दो वर्ष या उससे अधिक तक वैवाहिक संभोग नहीं किया है ;

(ञ) प्रतिवादी किसी अन्य धर्म में संपरिवर्तन के कारण पारसी नहीं रह गया है :

परंतु यदि वाद वादी को उस तथ्य की जानकारी होने के दो वर्ष के पश्चात् फाइल किया गया है तो इस आधार पर विवाह-विच्छेद नहीं किया जाएगा ।

(iii) उपर्युक्त के अलावा, संशोधन द्वारा पुरःस्थापित धारा 32ख में पारस्परिक सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद का उपबंध है और धारा 34 में न्यायिक पृथक्करण के लिए वाद का उपबंध है और धारा 36 में दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए वाद का उपबंध है ।

178. (i) विशेष विवाह अधिनियम, 1872 में परस्पर धर्म के विवाह का उपबंध है । इसके स्थान पर विशेष विवाह अधिनियम, 1954 रखा गया । इसके उद्देश्यों और कारणों के कथन को यहां दोहराया जा रहा है :–

"उद्देश्यों और कारणों का कथन

इस विधेयक द्वारा विशेष विवाह अधिनियम, 1872 का पुनरीक्षण और प्रतिस्थापन किया गया है जिससे एक विशेष रूप के विवाह का उपबंध किया जा सके जिसका फायदा, भारत में किसी व्यक्ति द्वारा और विदेशों में सभी भारतीय राष्ट्रिकों द्वारा उठाया जा सके, बिना इस बात को ध्यान में रखे कि विवाह का कोई भी पक्षकार किस धर्म को मानता है । पक्षकार अपने विवाह के अनुष्ठापन के लिए किन्हीं धर्म

क्रियाओं का पालन कर सकता है परंतु विवाह अधिकारियों द्वारा विवाह को रजिस्ट्रीकृत किए जाने से पूर्व कतिपय औपचारिकताएं विहित की गई हैं । विदेशों में भारतीय नागरिकों के फायदे के लिए, विधेयक में 9 विदेश में भारत के नागरिकों के बीच विवाहों के अनुष्ठापन और रजिस्ट्रीकरण के लिए राजनयिक और कौंसलीय अधिकारियों को विवाह अधिकारियों के रूप में नियुक्ति का उपबंध है ।

2. ऐसे व्यक्तियों, जो विवाह के अन्य रूपों के अधीन पहले से विवाहित हैं, को भी इस अधिनियम के अधीन अपने विवाहों को रजिस्ट्रीकृत करवाने की अनुज्ञा देने और इस प्रकार इन उपबंधों का उपभोग करने का उपबंध किए जाने का भी प्रस्ताव है ।

3. उक्त विधेयक का प्रारूपण साधारणतया विद्यमान विशेष विवाह अधिनियम, 1872 के आधार पर किया गया है और इससे संलग्न खंडों पर टिप्पण विधेयक में किए गए परिवर्तनों को अधिक ब्यौरे के साथ स्पष्ट करता है ।

(ii) विशेष विवाहों के अनुष्ठापन के विषय का उपबंध उपर्युक्त अधिनियमिति की धारा 4 में है । धारा 4 विशेष विवाहों के अनुष्ठापन से संबंधित शर्तों का अधिकथन करती है जो विवाह करने की इच्छा रखने वाले पक्षकारों को नोटिस की अपेक्षा करती है जिसकी प्रक्रिया और शर्तों का उल्लेख धारा 5 में है । अधिनियमिति के उपबंध विवाह नोटिस बही में नोटिस की प्रति प्रविष्ट करने और विवाह अधिकारी के कार्यालय में किसी दृश्य स्थल पर उसकी प्रति लगाकर उसका प्रकाशन करने की अपेक्षा करता है । अनुध्यात विवाह की आपत्तियां धारा 7 के अधीन दी जा सकती हैं । ऐसी रीति जिसमें आपत्तियों पर विचार किया जाता है का उपबंध धारा 8, 9 और 10 में है । अधिनियमिति की अध्याय 2 में अनुध्यात औपचारिकताओं के समापन के परिणामस्वरूप पक्षकारों को उनके विवाह संपन्न कराने की अनुज्ञा दी जाती है जिसके लिए विवाह अधिकारी एक विवाह प्रमाणपत्र जारी करेगा जिसे इस तथ्य का निश्चायक साक्ष्य माना जाएगा कि पक्षकारों ने विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के उपबंधों के अधीन विवाह कर लिया है ।

(iii) ऐसे पक्षकार जिन्होंने विभिन्न धर्मों के अधीन संचालित विवाहों के समारोह द्वारा वैवाहिक गठजोड़ कर लिया है और साथ-साथ रह रहे हैं, को भी विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की धारा 15 के अधीन उनके

विवाह को रजिस्टर करने की भी अनुज्ञा दी जाती है ।

(iv) अधिनियमिति का अध्याय 4 अधिनियम के अधीन विवाह के परिणामों के बारे में विचार करता है । अध्याय 5 में दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन और न्यायिक पृथक्करण के उपचार का उपबंध है । अध्याय 6 शून्य और शून्यकरणीय विवाह को परिभाषित करता है और विवाह की अकृतता और विवाह-विच्छेद का भी इसमें उपबंध है । अध्याय 6 में सम्मिलित धारा 27 में विवाह-विच्छेद के आधारों को शामिल किया गया है जिसे यहां नीचे उद्धृत किया जा रहा है :–

27. विवाह-विच्छेद – (1) इस अधिनियम के उपबंधों और तद्धीन बनाए गए नियमों के अध्यधीन रहते हुए विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी जिला न्यायालय में पति या पत्नी द्वारा इस आधार पर पेश की जा सकेगी कि –

(क) प्रत्यर्थी ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अपने पति या अपनी पत्नी से भिन्न किसी व्यक्ति के साथ स्वेच्छया मैथुन किया है ; अथवा

(ख) प्रत्यर्थी ने अर्जी के पेश किए जाने के ठीक पहले कम से कम दो वर्ष की निरंतर कालावधि भर अर्जीदार को अभित्यक्त रखा है ; अथवा

(ग) प्रत्यर्थी भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) में यथा परिभाषित अपराध के लिए सात वर्ष या उससे अधिक के कारावास का दंड भोग रहा है ;

(घ) प्रत्यर्थी ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अर्जीदार से क्रूरता का व्यवहार किया है ; अथवा

(ङ) प्रत्यर्थी असाध्य रूप से विकृत चित्त रहा है अथवा निरंतर या आंतरायिक रूप से इस प्रकार के और इस हद तक मानसिक विकार से पीड़ित रहा है कि अर्जीदार से युक्तियुक्त रूप से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह प्रत्यर्थी के साथ रहे ।

स्पष्टीकरण – (क) इस खंड में 'मानसिक विकार' पद से मानसिक बीमारी, मस्तिष्क का संरोध या अपूर्ण विकास, मनोविकृति या मस्तिष्क का कोई अन्य विकार या निःशक्तता

अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत विखंडित मानसिकता है ;

(ख) 'मनोविकृति' पद से मस्तिष्क का दीर्घ स्थायी विकार या निःशक्तता (चाहे इसमें बुद्धि की असामान्यता हो या नहीं) अभिप्रेत है जिसके परिणामस्वरूप प्रत्यर्थी का आचरण असामान्य रूप से आक्रमक या गंभीर रूप से अनुत्तरदायी हो जाता है और चाहे उसके लिए चिकित्सीय उपचार अपेक्षित हो या नहीं अथवा ऐसा उपचार किया जा सकता हो या नहीं; अथवा

(च) प्रत्यर्थी संचारी रूप के रतिज रोग से पीड़ित रहा है; अथवा

(छ) प्रत्यर्थी कुष्ठ से पीड़ित रहा है जो रोग उसे अर्जीदार से नहीं लगा था ; अथवा

(ज) प्रत्यर्थी के बारे में सात वर्ष या उससे अधिक की कालावधि में उन व्यक्तियों द्वारा, जिन्होंने प्रत्यर्थी के बारे में, यदि वह जीवित होता तो, स्वभाविकतया सुना होता, यह नहीं सुना गया है कि वह जीवित है ।

स्पष्टीकरण – इस उपधारा में 'अभित्यजन' पद से विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा अर्जीदार का ऐसा अभित्यजन अभिप्रेत है जो, उचित हेतुक के बिना और ऐसे पक्षकार की संपत्ति के बिना या इच्छा के विरुद्ध हो और इसके अंतर्गत विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा अर्जीदार की जानबूझकर उपेक्षा करना भी है और इस पद के व्याकरणिक रूपभेदों तथा सजातीय पदों के अर्थ तद्नुसार लगाए जाएंगे ।

(1क) पत्नी की विवाह-विच्छेद के लिए निम्नलिखित आधार पर जिला न्यायालय में अर्जी पेश कर सकेगी –

(i) कि उसका पति विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् बलात्कार, गुदा मैथुन या पशुगमन का दोषी हुआ है ;

(ii) कि हिंदू दत्तक तथा भरणपोषण अधिनियम, 1956 (1956 का 78) की धारा 18 के अधीन बाद में या दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) की धारा 125 के अधीन (या दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 (1898 का 5) की तत्समान धारा 488 के अधीन कार्यवाही में, पत्नी को भरणपोषण दिलवाने के लिए,

पति के विरुद्ध यथास्थिति, डिक्री या आदेश इस बात के होते हुए भी पारित किया गया है कि वह अलग रहती थी और ऐसी डिक्री या आदेश के पारित किए जाने के समय से एक वर्ष या ऊपर की कालावधि भर उन पक्षकारों के बीच सहवास का पुनरारंभ नहीं हुआ है ।

(2) इस अधिनियम के उपबंधों और तद्धीन बनाए गए नियमों के अध्यधीन रहते हुए, विवाह का, जो चाहे विशेष विवाह (संशोधन) अधिनियम, 1970 के प्रारंभ के पूर्व अनुष्ठापित किया गया हो या, उसके पश्चात् कोई पक्षकार विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी जिला न्यायालय में इस आधार पर पेश कर सकेगा कि –

(i) ऐसी कार्यवाही में, जिसके वे पक्षकार थे, न्यायिक पृथक्करण की डिक्री पारित किए जाने के पश्चात् एक वर्ष या उससे अधिक की कालावधि तक विवाह के पक्षकारों के बीच सहवास का पुनरारंभ नहीं हुआ है ; अथवा

(ii) ऐसी कार्यवाही में जिसके वे पक्षकार थे, दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए डिक्री पारित किए जाने के पश्चात् एक वर्ष या उससे अधिक की कालावधि तक विवाह के पक्षकारों के बीच दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन नहीं हुआ है ।

उपर्युक्त के अलावा, धारा 28 में पारस्परिक सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद का उपबंध है ।

179.(i) विदेशीय विवाह अधिनियम, 1969 ने विशेष विवाह अधिनियम, 1954 का अनुसरण किया । इस का अधिनियमन विदेशीय विवाहों से संबंधित विधि की अनिश्चितता के कारण किया गया । विदेशीय विवाह अधिनियम, 1969 के उद्देश्यों और कारणों का कथन उस समग्र दृष्टिकोण को व्यक्त करता है जिसके कारण विधान पारित किया गया । इसे नीचे दोहराया जा रहा है :–

"उद्देश्यों और कारणों का कथन :

यह विधेयक विदेशीय विवाहों से संबंधित विधि पर विधि आयोग की तेईसवीं रिपोर्ट को कार्यान्वित करने के लिए है । इस समय इस विषय पर विधि के संबंध में बड़ी अनिश्चितता है, क्योंकि विद्यमान विधान विषय की ऊपरी सतह का केवल स्पर्श करता है और मामला

प्राइवेट अंतरराष्ट्रीय विधि के सिद्धांतों द्वारा शासित होता है जो कि किसी भी रूप में सुव्यवस्थित नहीं है और जिसको हमारे जैसे किसी देश में फौरी तौर पर लागू नहीं किया जा सकता है, जिसमें विभिन्न समुदायों को विभिन्न विवाह विषयक विधियां लागू होती हैं । विशेष विवाह अधिनियम, 1954 यह उपबंध करके कि ऐसे भारतीय नागरिकों के बीच, जो भारत के निवासी हैं विदेश में इसके अधीन विवाहों का अनुष्ठापन किया जा सकता है, कुछ सीमा तक इस अनिश्चितता को दूर करने के लिए था । संसद् में उक्त अधिनियम के संबंध में हुई चर्चा के दौरान यह अनुरोध किया गया था कि देश से बाहर होने वाले विवाहों के लिए, जिनमें विवाह के पक्षकारों में केवल एक भारतीय है, कोई उपबंध किया जाना चाहिए । इस संदर्भ में, यह आश्वासन दिया गया था कि सरकार, सावधानीपूर्वक विचारोपरांत विदेशीय विवाहों के विषय पर व्यापक विधान पुरःस्थापित करेगी । यह विधेयक उक्त आश्वासन का प्रतिफल है ।

2. विधेयक, विशेष विवाह अधिनियम, 1954 और हमारे देश में विशेष परिस्थितियां होने के कारण, कतिपय महत्वपूर्ण उपांतरणों के अधीन रहते हुए, विदेशीय विवाहों के विषय पर विद्यमान अंग्रेजी और आस्ट्रेलियाई विधान के आधार पर प्रतिरूपित है ।

विधेयक की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :–

(i) यह विवाह को सामर्थ्यकारी रूप देने के लिए न्यूनाधिक विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की तरह जिसका विवाह के पक्षकारों में से किसी एक का भारतीय नागरिक होने की दशा में विदेश में उपयोग किया जा सकता है, उसी आधार पर उपबंध करता है ; उक्त रूप में उपबंधित विवाह पक्षकारों को अनुज्ञात किए जा सकने वाले किन्हीं अन्य प्रकारों का अधिक्रमणकारी न होकर केवल उनके अतिरिक्त या उनका अनुकल्पीय है ।

(ii) यह पक्षकारों की हैसियत और विवाह की विधिमान्यता की शर्तों के संबंध में और कतिपय नियम अधिकथित करने के लिए ईप्सा करता है और विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के समरूप लाइन पर विवाह के रजिस्ट्रीकरण के लिए भी उपबंध करता है ।

(iii) विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के उपबंध, विवाह

विषयक अनुतोषों के संबंध में, यथोचित उपांतरणों के साथ न केवल प्रस्तावित विधान के अधीन अनुष्ठापित या रजिस्ट्रीकृत विवाहों को अपितु विदेश में अनुष्ठापित ऐसे विवाहों को भी लागू करने के लिए ईप्सित हैं जिनमें भारतीय नागरिक एक पक्षकार हैं ।

(ii) विदेशीय विवाह अधिनियम, 1969 के अध्याय 2 में विदेशीय विवाहों के अनुष्ठापन का उपबंध है । उसकी धारा 4 में विदेशीय विवाहों के अनुष्ठापन से संबंधित शर्तें अंतर्विष्ट हैं । धारा 5 में आशयित विवाह की सूचना का उपबंध है । विवाह सूचना पुस्तक में उक्त विवाह को सम्मिलित करने का उपबंध धारा 6 में है । उक्त सूचना का प्रकाशन धारा 7 में उपबंधित हैं । प्रस्तावित विवाह के प्रति आक्षेप धारा 8 के अधीन फाइल किया जा सकता है । विवाह अधिकारी द्वारा शर्तों के पूरा होने और अवधारण के पश्चात् विवाह के अनुष्ठापन के स्थान और रूप का विवरण धारा 13 में है । तदुपरि विवाह अधिकारी से विवाह प्रमाणपत्र प्रविष्ट करने की अपेक्षा है जिसे इस तथ्य के साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाता है कि पक्षकारों के बीच विवाह अनुष्ठापित किया गया । अध्याय 3 अन्य विधियों के अधीन अनुष्ठापित विदेशी विवाहों के रजिस्ट्रीकरण का अधिदेश देता है । धारा 17 में उसकी आवश्यक अपेक्षाओं का उपबंध है ।

(v) यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि वैवाहिक अनुतोष जो विशेष विवाह, 1954 के अधीन उपबंधित हैं (जो उसके अध्याय 4, 5 और 6 में अंतर्विष्ट हैं) विदेशीय विवाह अधिनियम, 1969 (उपर्युक्त पैराग्राफ 179 देखें) के अधीन रजिस्ट्रीकृत विवाहों के लिए स्वीकार किए गए हैं ।

180. मुसलमान इस्लाम के अनुयायी हैं । मुसलमान कुरान को अपना धर्मग्रंथ मानते हैं । उनके स्वीय संबंधों के लिए वे मुस्लिम "स्वीय विधि"-शरीयत का अनुसरण करते हैं । मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1939 में जैसा कि ऊपर पहले उल्लेख किया गया है, अन्य बातों के साथ-साथ तलाक, इला, जिहर, लियन, खुला सहित विवाह और विवाह के विघटन संबंधित मामलों में "निर्णय नियम" का उपबंध है और मुबारक मुस्लिम स्वीय विधि शरीयत होगी और यह किसी रूढ़ि या रीति-रिवाज के प्रतिकूल नहीं है । अतः यह है कि कानूनी हस्तक्षेप द्वारा मुसलमानों के संबंध में स्वीय विधि मामलों से संबंधित मुस्लिम स्वीय विधि के प्रतिकूल

रूढ़ियों और रीति-रिवाजों को दूर किया गया था । मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 में अधिनियमिति की धारा 2 के अधीन मुस्लिम महिलाओं के विवाह के विघटन के आधार उपबंधित हैं । 1937 और 1939 विधानों के प्रतिनिर्देश के ब्यौरे पहले ही भाग 4 मुस्लिम स्वीय विधि के क्षेत्र में भारत में विधान दर्शाए गए हैं । अतः उपर्युक्त भाग 4 का प्रतिनिर्देश किया जा सकता है ।

181. (i) हिंदुओं में विवाह और विवाह-विच्छेद की विधि का अपना रंग-बिरंगा इतिहास है । हिंदू विधि के अनुसार, विवाह एक पवित्र संस्कार है न कि संविदा (जैसाकि यह मुसलमानों के मामले में है) । आरंभतः हिंदू विवाह के आठ रूप थे जिसमें से चार को नियमित और शेष को अनियमित माना जाता था । विवाह का विकल्प अपने निजी धर्म और जाति तक ही सीमित था । बहुविवाह हिंदुओं में अनुज्ञात था किंतु बहु-पतित्व नहीं । विधवा विवाह भी अनुज्ञात नहीं था । हिंदू विवाहों की बाबत विधान का आरंभ 1829 में हुआ जब सती को विधि द्वारा समाप्त किया गया । 1859 में हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम में हिंदू विधवाओं के विवाह को विधिसम्मत किया । वर्ष 1860 में, भारतीय दंड संहिता ने बहु-विवाह को दांडिक अपराध बनाया । 1866 में, देशी समपरिवर्ती विवाह विघटन अधिनियम ने ऐसे हिंदुओं के लिए विवाह-विच्छेद सुकर किया जो ईसाई आस्था रखते हैं । 1872 में, विशेष विवाह अधिनियम, अधिनियमित किया गया किंतु इसने हिंदुओं को अपवर्जित किया । वर्ष 1869 में भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम पारित किया गया किंतु इसे भी हिंदुओं को लागू नहीं बनाया गया । 1909 में, आनंद विवाह अधिनियम ने सिख (ज्ञात-आनंद) में विवाह को विधिसम्मत बनाया । वर्ष 1923 में, विशेष विवाह अधिनियम में एक संशोधन द्वारा हिंदू, बौद्ध, सिख और जैन के बीच अंतरधर्मीय सिविल विवाहों को विधिसम्मत बनाया गया । वर्ष 1937 में, आर्य विवाह विधिमान्यकरण अधिनियम में अंतरजातीय विवाह और आर्य समाज का अनुसरण करने वाले लोगों में हिंदुत्व में संपरिवर्तित के साथ विवाह को विधिसम्मत बनाया । वर्ष 1949 में, हिंदू विवाह विधिमान्यता अधिनियम ने अंतरधर्मीय विवाह को विधिसम्मत बनाया ।

(ii) हिंदू विवाह अधिनियम वर्ष 1955 में पारित किया गया । हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 5 में विधिमान्य हिंदू विवाह की शर्तें उपबंधित हैं । धारा 7 हिंदू विवाह के लिए अपेक्षित कर्मकांड का उपबंध करती है । धारा 8 में हिंदू विवाह के रजिस्ट्रीकरण की अपेक्षा का उपबंध है ।

दाम्पत्य अधिकारों के प्रतिस्थापन और न्यायिक पृथक्करण का उपचार क्रमशः धारा 9 और 10 में उपबंधित है । विवाहों की आवश्यकता और विवाह-विच्छेद से संबंधित उपबंध धारा 11 और 12 में उपबंधित है । विवाह-विच्छेद के आधार धारा 13 में व्यक्त हैं जिसे यहां दोहराया जा रहा है :-

"13. विवाह-विच्छेद – (1) कोई भी विवाह, वह इस अधिनियम के प्रारंभ के चाहे पूर्व अनुष्ठापित हुआ हो चाहे पश्चात्, पति अथवा पत्नी द्वारा उपस्थापित अर्जी पर विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा इस आधार पर विघटित किया जा सकेगा कि –

(i) दूसरे पक्षकार ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अपने पति या अपनी पत्नी से भिन्न किसी व्यक्ति के साथ स्वैच्छया मैथुन किया है ; या

(iक) दूसरे पक्षकार ने विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् अर्जीदार के साथ क्रूरता का व्यवहार किया है ; या

(iख) दूसरे पक्षकार ने अर्जी के पेश किए जाने के अव्यवहित पूर्व कम से कम दो वर्ष की निरंतर कालावधि पर अर्जीदार को अभित्यक्त रखा है ; या

(ii) दूसरा पक्षकार अन्य धर्म में संपरिवर्तित हो जाने के कारण हिंदू नहीं रहा गया है ; या

(iii) दूसरा पक्षकार असाध्य रूप से विकृत-चित्त रहा है अथवा निरंतर या आंतरायिक रूप से इस प्रकार के और इस हद तक मानसिक विकार से पीड़ित रहा है कि अर्जीदार से युक्तियुक्त रूप से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह प्रत्यर्थी के साथ रहे ।

स्पष्टीकरण – इस खंड में, –

(क) 'मानसिक विकार' पद से मानसिक बीमारी, मस्तिष्क का संरोध या अपूर्ण विकास, मनोविकृति या मस्तिष्क का कोई अन्य विकार या निःशक्तता अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत विखंडित मनस्कता भी है ;

(ख) 'मनोविकृति' पद से मस्तिष्क का दीर्घ स्थायी विकार या निःशक्तता (चाहे इसमें वृद्धि की अवसामान्यता हो या नहीं)

अभिप्रेत है जिसके परिणामस्वरूप दूसरे पक्षकार का आचरण असामान्य रूप से आक्रामक या गंभीर रूप से अनुत्तरदायी हो जाता है और चाहे उसके लिए चिकित्सीय उपचार अपेक्षित हो या नहीं अथवा ऐसा उपचार किया जा सकता हो या नहीं ; या

(iv) दूसरा पक्षकार उग्र और असाध्य कुष्ठ से पीड़ित रहा है ; या

(v) दूसरा पक्षकार संचारी रूप से रतिज रोग से पीड़ित रहा है ; या

(vi) दूसरा पक्षकार किसी धार्मिक पंथ के अनुसार प्रब्रज्या ग्रहण कर चुका है ; या

(vii) दूसरा पक्षकार जीवित है या नहीं इसके बारे में सात वर्ष या उससे अधिक कालावधि के भीतर उन्होंने कुछ नहीं सुना है जिन्होंने उसके बारे में यदि वह पक्षकार जीवित होता तो स्वभाविकतः सुना होता ।

स्पष्टीकरण – इस उपधारा में 'अभित्यजन' पद से विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा अर्जीदार का ऐसा अभित्यजन अभिप्रेत है जो युक्तियुक्त कारण के बिना और ऐसे पक्षकार की सम्मति के बिना या इच्छा के विरुद्ध हो और इसके अंतर्गत विवाह के दूसरे पक्षकार द्वारा जानबूझकर अर्जीदार की उपेक्षा करना भी है और इस पद के व्याकरणीक रूप भेदों तथा सजातीय पदों के अर्थ तद्नुसार लगाए जाएंगे ।

(1क) विवाह का कोई भी पक्षकार, विवाह इस अधिनियम के प्रारंभ के चाहे पूर्व अनुष्ठापित हुआ हो चाहे पश्चात्, विवाह-विच्छेद को डिक्री द्वारा विवाह के विघटन के लिए इस आधार पर भी अर्जी उपस्थापित कर सकेगा –

(i) कि ऐसी कार्यवाही में पारित, जिसके उस विवाह के पक्षकार, पक्षकार थे, न्यायिक पृथक्करण की डिक्री के कारण के पश्चात् एक वर्ष या उससे ऊपर की कालावधि भर उन पक्षकारों के बीच सहवास का कोई पुनरारंभ नहीं हुआ है ; या

(ii) कि ऐसी कार्यवाही में पारित, जिसके उस विवाह के पक्षकार, पक्षकार थे, दाम्पत्याधिकार के प्रत्यास्थापन की डिक्री

के पश्चात् एक वर्ष या उससे ऊपर की कालावधि भर, उन पक्षकारों के बीच दाम्पत्याधिकारों का कोई प्रत्यास्थापन नहीं हुआ है ।

(2) पत्नी विवाह-विच्छेद की डिक्री द्वारा अपने विवाह के विघटन के लिए इस आधार पर भी अर्जी उपस्थापित कर सकेगी –

(i) कि इस अधिनियम के प्रारंभ के पूर्व अनुष्ठापित विवाह की दशा में, पति ने ऐसे प्रारंभ के पूर्व फिर विवाह कर लिया था या कि अर्जीदार के विवाह के अनुष्ठान के समय पति की कोई ऐसी दूसरी पत्नी जीवित थी जिसके साथ उसका विवाह ऐसे प्रारंभ के पूर्व हुआ था :

परंतु यह तब जब कि दोनों दशाओं में दूसरी पत्नी अर्जी के उपस्थापन के समय जीवित हो ; या

(ii) कि पति विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् बलात्संग, गुदामैथुन या पशुगमन का दोषी रहा है ; या

(iii) कि हिंदू दत्तक तथा भरणपोषण अधिनियम, 1956 (1956 का 78) की धारा 18 के अधीन वाद में या दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) की धारा 125 के अधीन या दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 (1898 का 5) की तत्समान धारा 488 के अधीन कार्यवाही में, पत्नी को भरणपोषण दिलवाने के लिए पति के विरुद्ध, यथास्थिति, डिक्री या आदेश इस बात के होते हुए भी पारित किया गया है कि वह अलग रहती थी और ऐसी डिक्री या आदेश के पारित किए जाने के समय से एक वर्ष या उससे ऊपर की कालावधि भर पक्षकारों के बीच सहवास का पुनरारंभ नहीं हुआ है ;

(iv) कि उसका विवाह (चाहे विहाहोत्तर संभोग हुआ हो या नहीं) उसकी पंद्रह वर्ष की आयु हो जाने के पूर्व अनुष्ठापित किया गया था और उसने पंद्रह वर्ष की आयु प्राप्त करने के पश्चात् किंतु अठारह वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व विवाह का निराकरण कर दिया है ।

स्पष्टीकरण – यह खंड उस विवाह को भी लागू होगा जो विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 (1976 का 68) के

प्रारंभ के पूर्व या उसके पश्चात् अनुष्ठापित किया गया है ।

पश्चात्वर्ती संशोधनों द्वारा, धारा 13ख जोड़ा गया जो पारस्परिक सहमति द्वारा विवाह-विच्छेद का उपबंध करती है ।

182. स्वीय विधि से संबंधित विशेषकर विभिन्न धार्मिक समुदायों के विवाह और विवाह-विच्छेद के मुद्दों से संबंधित विषयों के भारत में विधान से संबंधित ब्यौरों का परिशीलन करने से यह प्रकट होता है कि स्वीय विधि द्वारा शासित सभी मुद्दों का प्रवर्तन विधान द्वारा ही किया गया था । उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए कुछ निर्णयों के सिवाय हमारे ध्यान में न्यायिक हस्तक्षेप का एक भी दृष्टांत नहीं लाया गया (विस्तार के लिए भाग 6 तलाक-ए-बिद्दत के विषय पर न्यायिक निर्णय देखें) । तथापि, इन निर्णयों ने आक्रमण के विरुद्ध निर्वचनात्मक अनुक्रम का ही प्रयास किया । उपर्युक्त वर्णित ब्यौरे ईसाई, पारसी, अंतरधर्मीय विवाह, बौद्ध, सिख और जैन सहित मुसलमान और हिंदू की बीच विवाह से संबंधित हैं । संविधान के अधीन स्वतंत्रता पूर्व अवधि और स्वतंत्रता पश्चात् अवधि के दौरान निरंतर प्रथा से स्पष्ट और असंदिग्ध अनुक्रम प्रदर्शित होता है अर्थात् विवाह और विवाह-विच्छेद (जो स्वीय विधि के अभिन्न संघटक हैं) के सुधार केवल विधान के माध्यम से ही किए गए थे । अतः पहले से ही अभिलिखित निष्कर्ष के सातत्य में अर्थात् यह कि सभी न्यायालयों का मूल अधिकार के रूप में स्वीय विधि को सुरक्षित और संरक्षित रखने का संवैधानिक कर्तव्य है, अतः उसमें कोई परिवर्तन संविधान की सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 के साथ अनुच्छेद 25(2) और 44 के अधीन विधान द्वारा ही किया जा सकता है ।

(ix) तलाक-ए-बिद्दत पर अंतरराष्ट्रीय कन्वेंसनों और घोषणाओं का प्रभाव –

183. अधिकांश ऐसे विद्वान् काउंसेल जिन्होंने याचियों के वाद के समर्थन में सहायता दी, ने यह बल दिया कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा अननुज्ञेय हो गई जैसे ही भारत ने ऐसे अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं का हस्ताक्षरकर्ता बनने की स्वीकृति दी जिसके अनुसार प्रथा पूर्णतः विरोध में थी । यह निवेदन किया गया कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा का बना रहना अंतरराष्ट्रीय रूप से देश की छवि को धूमिल करती है क्योंकि राष्ट्र को उन अभिसमयों, घोषणाओं के व्यतिक्रमी के रूप में अंतरराष्ट्रीय रूप से देखा जाता है । यह इंगित किया गया कि तलाक-ए-बिद्दत को भिज्ञता से न रोककर और प्रथा को अपनाए जाने की जानबूझकर

अनुज्ञा देकर भारत में जारी रखने और प्रचार करने के रूप में रखा गया जिसे अंतरराष्ट्रीय समुदाय घृणात्मक समझता है । अतः, यह निवेदन किया गया कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा को विधि की दृष्टि से अस्वीकार्य रूप में घोषित किया जाए क्योंकि यह अंतरराष्ट्रीय कन्वेशनों और घोषणाओं के प्रतिकूल है ।

184. पहली नजर में, हम विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल सुश्री इंदिरा जय सिंह द्वारा दिए गए निवेदनों को संक्षेप में इंगित करते हैं । उन्होंने काफी पहले वर्ष 1948 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा अंगीकृत सार्वभौमिक मानव अधिकार घोषणा का अवलंब लिया । उन्होंने यह बल देने के लिए उसकी उद्देशिका की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया कि घोषणा ने मानवों की अंतर्निहित गरिमा को समान और असंक्राम्य के रूप में मान्यता प्रदान की । उन्होंने इस तथ्य को उजागर किया कि घोषणा में गरिमा और अधिकार में महिला और पुरुष दोनों के लिए समान अधिकार व्यक्त हैं । इसके लिए उन्होंने घोषणा के अनुच्छेद 1 का अवलंब लिया । अनुच्छेद 2 को निर्दिष्ट करते हुए, उन्होंने प्राख्यान किया कि लिंग के आधार पर कोई विभेद नहीं किया जा सकता । विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने घोषणा जिसका भारत हस्ताक्षरकर्ता है, को प्रभावी बनाने के लिए इस न्यायालय की अंतःचेतना का आह्वान किया । इस न्यायालय का ध्यान आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार पर अंतरराष्ट्रीय अभिसमय (आई.सी.ई.एस.सी.आर.) की ओर भी आकृष्ट किया गया । जिसका इंगित लक्ष्य लिंग के आधार पर विभेद सहित सभी प्रकार के विभेद को दूर करना था । यह उजागर किया गया कि महिलाओं के अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय अभिसमय विधेयक की पुष्टि 189 राज्यों द्वारा की गई है । उसके अनुच्छेद 1 को निर्दिष्ट करते हुए यह निवेदन किया गया कि अभिसमय का उद्देश्य महिलाओं के विरुद्ध विभेद को समूल नष्ट करना है । यह निवेदन किया गया कि पूर्वोक्त अभिसमय पर हस्ताक्षर करने के पश्चात्, यह सभी हस्ताक्षरकर्ता राज्यों का दायित्व है कि महिलाओं के विरुद्ध सभी तरह के विभेदों को दूर करने के लिए सकारात्मक और प्रभावी कदम उठाएं । यह उजागर किया गया कि तलाक-ए-बिद्दत महिलाओं के विरुद्ध विभेद का निकृष्टतम रूप है ।

185. भारत के विद्वान् महान्यायवादी ने वर्तमान दलील का जोरदार रूप से समर्थन किया । उनका यह इंगित प्राख्यान था कि भारत राज्य अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों में प्रतिष्ठापित सिद्धांतों का पालन करने के लिए बाध्य है । यह उजागर किया गया कि भारत संयुक्त राष्ट्र का मूल सदस्य

है और इसके चार्टर द्वारा आबद्ध है । यह इंगित किया गया कि मानव अधिकार के रूप में लिंग समता का उपबंध विभिन्न अभिसमयों और घोषणाओं में किया गया है । हम विद्वान् महान्यायवादी के द्वारा पक्षपोषित निवेदनों को दोहराने की आवश्यकता नहीं समझते जिन्होंने अपने अनुरोध के समर्थन में बड़ी मेहनत से उल्लेख किया कि तलाक-ए-बिद्दत ऐसी प्रथा है जो ऐसे अनेक अभिसमयों का अतिक्रमण करती है जिसका भारत हस्ताक्षरकर्ता है । इस बाबत ब्यौरे विद्वान् महान्यायवादी द्वारा दिए गए निवेदनों को अभिलिखित करते समय हमारे द्वारा पैरा 74 में अभिलिखित किए गए हैं । उसे उपर्युक्त संक्षिप्त रूप से वर्णित निवेदनों के आगे यहां पढ़ा जाए ।

186. हमने अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं के सूचक प्रतिनिर्देश से याचियों की ओर से दिए गए निवेदनों पर विचार किया । हमें तनिक भी संदेह नहीं है कि भारत राज्य लिंग समता के प्रति वचनबद्ध है । यह संविधान के अनुच्छेद 14 का स्पष्ट अधिदेश है । भारत लिंग के आधार पर विभेद का उन्मूलन करने के लिए भी वचनबद्ध है । संविधान के अनुच्छेद 15 और 16 लिंग के आधार पर किसी प्रकार के विभेद का प्रतिषेध करते हैं । अतः, तलाक-ए-बिद्दत के विवाद्यक की परीक्षा करते समय, अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं से पीछे हटने का कोई कारण या आवश्यकता नहीं है । स्वयं भारतीय संविधान में इसका उपबंध है ।

187. हमारे लिए उनकी ओर से जो याचियों के वाद का समर्थन करते हैं दिए गए निवेदन जो अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं के सूचक प्रतिनिर्देश से याचियों के वाद को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है जो संविधान के अनुच्छेद 25 पर आधारित है जिसके द्वारा सभी धार्मिक समुदायों की स्वीय विधि को संरक्षित किए जाने की ईप्सा की गई है । धार्मिक वर्गों की स्वीय विधियों के संरक्षण को मूल अधिकार की हैसियत दी गई है क्योंकि संविधान का अनुच्छेद 25 जो स्वीय विधि को ऐसा संरक्षण प्रदान करता है, संविधान के भाग 3 (मूल अधिकार) का भाग है । अतः, यह स्पष्ट है कि जब भारत का संविधान ऐसे सभी अभिसमयों और घोषणाओं का समर्थन करता है जो लिंग समता की मांग करते हैं, संविधान, स्वीय विधि का संरक्षण करता है जिसके माध्यम से धार्मिक समुदाय और वर्ग अपवाद के रूप में स्वयं को शासित मानते हैं ।

188. विषय पर इस न्यायालय द्वारा दिए गए कई निर्णयों से हमारी

अभिपुष्टि का पता लगाया जा सकता है कि अंतरराष्ट्रीय अभिसमय और घोषणाएं उस विस्तार तक आबद्धकर नहीं है जहां तक वे देशज विधियों के प्रतिकूल हैं । नीचे उनमें से कुछ का प्रतिनिर्देश किया जा रहा है :–

(i) **एपेरेल एक्पोर्ट प्रोमोशन काउंसिल** बनाम **ए. के. चोपड़ा**[1]

इस मामले में, इस न्यायालय के समक्ष विचारार्थ यह प्रश्न उद्‌भूत हुआ कि क्या अधीनस्थ महिला कर्मचारी के विरुद्ध वरिष्ठ की कार्रवाई जो नैतिक अनुशास्ति के विरुद्ध है, लैंगिक उत्पीड़न के समान न होने वाले शालीनता और विनम्रता की कसौटी पर खरा उतर सकता है ? उद्‌भूत प्रश्न यह था, कि क्या यह अभिकथन कि वरिष्ठ द्वारा कार्यस्थल पर अवर महिला कर्मचारी के शीलभंग का प्रयास करना वरिष्ठ से प्रत्याशित आचरण और व्यवहार का अशोभनीय कार्य गठित करता है ? और क्या अवर महिला कर्मचारी को उपचारात्मक कार्रवाई करने का उपाय है ? उपर्युक्त प्रतिपादना की परीक्षा करते समय, इस न्यायालय ने अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं का अवलंब लेते हुए, यह अभिनिर्धारित करते हुए इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला कि इसे तब तक प्रभावी बनाया जाना चाहिए जब तक वे देशज विधियों के प्रतिकूल न हो –

'26. इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कार्यस्थलों पर लैंगिक उत्पीड़न की प्रत्येक घटना, लिंग समता तथा प्राण और स्वतंत्रता के मूल अधिकारों – जो संविधान द्वारा गारंटीकृत दो मूल्यवान मूल अधिकार हैं, का अतिक्रमण करती है । मनीला में, वर्ष 1993 में हुई अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की सेमिनार में इस बात को माना गया कि कार्यस्थल पर महिला का लैंगिक उत्पीड़न, महिला के प्रति लिंग विभेद का रूप है । हमारे मत में, हमारे संविधान के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकारों की अंतर्वस्तुएं, लैंगिक उत्पीड़न और दुरुपयोग के निवारण को सम्मिलित करते हुए लिंग समता के सभी पहलुओं को अपनी परिधि में लेती हैं और उन मूल अधिकारों की संरक्षा और उन्हें बनाए रखने के लिए न्यायालय सांविधानिक बाध्यताधीन हैं । कार्यस्थल पर महिला का लैंगिक उत्पीड़न महिला की गरिमा और सम्मान के विरुद्ध है और समाप्त किया जाना चाहिए और

[1] (1999) 1 एस. सी. सी. 759.

इस पर चर्चा की कोई आवश्यकता नहीं है कि ऐसे अतिक्रमणों के साथ कोई समझौता नहीं किया जा सकता । अंतरराष्ट्रीय लिखतों, जैसे – अभिसमय आन दि एलिमिनेशन आफ आल फार्म्स आफ डिस्क्रिमिनेशन अगेंस्ट वूमेन, 1979 (सी. ई. डी. ए. डब्ल्यू.) और बीजिंग घोषणा जो सभी सदस्य राज्यों से महिलाओं की गरिमा और सम्मान की संरक्षा के लिए कदमों को उठाने के अलावा महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेदों को रोकने के लिए उपयुक्त अध्युपाय करने का निदेश देते हैं, का संदेश स्पष्ट है । आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा में विशेष रूप से महिलाओं के लिए अनेक महत्वपूर्ण उपबंध अंतर्विष्ट हैं । अनुच्छेद 7, कार्य की ऋजु दशाओं के संबंध में उसके अधिकार को मान्यता देता है और यह स्पष्ट करता है कि महिलाओं के साथ कार्यस्थलों पर लैंगिक उत्पीड़न नहीं किया जाना चाहिए जो कार्य वातावरण को दूषित करे । ये अंतरराष्ट्रीय लिखत भारत राज्य पर भी यह बाध्यता डालते हैं कि इसके कानूनों को लिंग सुग्राही बनाए और न्यायालय यह सुनिश्चित करने को बाध्यताधीन है कि अंतरराष्ट्रीय लिखतों का संदेश दबा न दिया जाए । इस न्यायालय ने अनेक मामलों में इस पर जोर दिया है कि सांविधानिक अपेक्षाओं पर चर्चा करते समय न्यायालय और काउंसेलों को अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और लिखतों में सन्निहित मुख्य सिद्धांत को कभी नहीं भूलना चाहिए और जहां तक संभव हो सके उन अंतरराष्ट्रीय लिखतों में अंतर्विष्ट सिद्धांतों को लागू करना चाहिए । आंतरिक विधियों का अर्थान्वयन करने के लिए और इससे भी अधिक जब उनके बीच कोई असंगतता नहीं है और जहां इस संबंध में अतिरिक्त विधि न हो वहां न्यायालय अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और मानकों को सम्यक् महत्व देने को बाध्यताधीन है । (देखिए प्रेम शंकर **बनाम** दिल्ली प्रशासन, मेकिनन मेकेंजी एंड कंपनी **बनाम** आडे डिकोस्टा, शीला बर्से **बनाम** सचिव, बाल सहायता सोसाइटी, विशाका और अन्य **बनाम** राजस्थान राज्य और अन्य, पीपुल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज **बनाम** भारत संघ और एक अन्य और डी. के. बसु और एक अन्य **बनाम** पश्चिम बंगाल राज्य और एक अन्य वाले

मामले ।

27. उन मामलों में, जिनमें मानव अधिकारों का अतिक्रमण अंतर्वलित है, न्यायालयों को सदैव अंतरराष्ट्रीय लिखतों और अभिसमयों को ध्यान में रखना चाहिए और उन्हें किसी भी ऐसे मामले में लागू करना चाहिए जहां किसी क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय मानकों और आंतरिक कानून के बीच कोई असंगतता न हो । वर्तमान मामले में, यह प्रतीत होता है कि मामले पर विचार करते समय उच्च न्यायालय ने अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और मानकों के आशय और अंतर्वस्तुओं का बिल्कुल ही अनदेखा किया है ।'

(ii) **कृष्ण जनार्दन भट** बनाम **दत्तात्रेय जी हेगड़े**[1]

इस मामले में, इस न्यायालय ने परक्राम्य लिखित अधिनियम, 1881 के अधीन सबूत के भार का सही आशय अवधारित करने के लिए अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों का अवलंब लिया । इस न्यायालय ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया –

'44. निर्दोषिता की उपधारणा एक मानव अधिकार है (नरेन्द्र सिंह **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य, रंजीत सिंह ब्रह्मजीत सिंह शर्मा **बनाम** महाराष्ट्र राज्य और राजेश रंजन यादव **बनाम** केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो वाले मामले देखें) । यूरोपियन मानव अधिकार अभिसमय के अनुच्छेद 6(2) में यह उपबंध है : 'दंड अपराध से आरोपी प्रत्येक व्यक्ति को तब तक निर्दोष समझा जाएगा जब तक वह विधि के अनुसार दोषी साबित न हो जाए ।' यद्यपि, भारत पूर्वोक्त अभिसमय द्वारा आबद्ध नहीं है और इस प्रकार अभिसमय के साथ कामन ला को लागू करने के लिए यूरोपीय अभिसमय गठित करने वाले देशों की तरह यह आवश्यक नहीं हो सकता, फिर भी अभियुक्त के अधिकार और समाज के हित के बीच संतुलन पर विचार किया जाना अपेक्षित है । तथापि, भारत में, कानूनी अधिक्षेपों के अधीन उक्त सिद्धांत आपराधिक विधि शास्त्र का आधार गठित करता है । पूर्वोक्त प्रयोजन के लिए, अपराध की प्रकृति, गंभीरता और उसकी गुणता पर भी विचार किया जाना चाहिए । न्यायालयों को यह अवश्य देखना चाहिए कि परक्राम्य लिखित अधिनियम की धारा 139 के अधीन

---

[1] (2008) 4 एस. सी. सी. 54.

यथा अनुध्यात उपधारणा की मात्र उपयोजिता के आधार पर, यह अन्याय या गलत दोषसिद्धि को अग्रसर नहीं कर सकेगा । यह पूर्वोक्त कारण ही है कि हमने विषय पर लागू विनिश्चयों पर विचार किया जहां नकारात्मकता को साबित करने की कठिनाई पर बल दिया गया । यह सुझाव नहीं दिया गया है कि नकारात्मकता को कभी साबित नहीं किया जा सकता किंतु ऐसे मामले हैं जहां अभियुक्त द्वारा ऐसी कठिनाइयों का सामना किया जाता है अर्थात् तथ्य की निष्कपट और युक्तियुक्त भूल । हाल ही के 2007 सी. एल. जे. (मार्च भाग) 142 में प्रकाशित निर्दोषिता की उपधारणा और प्रतिकूल भाग : संतुलित कर्तव्य वाले लेख में यह कहा गया है –

> 'यह अवधारित करते समय कि क्या प्रतिकूल भार निर्दोषिता की उपधारणा से संगत है, सबूत के व्यवहार को भी ध्यान में लिया जाना चाहिए । प्रतिकूल भार के बिना दोष साबित करना अभियोजन के लिए कितना कठिन होगा ? कैसे एक निर्दोष प्रतिवादी प्रतिकूल भार का निर्वहन आसानी से कर सकेगा ? किंतु न्यायालय इन व्यावहारिक विचारों को प्रतिवादी के विधिसम्मत अधिकारों पर अभिभावी होने की अनुज्ञा नहीं देंगे । व्यवहारिकता का अधिक महत्व होगा जहां प्रतिकूल भाग अधिक अन्याय का खतरा पैदा न करते हों - जहां अपराध अधिक गंभीर न हो या प्रतिकूल भार का दोष साबित करने के आनुषंगिक विषय से ही संबंध हो । और नियामक वातावरण में अभियोजनात्मक दक्षता को अधिक महत्व दिया जाएगा ।'

45. हमें इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि उक्त उपबंध का अंतःस्थापन देश के बढ़ते कारबार, व्यापार, वाणिज्य और औद्योगिक क्रियाकलापों और वित्तीय मामलों में अधिक चौकसी बढ़ाने के कठोर दायित्व को विनियमित करने और चैक काटने वाले ने लेनदार की आस्था जो भारत जैसे विकासशील देश के आर्थिक जीवन के लिए आवश्यक है, को सुरक्षित रखने के लिए किया गया है । तथापि, इसका यह अर्थ नहीं होगा कि न्यायालय ठोस वास्तविकताओं के प्रति अपनी आंखें मूंद लेगा । कानून बढ़ती उपधारणा का अधिदेश देता है किंतु यह उसको रोक देता है । यह ऐसा नहीं कहता कि कैसे निकाली गई

उपधारणों को खंडित किया जाए । विधि शास्त्र का अन्य महत्वपूर्ण सिद्धांत अर्थात् मानव अधिकार के रूप में निर्दोषिता की उपधारणा और धारा 139 द्वारा अंतःस्थापित प्रतिकूल भार के सिद्धांत को सोच-समझकर संतुलित किया जाना चाहिए । निर्विवादतः ऐसा संतुलनकारी कार्य व्यापकतः प्रत्येक मामले के तथ्यात्मक विषय, अभिलेख पर प्रस्तुत की गई सामग्री और इसके लिए लागू विधिक सिद्धांतों पर निर्भर होगा ।'

(iii) **केरल राज्य** बनाम **पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज**[1]

वर्तमान में विचारार्थ मुद्दा, देशी और जनजातीय जनसंख्या अभिसमय, 1957 और देशी लोगों के अधिकारों की घोषणा, 2007 की आबद्धकारी प्रकृति के प्रतिनिर्देश के संबंध में है । यद्यपि, भारत ने अभिसमय और घोषणा की पुष्टि कर दी है, यह अभिनिर्धारित किया गया कि ये आबद्धकर नहीं है । उपर्युक्त निर्णय में अभिलिखित निम्नलिखित मताभिव्यक्तियों का प्रतिनिर्देश किया जा सकता है –

'105. हमें यह ध्यान देना चाहिए कि देशी और जनजातीय जनसंख्या अभिसमय, 1957 जिसकी पुष्टि भारत सहित 27 देशों द्वारा की गई है, में निम्नलिखित खंड अंतर्विष्ट हैं –

अनुच्छेद 11. ऐसी भूमि जिसे पारंपरिक रूप से ये लोग अधिभोग करते हैं, पर संबद्ध जनसंख्या के सदस्यों का सामूहिक या व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को मान्यता दी जाएगी ।

अनुच्छेद 12.1 संबद्ध लोगों को राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय सुरक्षा से संबंधित कारणों के विनियमन या उक्त लोगों के राष्ट्रीय आर्थिक विकास या स्वास्थ्य के हित के सिवाय उनके आवासीय भू-क्षेत्रों से उनकी स्वतंत्र सहमति के बिना नहीं हटाया जाएगा ।

2. जब ऐसे मामलों में आपवादिक उपाय के रूप में इन लोगों को हटाना आवश्यक हो तो उनकी वर्तमान आवश्यकताओं और भावी विकास के लिए उपयुक्त कम से कम उनके द्वारा पहले से अधिभोग की गई भूमि के

[1] (2009) 8 एस. सी. सी. 46.

बराबर गुणता की भूमि उपलब्ध कराई जाएगी । ऐसे मामलों में जहां अनुकल्पीय रोजगार का अवसर विद्यमान हो और जहां संबद्ध जनसंख्या धन में या माल में प्रतिकर पाने का अधिमान करे वहां समुचित गारंटी के साथ उन्हें इस प्रकार प्रतिकर दिया जाएगा ।

3. इस प्रकार हटाए गए व्यक्तियों की किसी परिणामी हानि या क्षति के लिए पूर्ण प्रतिकर दिया जाएगा ।

अनुच्छेद 13.1 स्वामित्व के अधिकार के परेषण और भूमि के उपयोग की प्रक्रिया जो संबद्ध लोगों की रूढ़ियों द्वारा स्थापित हैं, का राष्ट्रीय विधि और विनियम की अवसंरचना के भीतर सम्मान किया जाएगा जहां तक वे इन लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और उनके आर्थिक और सामाजिक विकास में कोई अड़चन नहीं डालते ।

2. ऐसे सदस्यों की भूमि के स्वामित्व या उपयोग को अर्जित करने के लिए इनकी रूढ़ियों का फायदा लेने या इन लोगों की ओर से विधियों की समझ की कमी का फायदा लेने से ऐसे व्यक्तियों को रोकने की व्यवस्था की जाएगी जो संबद्ध जनसंख्या के सदस्य नहीं हैं ।'

इस प्रकार आपवादिक उपाय के द्वारा लोगों को हटाने से इनकार नहीं किया जाता है । यह केवल ऐसी शर्त के अधीन है कि उनकी वर्तमान आवश्यकताओं और भावी विकास के लिए उपयुक्त उनके द्वारा पहले से अधिभोग की गई भूमियों के लिए कम से कम समान गुणता की भूमि उपलब्ध कराई जाए । तथापि, हमें यह ध्यान देना चाहिए कि 1989 में हुए अभिसमय में कई देशों द्वारा इस अभिसमय की पुष्टि नहीं की गई है । ऐसे जिन्होंने 1989 के अभिसमय की पुष्टि की है, इसके द्वारा आबद्ध नहीं है ।

106. तथापि, संयुक्त राष्ट्र में सितंबर, 2017 में देशी लोगों के अधिकारों की घोषणा को अंगीकार किया । उसका अनुच्छेद 3 से 5 इस प्रकार है –

'3. स्वदेशी लोगों को आत्म अवधारण का अधिकार है । उसके अधिकार के आधार पर वे स्वतंत्रतः अपने राजनैतिक प्रास्थिति का अवधारण करते हैं और स्वतंत्रतः अपने आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास करते हैं ।

4. आत्म अवधारण के अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए, स्वदेशी व्यक्तियों को अपने आंतरिक और स्थानीय क्रियाकलापों और अपने स्वायत्तशासी कृत्यों का वित्त पोषण करने के साधन से संबंधित विषयों में स्वायत्तता या स्वशासन का अधिकार है ।

5. स्वदेशी व्यक्तियों को राज्य के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में पूर्णतः भाग लेने के अपने अधिकार को प्रतिधारित करते हुए, यदि वे ऐसा चयन करते हैं, अपने सुभिन्न राजनैतिक, विधिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं को बनाए रखने और मजबूत करने का अधिकार है ।'

107. अब यह स्वीकार किया जाता है कि पंचशील सिद्धांत जिसमें यह उपबंध है कि जनजातीयों की तभी उन्नति और विकास हो सकता है यदि राज्य न्यूनतम हस्तक्षेप करे और अधिक कार्य करे क्योंकि कालांतर को ध्यान में रखते हुए, समर्थन व्यवस्था अब विधिमान्य नहीं है । वर्ष 1989 अभिसमय में अंतर्विष्ट स्वायत्तता की धारणा को भी भारत ने खारिज कर दिया है, तथापि, यह प्रतीत होता है कि भारत ने जनजातीय लोगों के लिए स्वायत्तता के विरुद्ध अपने आधार में कुछ नरमी लाई है और उसने स्वदेशी लोगों के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र घोषणा के पक्ष में मत दिया है जो स्वायत्तता के विभिन्न अधिकारों की पुष्टि करती है जो विश्व के जनजातीय लोगों में स्वाभाविक हैं । तथापि, यह घोषणा आबद्धकर नहीं है ।"

(iv) **सफाई कर्मचारी आंदोलन** बनाम **भारत संघ**[1]

इस मामले में, उद्भूत विचारार्थ प्रश्न हाथ से मल उठाने की

---

[1] (2014) 11 एस. सी. सी. 224.

अमानवीय प्रथा की विधिमान्यता के संबंध में है जो नंगे हाथ, झाड़ू या धातु के स्क्रैपर से सूखे शौचालय से मानव मल को हटाने और तदुपरि, निपटान के लिए टोकरी में डाले जाने के स्थान तक इसे ले जाने के संबंध में है । अंतरराष्ट्रीय अभिसमय और घोषणाओं के संदर्भ में विवाद्यक पर विचार करते हुए, इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :–

'16. संविधान के उपबंधों के अलावा ऐसे अनेक अंतरराष्ट्रीय अभिसमय और प्रसंविदाएं हैं जिसका भारत पक्षकार है, जो हाथ से मल ढोने के अमानवीय प्रथा को अभिनिषिद्ध करते हैं । ये मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (यू. डी. एच. आर.), सभी प्रकार के रंगभेद विभेद के उन्मूलन का अभिसमय (सी. ई. आर. डी.) और महिलाओं के विरुद्ध सभी प्रकार के विभेद के उन्मूलन का अभिसमय (सी. ई. डी. ए. डब्ल्यू.) हैं । यू. डी. एच. आर., सी. ई. आर. डी. और सी. ई. डी. ए. डब्ल्यू. के सुसंगत उपबंध इस प्रकार हैं –

यू. डी. एच. आर. का अनुच्छेद 1.

'1. सभी मानव जाति का जन्म स्वतंत्र रूप से हुआ है और गरिमा तथा अधिकारों में समानता है । उनमें तर्क और अंतःकरण का वरदान है और आपस में एक दूसरे के प्रति भातृ भाव से कार्य करना चाहिए ।'

यू. डी. एच. आर. का अनुच्छेद 2.

'2. प्रत्येक व्यक्ति मूलवंश, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक या अन्य राय, राष्ट्रीय या सामाजिक उद्भव, संपत्ति, जन्म या अन्य हैसियत जैसे किसी प्रकार के विभेद के बिना इस घोषणा में उपवर्णित सभी अधिकारों और स्वतंत्रता का हकदार हैं ।'

यू. डी. एच. आर. का अनुच्छेद 23(3)

'23(3) ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो कार्य करता है, को मानव गरिमा के विद्यमान क्षमता के अनुसार स्वयं और अपने कुटुम्ब के योग्य ठीक और अनुकूल पारिश्रमिक पाने का अधिकार है और यदि आवश्यक हो तो सामाजिक संरक्षण के अन्य माध्यम द्वारा पूरा किया जाएगा ।'

सी. ई. डी. ए. डब्ल्यू. का अनुच्छेद 5(क)

'5. राज्य पक्षकार निम्नलिखित के संबंध में सभी समुचित कार्रवाई करेगा –

(क) पक्षपात को दूर करने और रूढ़िगत तथा सभी अन्य प्रथाएं जो दोनों लिंगों के वरीयता या निम्नता के विचार या पुरुष और महिला के इस्टिरियो टाइप की भूमिका पर आधारित हैं, को प्राप्त करने की दृष्टि से पुरुष और महिला के सामाजिक और सांस्कृतिक आचरण पैटर्न को उपांतरित करेगा ;'

सी. ई. आर. डी. का अनुच्छेद 2

'2(1) राज्य पक्षकार मूलवंशीय विभेद की निंदा करते हैं और नीति में अविलंब और सभी समुचित साधनों द्वारा अपने सभी रूपों के मूलवंशीय विभेद को दूर करने और सभी मूलवंशों में समझ का संवर्धन करने का प्रयास करेंगे और इस प्रयोजन के लिए –

* * * * *

(ग) प्रत्येक राज्य पक्षकार सरकारी, राष्ट्रीय और स्थानीय नीतियों का पुनर्विलोकन करने और ऐसी किसी विधि और विनियम को संशोधित करने, अभिखंडित करने और अकृत करने के प्रभावी उपाय करेंगे जो मूलवंशीय विभेद जहां कहीं वे विद्यमान हैं के सृजन या बने रहने का प्रभाव रखते हैं ;

(घ) प्रत्येक राज्य पक्षकार सभी समुचित साधनों जिसके अंतर्गत परिस्थितियों द्वारा यथापेक्षित विधान है द्वारा किसी व्यक्ति, समूह या संगठन द्वारा मूलवंशीय विभेद का प्रतिषेध करेंगे और समाप्त करेंगे ।'

अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदाओं जो भारत द्वारा पुष्ट किए गए हैं के उपर्युक्त उपबंध उस विस्तार तक आबद्धकर हैं कि वे देशी विधि के उपबंधों के असंगत नहीं है ।

189. उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए, हमारा यह समाधान है कि अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं का बहुत महत्व है और देशी विधियों का निर्वचन करते समय उन पर विचार किया जाना चाहिए । किंतु उपर्युक्त नियम का कोई महत्वपूर्ण अपवाद नहीं है अर्थात् यह कि अंतरराष्ट्रीय अभिसमय घरेलू विधि के प्रतिकूल नहीं है, अकेले का अवलंब नहीं लिया जा सकता । हमारी यह दृढ़ राय है कि प्रस्तुत विवाद उपर्युक्त अपवाद के भीतर आता है । जहां तक "स्वीय विधि" का संबंध है इसे संवैधानिक संरक्षण प्राप्त है । अतः यदि "स्वीय विधि" अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों

और घोषणाओं के प्रतिकूल है तो "स्वीय विधि" अभिभावी होगी । अतः, तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा को कायम रखने की याचियों की ओर से दी गई दलील कि यह ऐसी अभिसमयों और घोषणाओं जिसका भारत हस्ताक्षरकर्ता है, के प्रतिकूल है, को माना नहीं जा सकता ।

(x) उपर्युक्त विचार-विमर्श से उद्भूत निष्कर्ष

190. उपर्युक्त I से IX पर अभिलिखित विचार-विमर्श से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है :–

(1) प्रिवी कौंसिल द्वारा तलाक-ए-बिद्दत पर **राशिद अहमद** (पूर्वोक्त) वाले मामले के विनिश्चय के बावजूद, मामले में पश्चात्वर्ती मतों को ध्यान में रखते हुए, विवाद्यक पर नए सिरे से परीक्षा किए जाने की आवश्यकता है ।

(2) सभी पक्षकार एकमत थे कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा दोषपूर्ण समझे जाने के बावजूद इसे हनफी विचारधारा के सुन्नी मुसलमानों में विधि के दृष्टि से विधिमान्य स्वीकार किया जाता है और उनमें यह प्रथा विद्यमान है ।

(3) इस न्यायालय के लिए यह निष्कर्ष अभिलिखित करना उचित नहीं होगा कि क्या तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों द्वारा अवलंबित हदीथों में अत्यधिक विरोधाभासों को ध्यान में रखते हुए, हदीथ द्वारा पुष्टि की गई है या नहीं ।

(4) तलाक-ए-बिद्दत हनफी विचारधारा के सुन्नी मुसलमानों के धार्मिक समुदाय का अभिन्न भाग है । यह चौदह सौ वर्षों से अधिक समय से अपनाए जाने के कारण उनकी आस्था का भाग है और इस प्रकार, उनके स्वीय विधि के संघटक के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए ।

(5) याचियों की यह दलील कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 के अधीन आने वाले प्रश्न/विषय स्वीय विधि नहीं रह गए और कानूनी विधि में संपरिवर्तित हो गए, स्वीकार नहीं की जा सकती और तद्नुसार, खारिज की जाती है ।

(6) 'तलाक-ए-बिद्दत' संविधान के अनुच्छेद 25 में अभिव्यक्त पैरामीटर का अतिक्रमण नहीं करती । प्रथा, लोक व्यवस्था, नैतिकता और स्वास्थ्य के प्रतिकूल नहीं है । प्रथा, संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 21 का भी अतिक्रमण नहीं करती जो केवल राज्य

कार्रवाइयों तक सीमित है ।

(7) स्वीय विधि का घटक होने के कारण तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा की संविधान के भाग 3 में प्रदत्त अन्य मूल अधिकारों के समान प्रास्थिति है । अतः प्रथा को न्यायिक हस्तक्षेप के माध्यम से संवैधानिक नैतिकता की अवधारणा के अतिक्रमण में होने के आधार पर अपास्त नहीं किया जा सकता ।

(8) विभिन्न धर्मों में सामाजिक रूप से अस्वीकार्य प्रथाओं के प्रतिनिर्देश से भारत में स्वीय विधि में सुधार विधायी हस्तक्षेप के द्वारा ही लाया जा सकता है । ऐसा विधायी हस्तक्षेप संविधान की सातवीं अनुसूची में अंतर्विष्ट समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 के साथ अनुच्छेद 25(2) और 44 के अधीन अनुज्ञेय है । तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा के प्रतिनिर्देश से केवल उक्त प्रक्रिया का पालन किए जाने की आवश्यकता है यदि इसे अपास्त करना है ।

(9) अंतरराष्ट्रीय अभिसमयों और घोषणाओं का वर्तमान संविवाद में कोई फायदा नहीं है क्योंकि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा स्वीय विधि का एक संघटक है और इसे संविधान के अनुच्छेद 25 का संरक्षण प्राप्त है ।

भाग 10

घोषणा

191. ऐसा लगता है कि संपूर्ण राष्ट्र लड़ाई के लिए तैयार है । यह प्रतीत होता है कि मुस्लिम महिलाओं की अधिकांश जनसंख्या यह मांग कर रही है कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा जो धर्मशास्त्र में एक पाप है, को विधि की दृष्टि से अननुज्ञेय घोषित किया जाए । भारत संघ ने भी चर्चा में भाग लिया । भारत संघ ने यह पक्ष पोषित करते हुए प्रथा के अविधिमान्यकरण की मांग करते हुए आक्रामक रुख अपनाया है कि यह संविधान के भाग 3 में प्रतिष्ठापित मूल अधिकार का अतिक्रमण करता है और आगे यह भी प्राख्यान किया कि यह संवैधानिक नैतिकता का भी अतिक्रमण करता है । सुनवाई के दौरान विवाद्यक पर मीडिया में गर्मजोशी से चर्चा की गई । विषय के पांडित्यपूर्ण लेखों में व्यक्त अधिकांश मतों में यह पुष्टि की गई कि प्रथा अपमानजनक है । परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल भी दिलचस्प रूप से सुनवाई के दौरान सहमत थे और तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा को अरुचिकर, घृणात्मक और नीरस बताया । अन्य लोगों द्वारा स्वीकार की गई स्थिति और कठोर थी क्योंकि

वे लोग इसे घृणात्मक, अरुचिकर और अप्रिय मानते हैं । कुछ लोग तो इसे भ्रष्ट, घिनौना और मनहूस भी पुकारते हैं ।

192. हमने यह निष्कर्ष निकाला कि तलाक-ए-बिद्दत हनफी विचारधारा के सुन्नी मुसलमानों की स्वीय विधि का विषय है । यह उनकी आस्था का विषय गठित करता है । उनके द्वारा कम से कम लगभग 1400 वर्षों से इसका आचरण किया जा रहा है । हमने यह परीक्षा की कि क्या प्रथा, संविधान के अनुच्छेद 25 के अधीन उपबंधित बाध्यताओं को पूरा करता है और यह निष्कर्ष निकाला कि यह उनमें से किसी को भंग नहीं करता । हमने यह भी निष्कर्ष निकाला कि स्वीय विधि का संघटक होने के कारण प्रथा को संविधान के अनुच्छेद 25 का संरक्षण प्राप्त है ।

193. धर्म आस्था का विषय है न कि तर्क का । न्यायालय, प्रथा जो धर्म का अभिन्न भाग गठित करती है के ऊपर समतावादी दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए स्वतंत्र नहीं है । संविधान, प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को अपनी आस्था और धार्मिक परंपरा का पालन करने की अनुज्ञा देता है । संविधान, सभी आस्था के अनुयायियों को यह आश्वस्त करता है कि जीवन की उनकी शैली गारंटीकृत है और उसे कोई चुनौती नहीं दी जा सकती, यद्यपि, यह आज के विश्व और युग में अन्य लोगों (और उसी आस्था का अनुसरण क़रने वाले कुछ तर्कवादियों) को यह अस्वीकार्य ही क्यों न हो । संविधान, इस गारंटी का विस्तार करता है क्योंकि आस्था अनुयायियों की धार्मिक अंतःचेतना गठित करती है । संविधान, अनुच्छेद 25 के अधीन प्रत्येक पृथक् अस्तित्व की आस्थाओं को संरक्षण और सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास करता है ।

194. यह प्रदर्शित करने में सफल होते हुए कि प्रथा, संवैधानिक नैतिकता (संविधान के विभिन्न उपबंधों से उद्भूत) के अवरोधों से आगे है, उन लोगों द्वारा व्यक्त मतों के बावजूद जिन्होंने "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा को चुनौती दी है, हम संबद्ध याचियों के समर्थन में होने से स्वयं को राजी होने में असमर्थ पाते हैं । हम याचियों के दावे को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि दी गई चुनौती पर स्वीय विधि जिसे संवैधानिक समर्थन प्राप्त है, के मुद्दे से संबंधित है ।

195. उपर्युक्त व्यक्त स्थिति के सातत्य में, हम, यह स्वीकार करते हैं कि न्यायालय को किए गए अधिकांश अनुरोध (कम से कम पहली नजर में) स्वीकृति की मांग करते हुए पर्याप्त अनुनयकारी प्रकृति के थे । यह ध्यान में रखते हुए कि यह अवसर मुस्लिम महिलाओं की परेशानी को कम

करने के लिए स्वयं प्रस्तुत किया गया, यह महसूस किया गया कि अवसर को खोया नहीं जाना चाहिए । तथापि, हमारा यह समाधान है कि यह कदम रखने का उचित तरीका नहीं होगा । हम संविधान के निर्माताओं की बुद्धिमत्ता से स्वयं को स्मृत रखने के लिए बाध्य हैं जिन्होंने संविधान के भाग 3 में आस्था के विषय को रखा था । अतः, हमारे समक्ष पक्षपोषित मुद्दों पर आगे कार्यवाही करने का कोई प्रयास स्पष्ट विधि की भाषा को अनदेखी करने के बराबर होगा । हम विधि की दृष्टि से अस्वीकार्य के रूप में अकृत और घोषित नहीं कर सकते जिसे संविधान हमारे लिए न केवल संरक्षित रखने बल्कि प्रवृत्त करने की डिक्री प्रदान करता है । सुरक्षोपाय करने और अनुपालन आबद्ध करने का प्राधिकार संवैधानिक न्यायालयों (उच्चतम न्यायालय के पास अनुच्छेद 32 के अधीन और उच्च न्यायालयों के पास अनुच्छेद 226 के अधीन) में विशेष अधिकारिता के अधीन निहित है । याचियों के अनुरोध को स्वीकार करना अनुच्छेद 25 में अंतर्विष्ट संवैधानिक अधिदेश का स्पष्ट अतिक्रमण होगा ।

196. अंतःकरण की ऐसी पुकार जो याची हमसे स्वीकार करने की इच्छा रखते हैं, का दूरगामी प्रभाव होगा । हम ऐसा इसलिए कह रहे हैं क्योंकि विद्वान् महान्यायवादी की यह दलील थी कि तलाक-ए-अहसन और तलाक-ए-हसन भी उन्हीं कारणों से असंवैधानिक घोषित किए जाने के दायी हैं जैसा तलाक-ए-बिद्दत (विस्तार के लिए उपर्युक्त पैरा 77 देखें) के प्रतिनिर्देश से व्यक्त किया गया है । विद्वान् महान्यायवादी के अनुसार, तलाक का उक्त प्ररूप भी तालक-ए-बिद्दत की तरह उन्हीं खामियों से ग्रस्त हैं । मुस्लिमों में बहु-विवाह और हलाला की प्रथा को पहले ही हमारे समक्ष चुनौती दी गई है । यह समझना कठिन नहीं है कि सभी प्रकार के प्रबुद्ध संवेदनशीलता पर आधारित भिन्न-भिन्न आधारों पर भिन्न-भिन्न प्रथाओं को चुनौती देते हुए तर्कवादियों द्वारा अनेक प्रकार की चुनौतियां उठाई जा सकती हैं । हमें सुरक्षित होना पड़ेगा, ऐसा न हो कि हम धार्मिक प्रथाओं और स्वीय विधि के प्रत्येक मोड़ पर अपने अंतःकरण को लांघते हुए पाएं। क्या कोई न्यायालय उचित प्रयास के आधार पर यह घोषित कर सकता है कि आस्था के विषय को बदला जाए या पूर्णतः हटा दिया जाए । इस मामले में दोनों अनुरोध किए गए हैं । तलाक-ए-बिद्दत में तीन घोषणाओं को पढ़कर पुनर्स्थापन की ईप्सा की गई है । अनुकल्पतः, कुरान और हदीथ में वर्णित तलाक-ए-बिद्दत पढ़कर माध्यस्थम् और सुलह के उपायों की ईप्सा की गई है । इसे असंवैधानिक ठहराकर प्रथा को अपास्त करने का भी अनुरोध किया गया है । इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों से उद्भूत

प्रज्ञा असंदिग्ध है अर्थात् यह कि धार्मिक प्रथा या स्वीय विधि की परिधि में आने वाले मुद्दों की परीक्षा करते समय, न्यायालय ऐसा कोई विकल्प निकालने के लिए स्वतंत्र नहीं है जिसे वह दूरंदेशी या गैर-कट्टरपंथी समझता है । न्यायालय यह अवधारित करने के लिए स्वतंत्र नहीं है कि क्या धार्मिक प्रथाएं दूरदर्शी या प्रगतिगामी या प्रतिगामी हैं । धर्म और स्वीय विधि को वैसा ही समझा जाना चाहिए जैसा आस्था को अपनाने वालों द्वारा स्वीकार किया जाता है । न कि यह कैसा होना चाहिए (उसी आस्था के स्वघोषित तर्कवादियों सहित) अन्य लोगों द्वारा पसंद किया जाता है । अनुच्छेद 25 सभी संवैधानिक न्यायालयों को स्वीय विधि का संरक्षण करने न कि उसमें गलती निकालने के लिए आबद्ध करता है । स्वीय विधि के मामलों में हस्तक्षेप स्पष्टतः न्यायिक परीक्षा के परे हैं । अतः, न्यायपालिका को हमेशा आत्यंतिक नियंत्रण का प्रयोग करना चाहिए, चाहे कितना सामाजिक भलाई करने के लिए आबद्धकर और आकर्षक अवसर क्यों न प्राप्त होता हो । अतः, यही कारण है कि इस न्यायालय को यह संप्रेक्षण करने का अवसर मिला, "...... चाहे कितना प्रशंसनीय, वांछनीय और आकर्षक परिणाम क्यों न निकलता हो...... कोई सक्रिय न्यायालय विधायी विषय की जटिलताओं से निपटने के लिए पूर्णतः सुसज्जित नहीं है और अधिक से अधिक समस्या पर राज्य की नीति पर सलाह दे सकता है और ध्यान आकर्षित कर सकता है तथा उसको निंद्रा से जगा सकता है और लक्ष्य तक पहुंचने के लिए प्रेरित कर सकता है । इस न्यायालय को चाहे जो भी उपाय करना हो इसे विवाध्यतः आत्म नियंत्रण के रूप में न्यायिक सतह में वर्णित गति को लागू करने की आवश्यकता है .... ।"

197. हमने यह निष्कर्ष निकाला कि याचियों की ओर से उठाई गई विधिक चुनौती न्यायिक पटल पर असफल रहती है । तथापि, प्रश्न यह रहता है कि क्या विषय में संपूर्ण न्याय करने के लिए अनुच्छेद 142 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने के लिए हमारे लिए यह उचित मामला है । हमारे लिए मात्र एक ही कारण से अनुच्छेद 142 के अधीन अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने की संभावना को साबित करने का प्रश्न उठता है कि सभी संबद्ध बातें असंदिग्ध हैं क्योंकि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा मनमानी होने के अलावा लिंग विभेदकारी है ।

198. हमारे द्वारा अभिलिखित विचार-विमर्श के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि तलाक-ए-बिद्दत की प्रथा को अधिकांश मुस्लिम जनसंख्या वाले अधिकांश समतावादी राज्यों में और यहां तक कि इस्लाम धर्मशासित राज्यों में भी विधान द्वारा हटा दिया गया है । याचियों के

अनुरोध के मुख्य विरोधी ए. आई. एम. पी. एल. बी. ने भी याचियों की ओर से पक्षपोषित स्थिति को स्वीकार करते हुए, इस स्थिति को माना कि आस्था और धर्म के विषय को अपास्त करना न्यायिक विवेकाधिकार की परिधि के भीतर नहीं है । हम ए. आई. एम. पी. एल. बी. द्वारा स्वीकृत स्थिति को स्वीकार करते हैं । तथापि, ए. आई. एम. पी. एल. बी. द्वारा भी यह अभिस्वीकार किया गया है कि विधायिका स्थिति से मुक्ति दिला सकेगी । यह प्राख्यान संविधान की सातवीं अनुसूची में अंतर्विष्ट समवर्ती सूची की प्रविष्टि 5 के साथ पठित संविधान के अनुच्छेद 25(2) और अनुच्छेद 44 के संयुक्त पठन पर आधारित है । इसमें संदेह नहीं हो सकता और यह हमारा निश्चायक निष्कर्ष है कि विधान के माध्यम से ही स्थिति को बचाया जा सकता है । हम समझते हैं कि विधायिका को विवाद्यक पर विधि अधिनियमित करने की सलाह देना उचित नहीं है । तथापि, इस मामले में उत्पन्न स्थिति कुछ भिन्न प्रतीत होती है । यहां परस्पर प्रतिकूल पक्षकारों द्वारा व्यक्त मत विरोधात्मक नहीं है । भारत संघ, हमारे समक्ष याचियों के वाद के समर्थन में उपस्थित हुआ । भारत संघ द्वारा अपनाया गया दृष्टांत हमारे लिए यह मानने के लिए पर्याप्त है कि भारत संघ, याचियों के वाद का समर्थन करता है । दुर्भाग्यवश संघ हमारे हाथों से वह करना चाहता है जो वस्तुतः उसका अपना है । मुख्य पक्षकार जिसने याचियों की चुनौती का विरोध किया अर्थात् ए. आई. एम. पी. एल. बी. ने निम्नलिखित स्थिति की पुष्टि करते हुए इस न्यायालय के समक्ष शपथपत्र फाइल किया :–

"1. मैं, अखिल भारतीय मुस्लिम पर्सनल बोर्ड का सचिव अपनी वेबसाइट, प्रकाशन और सोशल मीडिया प्लेटफार्म के माध्यम से यह निर्देशिका जारी करूंगा और तद्द्वारा ऐसे व्यक्तियों को सलाह देता हूं जो निकाह (विवाह) करते हैं और उनसे निम्नलिखित करने का अनुरोध करता हूं –

(क) निकाह (विवाह) संपन्न करते समय निकाह संपन्न कराने वाला व्यक्ति, वर/व्यक्ति को यह सलाह देगा कि मतभेद की दशा में तलाक होने पर वर/व्यक्ति एक ही बैठक में तीन तलाक उद्घोषित नहीं करेगा क्योंकि यह शरीयत की अवांछनीय प्रथा है ;

(ख) निकाह (विवाह) संपन्न कराते समय निकाह संपन्न कराने वाला व्यक्ति, वर/व्यक्ति तथा वधू/महिला को एक ही बैठक में अपने पति द्वारा तीन तलाक की घोषणा करने का

अवलंब लेने से अपवर्जित करते हुए, निकाहनामा में शर्त सम्मिलित करने की सलाह देगा ।

2. मेरा यह कहना है और अनुरोध है कि इसके अलावा बोर्ड यह अभिलिखित करता है कि बोर्ड की कार्यकारी समिति में मुस्लिम समुदाय में तलाक के संबंध में तारीख 15 और 16 अप्रैल, 2017 को हुई बैठक में पहले ही कतिपय संकल्प पारित किए हैं । तद्द्वारा, यह संकल्प पारित किया गया कि विवाह-विच्छेद विशेषकर एक बैठक में तीन तलाक की उद्घोषणा से बचने पर बल देने के विषय में अपनाई जाने वाली आचार-संहिता/मार्ग-दर्शक सिद्धांत संप्रेषित किया जाए । तलाक (विवाह-विच्छेद) से संबंधित संकल्प सं. 2, 3, 4 और 5 के सुसंगत अनुवाद के साथ तारीख 16 अप्रैल, 2017 के संकल्प की प्रति इस माननीय न्यायालय के समक्ष परिशीलन के लिए संलग्न हैं और प्रस्तुत शपथ-पत्र के पृष्ठ सं. 4 से 12 पर उपाबंध ए-1 के रूप में चिह्नित है ।"

उपर्युक्त शपथपत्र के परिशीलन से प्रकट होता है कि ए. आई. एम. पी. एल. बी. ने उन लोगों जो वैवाहिक संबंध करते हैं, को सलाह देने के लिए अपने वेबसाइट के माध्यम से एक सूचना जारी की है कि वे निकाहनामा में, यह बात सम्मिलित करने के लिए सहमत हों कि उनके विवाह तलाक-ए-बिद्दत द्वारा विघटन योग्य नहीं होंगे । ए. आई. एम. पी. एल. बी. ने यह बल देते हुए कि तलाक-ए-बिद्दत से बचा जाए, विवाह-विच्छेद के मामले में अपनाए जाने वाले मार्ग-दर्शक सिद्धांतों को विहित करते हुए शपथपत्र फाइल किया है । यह मानना गलत नहीं होगा कि ए. आई. एम. पी. एल. बी. भी याचियों के वाद को बंद करने के पक्ष में है ।

199. उपर्युक्त व्यक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए, हमारा यह समाधान है कि यह ऐसा मामला है जो ऐसी स्थिति पैदा करता है जहां इस न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 142 के अधीन समुचित निदेश जारी करने के लिए अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करना चाहिए । अतः, हम भारत संघ को यह निदेश देते हैं कि समुचित विधान विशेषकर तलाक-ए-बिद्दत के संदर्भ में, बनाने पर विचार करे । हम यह आशा और प्रत्याशा करते हैं कि अनुध्यात विधान मुस्लिम स्वीय विधि-शरीयत के अग्रिम बातों पर भी विचार करेगा जैसा संपूर्ण विश्व में, यहां तक कि इस्लाम धर्म राज्यों द्वारा भी विधान द्वारा सुधार किया गया है । जब भारत के ब्रिटिश शासकों ने विधान द्वारा मुसलमानों को संकट में सहायता का उपबंध किया और जब उपचारात्मक उपाय संपूर्ण विश्व में मुस्लिमों द्वारा अपनाए गए हैं तो हम

ऐसा कोई कारण नहीं पाते कि स्वतंत्र भारत इसमें पीछे रहे । भारत में भी, किंतु मुसलमानों के लिए नहीं, अन्य धार्मिक संप्रदायों (IX - भारत में स्वीय विधि में सुधार, देखें) के लिए उपाय किए गए हैं । अतः, हम विधायिका से इस सर्वोपरि महत्वपूर्ण मुद्दे पर सावधानीपूर्वक गहन विचार करने की याचना करते हैं । हम विधान के लिए अपेक्षित आवश्यक उपाय पर विचार करते समय विभिन्न राजनीतिक दलों से भी अपने व्यक्तिगत राजनीतिक अभिलाभों को एक तरफ रखने की भी याचना करते हैं ।

200. उस समय तक जब तक विषय पर विधान के संबंध में विचार किया जाता है । हम मुस्लिम पतियों को तलाक-ए-बिद्दत घोषित करने से रोकने के लिए व्यादेश जारी करते हुए उनके वैवाहिक संबंध अलग करने के साधन के रूप में संतुष्ट हैं। पहली नजर में वर्तमान व्यादेश छह मास की अवधि के लिए प्रभावी होगा । यदि विधायी प्रक्रिया छह माह की अवधि की समाप्ति के पूर्व आरंभ होती है और "तलाक-ए-बिद्दत" (एक बार में और उसी समय तलाक की तीन घोषणा) - एक बार में या अनुकल्पतः को पुनःपरिभाषित करने के प्रति सकारात्मक विनिश्चय होता है और यदि यह विनिश्चय किया जाता है कि "तलाक-ए-बिद्दत" की प्रथा एक साथ समाप्त कर दी जाएगी तो व्यादेश विधान के अंतिम रूप से अधिनियमित किए जाने तक, जारी रहेगी । जिसके न हो सकने पर, व्यादेश प्रभावहीन हो जाएगा ।

201. उपर्युक्त निबंधनों के अनुसार निपटाया गया ।

न्या. कुरियन –

202. जो धर्मशास्त्र में गलत है वह कभी विधि में सही होता था किन्तु शरीयत को स्वीय विधि के रूप में घोषित करने के पश्चात् इस मामले में इस मुद्दे पर विचार किया जाना है कि जो कुरान की दृष्टि से गलत है क्या वह विधि की दृष्टि से सही हो सकता है । अतः, इस मामले में मात्र इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना अपेक्षित है कि क्या तीन-तलाक की कोई विधिक मान्यता है । यह अब अनिर्णीत विषय नहीं रहा है । इस न्यायालय ने **शमीम आरा** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया है, यद्यपि विस्तार से नहीं, कि तीन तलाक विधिक रूप से मान्य नहीं है । अतः, संविधान के अनुच्छेद 141[2] के

---

[1] (2002) 7 एस. सी. सी. 518.

[2] 141 उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि का सभी न्यायालयों पर आबद्धकर होना – उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों पर आबद्धकर होगी ।

निबंधनों में **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाला मामला भारत में निर्णय विधि के रूप में लागू है ।

203. उपर्युक्त को दृष्टिगत करते हुए, मैं **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में व्यक्त की गई विधिक स्थिति को स्पष्ट करने का भी भरपूर प्रयास करूंगा और स्पष्ट रूप से विधि अधिकथित करूंगा ।

204. मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) अधिनियम, 1937 (जिसे इसे इसमें इसके पश्चात् "1937 का अधिनियम" कहा गया है) को मुस्लिम समाज में घोर, अपकारी और विभेदकारी रूढ़ियों और प्रथाओं को समाप्त करने के लिए अधिनियमित किया गया था[1] । वर्तमान संविवाद को दृष्टिगत करते हुए इस अधिनियम की धारा 2 अत्यंत सुसंगत है :–

> **धारा 2. मुसलमानों को स्वीय विधि का लागू होना** – निर्वसीयती उत्तराधिकार, स्त्रियों की विशेष संपत्ति, जिसमें विरासत में मिला या संविदा या दान या स्वीय विधि के किसी अन्य उपबंध के

---

[1] **उद्देश्य और कारणों का कथन** –
पिछले कई वर्षो से ब्रिटिश भारत के मुसलमानों की यह अभिलाषा रही है कि रूढ़िजन्य विधि को मुस्लिम स्वीय विधि का स्थान नहीं दिया जाना चाहिए । इस मामले पर निरन्तर प्रैस और मंच द्वारा आंदोलन होते रहे हैं । जमीयत-उल-उलमा-ए-हिन्द जो कि मुसलमानों का एक बड़ा धार्मिक संकाय है, ने इस मांग का समर्थन किया है और इससे संबंधित सभी व्यक्तियों का ध्यान इस मुद्दे के अध्युपाय की तुरंत आवश्यकता की ओर दिलाया है । रूढ़िजन्य विधि एक अपनाम है क्योंकि इसका कोई ठोस आधार नहीं होता और इसमें निरन्तर परिवर्तन आते रहते हैं और इससे यह प्रत्याशा नहीं की जा सकती कि भविष्य में किसी समय पर इसमें निश्चितता और स्थायीत्व बना रहेगा जोकि सभी विधियों का एक मूल लक्षण होना चाहिए । तथाकथित रूढ़िजन्य विधि के अधीन मुस्लिम महिलाओं की हैसियत दयनीय है । अतः, सभी मुस्लिम महिला संगठनों ने रूढ़िजन्य विधि की आलोचना की है क्योंकि इससे उनके अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । उनकी यह मांग है कि मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) ही उन्हें लागू होनी चाहिए । मुस्लिम स्वीय विधि की पुरःस्थापना से वे महिलाएं स्वतः ऐसी स्थिति पर आ जाएंगी जिसके लिए वे स्वाभाविक रूप से हकदार हैं । इसके अतिरिक्त, वर्तमान अध्युपाय, यदि अधिनियमित किया जाए, समाज के लिए अत्यंत लाभकारी होगा क्योंकि इससे जनता के पारस्परिक अधिकारों और कर्तव्यों की निश्चितता और स्थिरता बनी रहेगी । मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) यथार्थ संहिता के रूप में विद्यमान है और यह इतनी सुज्ञात है कि इसमें कोई भी संदेह नहीं किया जा सकता और न ही इसमें किसी भी कड़े अनुसंधान की आवश्यकता है जो कि रूढ़िजन्य विधि का मुख्य लक्षण है ।

> अधीन प्राप्त हुई स्वीय संपत्ति आती है, विवाह, विवाह-विघटन, जिसमें तलाक, इला, जिहार, लियान, खुला तथा मुबारात आते हैं, भरणपोषण, मेहर, संरक्षकता दान, न्यास तथा न्यास-संपत्ति और वक्फ (जो पूर्त तथा पूर्त संस्थाओं तथा पूर्त तथा धार्मिक विन्यासों से भिन्न हो) से संबंधित (कृषि भूमि से संबद्ध प्रश्नों के सिवाय) सभी प्रश्नों में तत्प्रतिकूल किसी रूढ़ि या प्रथा के होते हुए भी, ऐसे मामलों में जहां पक्षकार मुसलमान है, वहां विनिश्चय का नियम मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) होगा ।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

205. 1937 के अधिनियम के पश्चात्, धारा 2 के अधीन "तलाक सहित विवाह, विवाह-विघटन" जैसे बहुत से विषयों के संबंध में मुसलमानों को लागू होने वाली विधि केवल उनकी स्वीय विधि अर्थात् शरीयत होगी । इससे अधिक और कम कुछ भी लागू नहीं होगा । यह तलाक को विनियमित करने वाला विधान नहीं है । इसके प्रतिकूल, मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 के अधीन विवाह विघटन के आधार उपबंधित किए गए हैं । यही स्थिति हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की है । 1937 के अधिनियम के अधीन मात्र यह उपबंधित है कि धारा 2 में प्रगणित मामलों में शरीयत विनिश्चय के नियम के रूप में लागू है । अतः, जबकि तलाक शरीयत द्वारा शासित होती है किन्तु तलाक के लिए विनिर्दिष्ट आधार और प्रक्रिया को 1937 के अधिनियम में संहिताबद्ध नहीं किया गया है ।

206. मामले को इस प्रकार दृष्टिगत करते हुए. मैं विद्वान् मुख्य न्यायाधीश से पूर्णतया सहमत हूं कि 1937 का अधिनियम तलाक को विनियमित करने वाला विधान नहीं है । परिणामतः, मैं न्यायमूर्ति नरीमन द्वारा व्यक्त किए गए इस मत से सादर असहमत हूं कि 1937 का अधिनियम तीन तलाक को विनियमित करने वाला विधान है और इसलिए इसे अनुच्छेद 14 की कसौटी पर परखा जा सकता है । तथापि, विधि के इस प्रश्न के संबंध में कि किसी विधान को, चाहे वह सर्वांगीण हो या अधीनस्थ, मनमाना होने के आधार पर चुनौती दी जा सकती है, मैं न्यायमूर्ति नरीमन द्वारा प्रतिपादित विधि से सहमत हूं । मेरा यह दृढ़ मत है कि भारत के सांविधानिक लोकतंत्र में ऐसे किसी विधान की कल्पना नहीं की जा सकती जो कि मनमाना है ।

207. शरीयत को 1937 के अधिनियम द्वारा मुस्लिम स्वीय विधि के

रूप में घोषित किए जाने पर, हमें आवश्यक रूप से यह देखना होगा कि शरीयत क्या है । इसे जाने-माने लेखक आसफ ए. ए. फैजी ने अपनी पुस्तक आउटलाइन्स ऑफ मोहम्मडन ला के पांचवें संस्करण, वर्ष 2008 के पृष्ठ 10[1] पर सुन्दरता से स्पष्ट किया है –

> "... वही किया जाना चाहिए जो नैतिक रूप से उचित है ; और जो नैतिक रूप से अनुचित हो वह नहीं किया जाना चाहिए । यही विधि या शरीयत है और अन्य कुछ भी विधि नहीं हो सकती । किन्तु पूर्ण रूप से और निःसंदेह क्या उचित है और क्या अनुचित है ? ये विधि से संबंधित महत्वपूर्ण प्रश्न हैं और इनके उत्तर कौन दे सकता है ? निश्चित रूप से कोई व्यक्ति अर्थात् मुसलमान विधिवेत्ता इसका उत्तर नहीं दे सकता । हमारे पास कुरान है जो ईश्वरीय ग्रंथ है । इससे संबंधित हदीसें हैं जो हजरत मोहम्मद की प्रथाएं हैं - उनके द्वारा किए गए कार्यों और कथनों का अभिलेख हैं - जिनसे हम विधिक निष्कर्ष निकालने के लिए सहायता और प्रेरणा लेते हैं । यदि कुरान या हदीस में किसी प्रश्न विशेष, जो हमारे समक्ष लंबित है, का उत्तर देने के लिए सामग्री उपलब्ध न होती तब हमें कतिपय सुनिश्चित सिद्धांतों के अनुसार पंथनिरपेक्ष आधारों का पालन करना होगा । इन सिद्धांतों से पुण्य विधि या शरीयत गठित होती है जैसा कि मुस्लिम विधिवेत्ता इसे समझते हैं । यही मूल विधिक धारणाएं हैं जिनका हमें संपूर्ण इस्लामी स्वीय विधि और इससे संबंधित शरीयत के छोटे से भाग, जिसे भारत में मुस्लिम विधि कहा जाता है, का भी अध्ययन करने के पूर्व अध्ययन और विश्लेषण करने का प्रयास करना चाहिए ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

208. इस्लामी विधि के चार स्रोत हैं (i) कुरान (ii) हदीस (iii) इजमा और (iv) कियास । विद्वान् लेखक ने ठीक ही कहा है कि पवित्र कुरान "विधि का प्रथम स्रोत" है । विद्वान् लेखक के अनुसार, कुरान को प्रधानता दी जानी चाहिए । इसका अर्थ यह हुआ कि पवित्र कुरान के अतिरिक्त जो स्रोत हैं वे कुरान में लिखी बातों के पूरक हैं और उनसे वह प्राप्त होता है जिसका उपबंध कुरान में नहीं किया गया है । दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है ऐसी कोई हदीस, इजमा या कियास नहीं हो सकता जो उस बात के विरुद्ध हो जिसका उल्लेख कुरान में स्पष्ट रूप से

---

[1] ताहिर महमूद (संस्करण), आसफ ए. ए. फैजी आउटलाइन्स ऑफ मोहम्मडन ला, पांचवा संस्करण, 2008.

किया गया हो । इस्लाम कुरान के विरुद्ध नहीं हो सकता । **मसरूर अहमद** बनाम **राज्य (राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र, दिल्ली) और एक अन्य**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति बदर दुर्रेज अहमद ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया है :–

"14. महत्वपूर्ण बात यह है कि शरीयत विधि, नीतिशास्त्र और शिष्टाचार के सभी पहलुओं से संबंधित जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी मुसलमान के जीवन को लागू होने वाले नियमों का एक संक्षिप्त संग्रह है । इन नियमों ने न्यायशास्त्र संबंधित जटिल तकनीकियों को अपनाते हुए इजतिहाद की प्रक्रिया द्वारा स्थायी रूप धारण किया है । प्राथमिक स्रोत कुरान है । फिर भी ऐसे मामले जो ईश्वरीय पुस्तक के अन्तर्गत सीधे ही नहीं आते हैं उन्हें तय करने के लिए हदीसों और इजमा को दृष्टिगत करते हुए नियम बनाए गए थे । अलग-अलग हदीसों का अवलंब लेने, मतैक्य में मतभेद और कियास और बुद्धि, जैसी भी स्थिति हो, में मतभेद के कारण विचारधाराओं में विभेद उत्पन्न हुए हैं ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

209. इसी पृष्ठभूमि में, मैं इस पर विचार करने का प्रयास करूंगा कि तलाक के संबंध में कुरान में क्या कहा गया है । तीन सुरों में तलाक के प्रतिनिर्देश किया गया है - सुरा 2 सामाजिक जीवन के बारे में है; सुरा 4 पारिवारिक जीवन के शिष्टाचार के संबंध में है और सुरा 65 में तलाक को स्पष्ट किया गया है ।

210. कुरान की सुरा 65 तलाक के बारे में है । यह निम्न प्रकार है :–

"तलाक या विवाह-विच्छेद

अल्लाह के नाम से जो बड़ा कृपालु और अत्यंत दयावान है ।

1. ए नबी! जब तुम लोग स्त्रियों को तलाक दो तो उन्हें तलाक उनकी इद्दत के हिसाब से दो । और इद्दत की गणना करो और अल्लाह का डर रखो, जो तुम्हारा रब है । उन्हें उनके घरों से न निकालो और न वे स्वयं निकले, सिवाय इसके कि कोई स्पष्ट अशोभनीय कर्म कर बैठें । ये अल्लाह की नियत की हुई सीमाएं हैं - और जो अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन करे तो उसने स्वयं अपने आप पर अत्याचार किया - तुम नहीं जानते, कदाचित इस (तलाक)

[1] (2008) 103 डी. आर. जे. 137.

के पश्चात् अल्लाह कोई सुरा पैदा कर दे ।

2. फिर जब वे अपनी नियत इद्दत को पहुंचे तो या तो उन्हें भली रीति से रोक लो या भली रीति से अलग कर दो । और अपने में से दो न्यायप्रिय आदमियों को गवाह बना दो और अल्लाह के लिए गवाही को दुरुस्त रखो । इसकी नसीहत उस व्यक्ति को की जाती है जो अल्लाह और अन्तिम दिन पर ईमान रखेगा उसके लिए वह (संकट से) बाहर निकलने का मार्ग उपलब्ध कर देगा ।

3. और उसे वहां से रोजी देगा जिसका उसे गुमान भी न होगा । जो अल्लाह पर भरोसा करे तो वह उसके लिए काफी है । निश्चय ही अल्लाह अपना काम पूरा करके रहता है । अल्लाह ने हर चीज का एक अंदाजा नियत कर रखा है ।

4. और तुम्हारी स्त्रियों में से जो मासिक धर्म की आयु से निवृत्त हो चुकी हो, यदि तुम्हे संदेह हो तो उनकी इद्दत तीन मास है और उनकी भी जो अभी रजस्वला नहीं हुई और जो गर्भवती स्त्रियां हो उनकी इद्दत उनके शिशु-प्रसव तक है । जो कोई अल्लाह का डर रखेगा उसके मामले में वह आसानी पैदा कर देगा ।

5. यह अल्लाह का आदेश है जो उसने तुम्हारी ओर उतारा है और जो कोई अल्लाह का डर रखेगा उससे वह उसकी बुराइयां दूर कर देगा और उसके प्रतिदान को बड़ा कर देगा ।

6. अपनी हैसियत के अनुसार जहां तुम स्वयं रहते हो उन्हें भी उसी जगह रखो । और उन्हें तंग करने के लिए उन्हें हानि न पहुंचाओ । और यदि वे गर्भवती हों तो उन पर खर्च करते रहो जब तक कि उनका शिशु-प्रसव न हो जाए । फिर यदि वे तुम्हारे लिए शिशु को दूध पिलाएं तो तुम उन्हें उनका पारिश्रमिक दो और आपस में भलीभांति से परस्पर बातचीत के द्वारा कोई बात तय कर लो । और यदि तुम दोनों में कोई कठिनाई हो तो कोई दूसरी स्त्री उसके लिए दूध पिला देगी ।

7. पुरुष को अपनी सामर्थ्य के अनुसार खर्च करना चाहिए और जिसे सीमित साधन मिले हों उसे चाहिए कि अल्लाह ने उसे जो कुछ भी दिया है वह उसी में से खर्च करे । जितना कुछ दिया है उससे बढ़कर अल्लाह किसी व्यक्ति पर जिम्मेदारी का बोझ नहीं डालता । जल्द ही अल्लाह कठिनाई के बाद आसानी पैदा कर देगा ।"

कुरान की सुरा 4 की आयत 35 सुलह हेतु मध्यस्थता के बारे में है :–

"35. और यदि तुम्हें पति-पत्नी के बीच बिगाड़ का भय हो, तो एक फैसला करने वाला पुरुष के लोगों में से और दूसरा फैसला करने वाला स्त्री के लोगों में से नियुक्त करो, यदि वे दोनों सुधार करना चाहेंगे तो अल्लाह उनके बीच अनुकूलता पैदा कर देगा । निःसंदेह, अल्लाह सब कुछ जानने वाला और खबर रखने वाला है ।"

तलाक से संबंधित कुरान की सुरा 2 की निम्न आयतें इस प्रकार है :–

"226. जो लोग अपनी स्त्रियों से अलग रहने की कसम खा बैठे हैं उनके लिए चार महीने की प्रतीक्षा आवश्यक है । फिर यदि वे पलट आएं तो अल्लाह अत्यंत क्षमाशील और दयावान है ।

227. और यदि वे तलाक ही की ठान ले तो अल्लाह भी सुनने वाला भलीभांति जानने वाला है ।

228. और तलाकशुदा स्त्रियां तीन मासिक धर्म बीतने तक स्वयं को रोके रखें और यदि वे अल्लाह और अन्तिम दिन पर ईमान रखती हैं तो उनके लिए यह वैध न होगा कि अल्लाह ने उनके गर्भाशयों में जो कुछ पैदा किया हो वे उसे छिपाएं । इस बीच उनके पति, यदि संबंधों को ठीक कर लेने का इरादा रखते हों, तो वे उन्हें लौटाने के अधिक हकदार हैं और उन पत्नियों के भी सामान्य नियम के अनुसार वैसे ही अधिकार हैं जैसी उन पर जिम्मेदारियां डाली गई हैं और पतियों को उन पर एक दर्जा प्राप्त है । अल्लाह अत्यंत प्रभुत्वशाली और तत्वदर्शी है ।

229. तलाक दो बार ही अनुज्ञात है । फिर सामान्य नियम के अनुसार (स्त्री को) रोक लिया जाए या भले तरीके से विदा कर दिया जाए और तुम्हारे लिए वह वैध नहीं है जो कुछ तुम उन्हें दे चुके हो, उसमें से कुछ ले लो सिवाय इस स्थिति के कि दोनों को डर हो कि अल्लाह की निर्धारित सीमाओं पर कायम न रह सकेंगे तो यदि तुमको यह डर हो कि वे अल्लाह की सीमाओं पर कायम न रहेंगे तो स्त्री जो कुछ देकर छुटकारा प्राप्त करना चाहे उसमें उन दोनों के लिए कोई गुनाह नहीं । ये अल्लाह की सीमाएं हैं । अतः इनका उल्लंघन न करो और जो कोई अल्लाह की सीमाओं का उल्लंघन करे तो ऐसे लोग अत्याचारी होंगे ।

230. (दो तलाक के पश्चात्) फिर यदि वह (पति) उसे तलाक दे दे, तो इसके पश्चात् वह (पत्नी) उसके लिए वैध न होगी, जब तक कि वह (पत्नी) किसी दूसरे पति से निकाह न कर ले । अतः,

यदि वह उसे तलाक दे दे तो फिर उन दोनों के लिए एक दूसरे की ओर पलट आने में कोई गुनाह न होगा, यदि वे समझते हों कि अल्लाह की सीमाओं पर कायम रह सकते हैं और यह अल्लाह की निर्धारित की हुई सीमाएं हैं जिन्हें वह उन लोगों के लिए बयान कर रहा है जो जानना चाहते हैं ।

231. और जब तुम स्त्रियों को तलाक दे दो और वे अपनी निश्चित अवधि (इद्दत) को पहुंच जाएं, तो सामान्य नियम के अनुसार उन्हें रोक लो या सामान्य नियम के अनुसार उन्हें विदा कर दो और तुम उन्हें नुकसान पहुंचाने के ध्येय से न रोको और न ज्यादती करो और जो ऐसा करेगा तो उसने स्वयं अपने ही ऊपर अत्याचार किया और अल्लाह की आयतों को परिहास का विषय न बनाओ और अल्लाह की कृपा जो तुम पर हुई है उसे याद रखो और उस किताब और तत्वदर्शिता को याद रखो जो उसने तुम पर अवतरित की है जिसके द्वारा वह तुम्हें नसीहत करता है । और अल्लाह से डरते रहो और भलीभांति जान लो कि अल्लाह हर चीज जानने वाला है ।"[1]

211. इन निर्देशात्मक आयतों का निर्वचन करने की आवश्यकता नहीं है । जहां तक तलाक का संबंध है, ये स्पष्ट और असंदिग्ध हैं । पवित्र कुरान के अन्तर्गत विवाह को पवित्र और स्थायी माना गया है । तथापि, अत्यंत अपरिहार्य परिस्थितियों में तलाक अनुज्ञेय है । किन्तु यदि सुलह का प्रयास सफल हो जाता है तब तलाक के समापन के पूर्व कुरान में उल्लिखित आवश्यक कदम उठाते हुए प्रतिसंहरण करना चाहिए[2] । तीन-

---

[1] पवित्र कुरान से ली गई आयतों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद अब्दुल्ला यूसुफ अली द्वारा किया गया है जिसे सभी पक्षकारों द्वारा उचित अनुवाद के रूप में स्वीकार किया गया है ।

[2] ऐसी ही मताभिव्यक्तियां जियाउद्दीन अहमद **बनाम** अनवारा बेगम [(1981) 1 गुवाहाटी ला रिपोर्ट 358] वाले मामले में गुवाहाटी उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति बहरुल इस्लाम द्वारा की गई हैं जिनमें उन्होंने यह उल्लेख किया है कि "यद्यपि मुस्लिम विधि के अधीन विवाह एक सिविल संविदा है फिर भी मानवता के कल्याण के लिए इसके पारिणामिक अधिकार और उत्तरदायित्व इतने महत्वपूर्ण हैं कि विवाह को अत्यंत पवित्र माना गया है । किन्तु विवाह बंधन के पवित्र होने के बावजूद, इस्लाम धर्म के अन्तर्गत आपवादिक परिस्थितियों में इसका विघटन करने का विकल्प भी रखा गया है ।" शमीम आरा वाले मामले के पैरा 13 में इस मत का उल्लेख और अनुमोदन किया गया है ।

(रेखांकन बल देने के लिए किया गया है)

तलाक के पश्चात् सभी रास्ते बंद हो जाते हैं, इसलिए तीन-तलाक पवित्र कुरान के मूल सिद्धांतों के प्रतिकूल है और परिणामतः इससे शरीयत का अतिक्रमण होता है ।

212. अनेक उच्च न्यायालयों द्वारा उपर्युक्त मत का अनुमोदन किया गया है और अन्त में **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत को तीन-तलाक को वर्जित करने वाली विधि के रूप में माना गया है । यह उल्लेखनीय है कि **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले के पूर्व न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने **फजलुन्नवी** बनाम **के. खादर वली और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **साराबाई** बनाम **राबियाबाई**[2] वाले मामले में एकल न्यायाधीश द्वारा की गई प्रचलित टिप्पणी अर्थात् "विधि की दृष्टि से उचित यद्यपि धर्मशास्त्र की दृष्टि से अनुचित" को त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण मानते हुए आपत्ति व्यक्त की है । न्यायपीठ द्वारा निम्न प्रकार उद्धृत किया गया है :–

> "20. इसके पूर्व कि हम फजलुन्नवी के मामले का समापन करें, यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि मुख्य न्यायामूर्ति बहरुल इस्लाम ने एक विस्तृत निर्णय में पवित्र कुरान की आयतों को उद्धृत करते हुए पूर्ववर्ती इंग्लिश लेखकों और न्यायाधीशों द्वारा की गई त्रुटियों को प्रकट किया है जिन्होंने मुस्लिम विधि में दी जाने वाली तलाक को उचित माना है चाहे वह सनक में या बिना सोचे-समझे दी गई हो और न्यायमूर्ति बैचलर के इस कठोर मत के विरुद्ध तर्क दिया है कि 'विधि में उचित यद्यपि धर्मशास्त्र के अनुसार अनुचित' । यह संभव है । जब कोई मुद्दा प्रत्यक्ष रूप से उठाया जाता है तब यह न्यायालय उस पर विचार कर सकता है किन्तु जब तक इससे संबंधित कोई समस्या नहीं है हम इस प्रश्न पर अपनी राय व्यक्त नहीं करेंगे क्योंकि वर्तमान मामले में विनिश्चय के लिए ऐसा आवश्यक नहीं है ।"

213. दो दशक से भी अधिक समय के बाद, **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, तीन तलाक के मामले में पूरे देश में अपनाए जाने वाले दृष्टिकोण को निर्दिष्ट किया है जिसका आरंभ वर्ष 1878 में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा **फरजन्द हुसैन**

[1] [1981] 2 उम. नि. प. 839 = (1980) 4 एस. सी. सी. 125.

[2] (1906) आई. एल. आर. 30 मुम्बई 537.

बनाम **जानू बीबी**[1] वाले मामले में किया गया था और अन्त में **जियाउद्दीन अहमद** बनाम **अनवारा बेगम**[2] और **रूकैया खातून** बनाम **अब्दुल खालिक लश्कर**[3] वाले मामलों में गुवाहाटी उच्च न्यायालय द्वारा किए गए दो विनिश्चयों की चर्चा करते हुए इस न्यायालय ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया :–

"13. न्यायमूर्ति बहरुल इस्लाम ने (जो बाद में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश बने) गुवाहाटी उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश के रूप में जियाउद्दीन अहमद **बनाम** अनवारा बेगम (उपर्युक्त) और इसके पश्चात् खण्ड न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए रूकैया खातून **बनाम** अब्दुल खालिक लश्कर (उपर्युक्त) वाले दो विनिश्चयों में एक अन्य ज्ञानात्मक और प्रभावशाली मत व्यक्त किया है । जियाउद्दीन अहमद वाले मामले में पूर्ववर्ती तलाक अर्थात् पति ने न्यायालय में लिखित कथन फाइल करने की तारीख से काफी पहले अपनी पत्नी को तलाक दे दी थी, का अभिवाक् किया गया और इसे कायम रखा गया । उच्च न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न रखा गया कि क्या मुस्लिम विधि के अधीन पति द्वारा दी गई यह तलाक विधिमान्य है । विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि यद्यपि मुस्लिम विधि के अधीन विवाह एक सिविल संविदा है फिर भी मानवता के कल्याण के लिए इसके पारिणामिक अधिकार और उत्तरदायित्व इतने महत्वपूर्ण हैं कि विवाह को अत्यंत पवित्र माना गया है । किन्तु विवाह बंधन के पवित्र होने के बावजूद, इस्लाम धर्म के अन्तर्गत आपवादिक परिस्थितियों में इसका विघटन करने का विकल्प भी रखा गया है (पैरा 6) । निर्णय में पवित्र कुरान की आयतों और जाने-माने विद्वानों द्वारा की गई टिप्पणियों को उद्धृत करते हुए, विद्वान् न्यायाधीश ने इस कथन की निन्दा की है कि, 'पति द्वारा मौज और सनक में दी गई तलाक विधि की दृष्टि से उचित है यद्यपि वह धर्मशास्त्र के प्रति अनुचित है' और यह मत व्यक्त किया गया कि ऐसा कथन इस धारणा पर आधारित है कि स्त्रियां पुरुषों की जंगम संपत्ति हैं जो कि पवित्र कुरान द्वारा समर्थित नहीं है । तलाक की सही विधि, जैसा कि कुरान द्वारा विहित किया गया है, इस प्रकार है

[1] आई. एल. आर. (1878) 4 कलकत्ता 588.

[2] (1981)1 गुवाहाटी ला रिपोर्ट 358.

[3] (1981) 1 गुवाहाटी ला रिपोर्ट 375.

> कि तलाक युक्तियुक्त कारण से दी जानी चाहिए और उसके पूर्व दो मध्यस्थों द्वारा, जिनमें से एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति के परिवार से हो, सुलह का प्रयास किया जाना चाहिए; यदि प्रयास असफल हो जाता है तब 'तलाक' प्रभावी हो सकती है (पैरा 13) । **रूकैया खातून** (उपर्युक्त) मामले में खण्ड न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया था कि पवित्र कुरान द्वारा विहित की गई तलाक की सही विधि इस प्रकार है – (i) 'तलाक' युक्तियुक्त कारण से दी जानी चाहिए ; और (ii) उसके पूर्व दो मध्यस्थों द्वारा, जिनमें से एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति के परिवार से होना चाहिए, सुलह का प्रयास किया जाना चाहिए । यदि उनके प्रयास असफल हो जाते हैं, तब 'तलाक' दी जा सकती है । खण्ड न्यायपीठ ने कलकत्ता उच्च न्यायालय और बॉम्बे उच्च न्यायालय के ऐसे मतों के प्रति विसम्मति प्रकट की है जिनके अन्तर्गत, खण्ड न्यायपीठ की राय में, सही विधि अधिकथित नहीं की गई थी ।
>
> 14. हम उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा की गई ऊपर कथित मताभिव्यक्तियों से सादर सहमत हैं ... ।

(बल देने के लिए रेखांकित किया गया)

214. केरल उच्च न्यायालय के दो विनिश्चयों को निर्दिष्ट करना लाभदायक होगा जिनमें से एक **ए. यूसुफ राथर** बनाम **सोरम्मा**[1] वाला मामला है जिसमें न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने निर्णय दिया था और दूसरा **मोहम्मद हनीफा** बनाम **पथुम्मल बीबी**[2] वाला मामला है जिसमें न्यायमूर्ति वी. खालिद ने निर्णय दिया था । निःसंदेह, **सोरम्मा** (उपर्युक्त) वाला मामला तीन तलाक से संबंधित नहीं था, तथापि, निर्णय के पैरा 7 में इस मुद्दे पर चर्चा की गई है जिसे **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में भी उद्धृत किया गया है :–

> "... यह मत कि मुस्लिम पति को तत्काल तलाक देने की मनमानी और एकपक्षीय शक्ति प्राप्त है, इस्लामी व्यादेश के अनुसार नहीं है । .... यह भी प्रचलित भ्रम है कि मुस्लिम पुरुष को विवाह समाप्त करने के लिए कुरान की विधि के अधीन निरंकुश अधिकार प्राप्त है । सम्पूर्ण कुरान में सुव्यक्त रूप से, अपनी पत्नी को तलाक

---

[1] ए. आई. आर. 1971 केरल 261.

[2] (1972) के. एल. टी. 512.

देने के लिए तुच्छ आधार की ईप्सा करने से पुरुष को तब तक रोका गया है जब तक कि उसकी पत्नी उसके प्रति विश्वसनीय और आज्ञाकारी है, 'यदि वे (अर्थात् स्त्रियां) तुम्हारे प्रति आज्ञाकारी हैं, तब उनके विरुद्ध न चला' (कुरान IV:34) । यदि पत्नी अपनी हठ या दुश्चरित्र के कारण अपना वैवाहिक जीवन दुःखद बनाती है तब इस्लामी विधि के अन्तर्गत प्राथमिक रूप से पुरुष को विवाह विघटित करने का प्राधिकार दिया गया है ; किन्तु गंभीर कारणों के अभाव में, धर्म या विधि की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति तलाक को न्यायोचित नहीं कह सकता । पैगम्बर साहब ने कहा यदि वह अपनी पत्नी को छोड़ देता है या शरण में आकर उसे दूर कर देता है तब वह ईश्वर को नाराज करता है, 'क्योंकि ईश्वरीय अभिशाप उस पर होता है जो अपनी पत्नी को सनक में आकर छोड़ देता है ।'

... कुरान के व्याख्याकारों ने ठीक ही यह मत व्यक्त किया है – और यह ऐसी विधि से मेल खाता है जो अब इराक जैसे कुछ मुस्लिम देशों में लागू है – कि पति को चाहिए कि वह तलाक देने के कारण के संबंध में न्यायालय का समाधान करे । तथापि, जैसा कि भारत में लागू है, मुस्लिम विधि ने ऐसा रूप ले लिया है जो पैगम्बर या पवित्र कुरान में अधिकथित भावना के प्रतिकूल है और इसी भ्रांत धारणा से तलाक के लिए पत्नी के अधिकार से संबंधित विधि दूषित हो जाती है ... ।"

215. न्यायमूर्ति खालिद ने **मोहम्मद हनीफा** (उपर्युक्त) वाले मामले में विस्तार से मत व्यक्त किया है :–

"5. क्या मुस्लिम पत्नियों को सदैव ऐसे अत्याचार का शिकार होना चाहिए ? क्या उनकी स्वीय विधि ऐसी अभागी पत्नियों के प्रति इतनी कठोर होनी चाहिए ? क्या उनकी पीड़ा को कम करने के लिए इसमें उचित संशोधन नहीं किया जा सकता ? इस विकटता से मेरा न्यायिक विवेक विचलित हुआ है । प्रश्न यह है कि क्या समाज द्वारा चुने गए नेताओं का विवेक भी विचलित होगा ।"

216. ऊपर उल्लिखित मामलों के संबंध में विस्तृत चर्चा के पश्चात्, **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले के पैरा 15 में इस न्यायालय द्वारा विनिर्दिष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया गया है कि "... तलाक को न्यायोचित ठहराने के लिए कोई भी कारण नहीं दिए गए हैं और कोई भी

अभिवाक् या सबूत इस संबंध में नहीं किया/दिया गया है कि तलाक के पूर्व सुलह का प्रयास किया गया था ।" विशेषकर यह उल्लेखनीय है कि **जियाउद्दीन अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में निकाले गए निष्कर्ष के साथ सादर सहमत होने पर **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में न्यायपीठ द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया था कि युक्तियुक्त कारण से ही तलाक दिया जाना चाहिए और पति और पत्नी के बीच सुलह का प्रयास दो मध्यस्थों द्वारा किया जाना चाहिए जिनमें से एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति की ओर से होना चाहिए ; यदि ऐसा प्रयास असफल हो जाता है तब तलाक दी जा सकती है । ऐसे विनिर्दिष्ट निष्कर्षों के आलोक में कि तीन तलाक कुरान के सिद्धांतों का अनुसरण न करते हुए विधि की दृष्टि से कितनी अनुचित है, यह नहीं कहा जा सकता है कि **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन तलाक को लेकर कोई भी विनिश्चयाधार नहीं है ।

(बल देने के लिए रेखांकित किया गया)

217. **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में के निर्णय को सम्पूर्ण देश के उच्च न्यायालयों ने तीन तलाक की निंदा करने वाली विधि के रूप में समझा है क्योंकि तीन तलाक पवित्र कुरान के सिद्धांतों के प्रतिकूल है । परिणामतः, तीन तलाक का अनुमोदन शरीयत द्वारा भी नहीं किया गया है ।

218. **जमरूद बेगम** बनाम **के. मोहम्मद हनीफ और अन्य**[1] वाले मामले में आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ऐसा पहला न्यायालय है जिसने **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में अपनाए गए मत की पुष्टि की है । उच्च न्यायालय ने **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले और उसमें उल्लिखित सभी विनिश्चयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् निर्णय के पैरा 13 और 17 में निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया है :–

> "13. ऊपर कथित विनिश्चय में उच्चतम न्यायालय द्वारा यह मत व्यक्त किया गया है कि तलाक मौखिक या लिखित रूप में दी जा सकती है और इसके लिए कोई युक्तियुक्त कारण होना चाहिए । तलाक दिए जाने के पूर्व पति और पत्नी के सुलह का प्रयास दो मध्यस्थों द्वारा किया जाना चाहिए जिनमें से एक पति के परिवार से और दूसरा पत्नी के परिवार से होना चाहिए । यदि उन मध्यस्थों के प्रयास असफल हो जाते हैं तब बोलकर तलाक दी जा सकती है ।

---

[1] (2003) 3 ए. एल. डी. 220.

उक्त प्रक्रिया का अनुपालन नहीं किया गया है । उच्चतम न्यायालय ने इन बातों का विचयन मुल्ला द्वारा लिखित प्रिंसिपिल्स ऑफ मोहम्मडन ला से किया है ।

* * * * *

17. मेरी यह सुविचारित राय है कि अभिकथित तलाक विधिमान्य तलाक नहीं है क्योंकि यह उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित सिद्धांतों के अनुसरण में नहीं है । कोई भी विधिमान्य तलाक नहीं हुई है, इसलिए पत्नी का पति के साथ संबंध अभी भी बना हुआ है और उसे विवाह-विच्छिन्न (तलाकशुदा) पत्नी नहीं माना जा सकता ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

219. **ए. एस. परवीन अख्तर** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में जहां तक तीन तलाक को विधिमान्य तलाक के रूप में अनुमोदित किए जाने का संबंध है, मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष अधिनियम, 1937 की धारा 2 की विधिमान्यता और सांविधानिकता का प्रश्न प्रस्तुत किया गया । न्यायालय ने कुरान के उपबंधों, इस्लामिक विधि के अनेक महत्वपूर्ण विद्वानों और **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले सहित पूर्ववर्ती न्यायिक उद्घोषणाओं को निर्दिष्ट किया और निम्न निष्कर्ष निकाला :-

"45. इस प्रकार, तलाक से संबंधित विधि, जैसा कि उच्चतम न्यायालय द्वारा मत व्यक्त किया गया है, इस प्रकार है कि तलाक युक्तियुक्त कारण से ही दी जानी चाहिए और उसके पूर्व पति और पत्नी का सुलह कराए जाने का प्रयास दो मध्यस्थों द्वारा किया जाना चाहिए जिनमें से एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति के परिवार से होना चाहिए और जब उनके प्रयास विफल हो जाएं, तब ही तलाक दिया जा सकता है ।

* * * * *

48. **शमीम आरा** 2002 ए. आई. आर. एस. सी. डब्ल्यू. 4162 वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अब घोषित विधि पर विचार करने के पश्चात्, तलाक, चाहे किसी भी रूप में हो, युक्तियुक्त कारण से ही दी जानी चाहिए और उसके पूर्व पति-पत्नी के परिवारों

[1] (2003) 1 एल. डब्ल्यू. 370.

की ओर से चुने गए मध्यस्थों द्वारा सुलह का प्रयास किया जाना चाहिए, किन्तु याची की यह आशंका कि किसी भी कारण के न होते हुए और पति-पत्नी के बीच सुलह का प्रयास न किए जाने के बावजूद इस प्रकार की तलाक विधिमान्य होती है, विधि की भ्रांत धारणा पर आधारित है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

जहां तक 1937 के अधिनियम की धारा 2 की सांविधानिकता का संबंध है, न्यायालय ने **श्री कृष्ण सिंह** बनाम **मथुरा अहीर और अन्य**[1] और **अहमदाबाद वूमेन एक्शन ग्रुप (ए.डब्ल्यू.ए.जी.) और अन्य** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामलों में किए गए विनिश्चयों को दृष्टिगत करते हुए इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है ।

220. **मंजूर अहमद खान** बनाम **साजा और अन्य**[3] वाले मामले में जम्मू-कश्मीर उच्च न्यायालय ने **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले का भी अवलंब लिया है । न्यायालय ने निर्णय के पैरा 11 में यह उल्लेख किया है कि **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने अनेक उच्च न्यायालयों के निर्णयों से लिए गए पैराओं का अवलंब लिया है "जो उन व्यक्तियों के लिए चक्षु-उन्मोलक हैं जिनका यह विचार है कि मुस्लिम पुरुष अपनी पत्नी को मात्र सनक या चलचित्तता के आधार पर तलाक दे सकता है ।" न्यायालय ने अन्त में यह अभिनिर्धारित किया है कि पक्षकारों के बीच विवाह समाप्त नहीं हुआ है ।

221. **उम्मेर फारूक** बनाम **नसीमा**[4] वाले मामले में केरल उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति आर. भास्करन और न्यायमूर्ति के. पी. बालाचन्द्रन ने विभिन्न न्यायालयों के पूर्ववर्ती विनिश्चयों पर विचार करने के पश्चात् निर्णय के पैरा 5 और 6 में यह अभिनिर्धारित किया है :–

"5. पथाई **बनाम** मोइदीन 1968 के. एल. पी. 763 वाले मामले में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय से जो सामान्य अर्थ निकलता है, वह इस प्रकार है कि पति द्वारा तलाक देने के अधिकार का विधिमान्य प्रयोग करने के लिए आवश्यक मात्र शर्त यह

---

[1] (1981) 3 एस. सी. सी. 689.
[2] (1997) 3 एस. सी. सी. 573.
[3] (2010) 4 जे. के. जे. 380.
[4] (2005) 4 के. एल. टी. 565.

है कि तलाक देने के समय पति वयस्क और स्वस्थचित्त होना चाहिए और वह जब भी उसकी इच्छा हो तलाक दे सकता है और विवाह विघटन के लिए किसी भी साक्षी की आवश्यकता नहीं है और जिस समय तलाक की घोषणा की जाती है, विवाह विघटित हो जाता है ; पति द्वारा दी गई तलाक पत्नी को विदित होनी चाहिए और पत्नी को संबोधित करना आवश्यक नहीं है और जैसे ही पत्नी को तलाक दिए जाने की जानकारी होती है, उसी समय तलाक प्रभावी हो जाती है । किन्तु शमीम आरा **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य [(2002) 3 के. एल. टी. 537 (एस. सी.)] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के प्राधिकृत निर्णय को दृष्टिगत करते हुए अब ऐसी तलाक स्वीकार्य नहीं की जा सकती ।

6. इस मामले में केवल इस बात पर पुनः विचार किया जाना चाहिए कि क्या अभिकथित रूप से पति द्वारा तारीख 23 जुलाई, 1999 को बोलकर दी गई तलाक साबित हुई है या नहीं । पत्नी की मौजूदगी में तीन बार बोलकर दी गई तलाक मुस्लिम विधि के अधीन तलाक को प्रभावी होने के लिए पर्याप्त नहीं है । जैसा कि **शमीम आरा** [(2002) 3 के. एल. टी. 537 (एस. सी.)] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है, दो मध्यस्थों द्वारा सुलह का प्रयास किया जाना चाहिए जिनमें से एक पति की ओर से और दूसरा पत्नी की ओर से होना चाहिए और केवल इस प्रयास के विफल हो जाने पर ही पति पत्नी को तलाक देने का हकदार होगा ...।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

222. **मसरूर अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में न्यायमूर्ति बदर दुर्रेज अहमद ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया है :–

"32. इन परिस्थितियों में – (1) तलाक की उद्‌घोषणा का कोई भी साक्ष्य न होना ; (2) तलाक देने का कोई कारण या न्यायोचित न होना ; और (3) ऐसा कोई अभिवाक् या सबूत न होना कि तलाक दी जाने के पूर्व सुलह का प्रयास किया गया था, उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि विवाह विघटित नहीं हुआ है और यह कि भरणपोषण देने का पति का दायित्व बना रहेगा । इस प्रकार, **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले के पश्चात् तलाक से संबंधित विधि की स्थिति, जिसका प्रतिवाद दोनों ही पक्षकारों (पति और पत्नी) द्वारा

किया गया है, इस प्रकार है कि यदि तलाक को प्रभावी बनाना है, तब प्रथमतः यह साबित किया जाना चाहिए कि तलाक की उद्घोषणा की गई है (न्यायालय में लिखित कथन के रूप में या किसी अन्य अभिवचन में मात्र यह कहना पर्याप्त नहीं है कि पहले कभी किसी समय पर तलाक दे दिया था), इसके पश्चात्, युक्तियुक्त कारण प्रस्तुत किया जाना चाहिए और साथ ही सुलह का प्रयास भी दर्शाया जाना चाहिए...।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

223. **नजीर** उर्फ **ओयूर नजीर** बनाम **शमीमा**[1] वाले मामले में केरल उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति मुश्ताक ने हाल ही में अर्थात् वर्ष 2016 में अन्य बातों के साथ **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले को निर्दिष्ट करते हुए तीन तलाक का अननुमोदन किया है ।

224. अतः, विद्वान् मुख्य न्यायाधीश से मेरे लिए इस संबंध में सहमत होना अत्यंत कठिन है कि तीन तलाक की परिपाटी को प्रश्नगत धार्मिक संप्रदाय के प्रति महत्वपूर्ण कारक के रूप में समझना चाहिए और यह कि यह परिपाटी उनकी स्वीय विधि का एक अंग है ।

225. अपनी इच्छानुसार स्वतंत्रतापूर्वक धर्म मानना, उस पर चलना और उसका प्रचार करना भारत के संविधान के अधीन गारंटीकृत मूल अधिकार है । यह अधिकार (1) लोक व्यवस्था, (2) स्वास्थ्य, (3) नैतिकता और (4) मूल अधिकारों से संबंधित भाग III के अन्य उपबंधों के अध्यधीन है । भारत के संविधान के अनुच्छेद 25(2) के अधीन राज्य को अनुच्छेद 25(1) के अधीन प्रदत्त स्वतंत्रता के होते हुए दो आकस्मिक परिस्थितियों में विधि बनाने की शक्ति भी प्रदान की गई है । अनुच्छेद 25(2) के अधीन यह उपबंधित किया गया है कि "इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो – (क) धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलाप का विनियमन या निर्बंधन करती है ; (ख) सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए या सार्वजनिक प्रकार की हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोलने का उपबंध करती है ।" उपर्युक्त सीमा के सिवाय, भारत के संविधान के अधीन धर्म की स्वतंत्रता

[1] (2017)1 के. एल. टी. 300.

परम है और इस विषय पर, मैं विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति से पूर्णतया सहमत हूं । तथापि, मैं इस कथन से सादर असहमत हूं कि तीन तलाक धार्मिक प्रथा का एक महत्वपूर्ण अंग है । मात्र इस कारण से कि यह प्रथा लंबे समय से चली आ रही है, विधिमान्य नहीं मानी जा सकती यदि इसे स्पष्ट रूप से अननुज्ञेय घोषित कर दिया गया हो । 1937 के अधिनियम का सम्पूर्ण प्रयोजन यह था कि शरीयत को विनिश्चय का नियम घोषित किया जाए और शरीयत विरोधी प्रथाओं को, धारा 2 में प्रगणित विषयों के संबंध में जिनमें तलाक सम्मिलित है, समाप्त किया जाए । अतः, किसी भी दशा में, 1937 के अधिनियम के पुरःस्थापन के पश्चात् कुरान के सिद्धांतों के विरुद्ध कोई भी प्रथा अनुज्ञेय नहीं है । अतः, ऐसी प्रथा को कोई भी सांविधानिक संरक्षा नहीं दी जा सकती और इस प्रकार तीन तलाक को सांविधानिक संरक्षा देने के लिए मैं विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति से सहमत नहीं हूं । मुझे इस संबंध में गंभीर संदेह भी है कि क्या अनुच्छेद 142 के अधीन भी मूल अधिकार के प्रयोग को व्यादिष्ट किया जा सकता है ।

226. जब ऐसी प्रकृति के मुद्दे विचार के लिए सामने आते हैं, तब चर्चा प्रायः ऐसा रूप ले लेती है कि धर्म का मुकाबला अन्य सांविधानिक अधिकारों से किया जाता है । मेरा यह विश्वास है कि उन दोनों के बीच तालमेल संभव है किन्तु विभिन्न हितों के समन्वय की प्रक्रिया विधान-मण्डल की शक्ति के अधीन है । निःसंदेह, इस शक्ति का प्रयोग सांविधानिक मानदण्डों के अन्तर्गत भारत के संविधान के अधीन गारंटीकृत धार्मिक स्वतंत्रता को निरुद्ध किए बिना किया जाना चाहिए । तथापि, किसी भी विधान के लिए निदेश देना न्यायालयों का कार्य नहीं है ।

227. संयोगवश, इस न्यायालय ने **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में अपना कार्य कर दिया है । मैं **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले में घोषित विधि का अभिव्यक्त रूप से अनुमोदन करता हूं और उसे दोहराता हूं । जो पवित्र कुरान की दृष्टि से गलत है वह शरीयत के अनुसार सही नहीं हो सकता और इसी प्रकार जो धर्मशास्त्र के प्रति अनुचित है, वह विधि की दृष्टि से भी गलत ही होगा ।

न्यायमूर्ति आर. एफ. नरीमन

228. विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के निर्णय की प्रति का परिशीलन करने के उपरांत, मैं, सादर, इससे असहमत हूं ।

229. यह मामला इस न्यायालय की संविधान न्यायपीठ के समक्ष

कतिपय समाचार पत्रों में प्रकाशित लेखों के कारण आया है, जिसका इस न्यायालय की एक खंड न्यायपीठ ने **प्रकाश** बनाम **फूलवती**[1] वाले मामले में उल्लेख किया था और यह कहा था कि :–

"28. लिंग विभेद का महत्वपूर्ण मुद्दा, जो हालांकि इस अपील में प्रत्यक्ष तौर पर अंतर्वलित नहीं है, पक्षकारों की ओर से उन कुछ विद्वान् काउंसेलों द्वारा उठाया गया है जो मुस्लिम स्त्रियों के अधिकारों को लेकर चिंतित हैं । लिंग विभेद पर चर्चाओं ने भी इस मुद्दे का मार्ग प्रशस्त किया । यह बताया गया कि संविधान की गांरटी के बावजूद मुस्लिम स्त्रियां विभेद की शिकार हैं । मनमाने तलाक के विरुद्ध और पहले विवाह के चालू रहने के दौरान उसके पति द्वारा दूसरा विवाह कर लेने पर कोई रक्षोपाय नहीं है, जिसके परिणामस्वरूप वह गारिमा और सुरक्षा से वंचित हो जाती हैं । हालांकि अहमदाबाद वूमन ऐक्सन ग्रुप **बनाम** भारत संघ (1997) 3 एस. सी. सी. 573 वाले मामले में, इस न्यायालय के समक्ष इस मुद्दे को उठाया गया था, किंतु इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त करते हुए विभेद के गुणागुण पर विचार नहीं किया कि यह मुद्दा राज्य की नीति से संबंधित है, जिस पर विधान-मंडल द्वारा विचार किया जाना चाहिए । इस न्यायालय ने सरला मुदगल **बनाम** भारत संघ [(1995) 3 एस. सी. सी. 635 = (1995) एस. सी. सी. (क्रिमिनल) 569] वाले मामले में, न्यायमूर्ति सहाय की इन मताभिव्यक्तियों को निर्दिष्ट किया कि समान सिविल संहिता के लिए माहौल बनाए जाने की आवश्यकता है । मधु किशवर **बनाम** बिहार राज्य (1996) 5 एस. सी. सी. 125 वाले मामले में की गई इस आशय की मताभिव्यक्तियों के प्रति भी निर्देश किया गया कि न्यायालय एक सक्रिय कार्यकर्ता की भूमिका निभाने के बजाय अधिक से अधिक समस्या पर सलाह दे सकता है और ध्यान केंद्रित करा सकता है । यह मत व्यक्त किया गया कि मुस्लिम स्त्री (विवाह-विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 को दी गई चुनौती संविधान न्यायपीठ के समक्ष लंबित है और इस मुद्दे पर कई कार्यवाहियां करने का कोई कारण नहीं है ।

31. अतः यह दलील दी गई कि मामले के इस पहलू पर मामले को एक लोक हित वाद (पी. आई. एल.) के रूप में रजिस्ट्रीकृत करके विचार किया जाए । हमारा यह मत है कि इस सुझाव पर, इस

[1] (2016) 2 एस. सी. सी. 36.

न्यायालय के पर्वूवर्ती विनिश्चयों को ध्यान में रखते हुए विचार करने की आवश्यकता है । इस मुद्दे को समाचारपत्रों में छपे हाल ही के लेखों में भी उजागर किया गया है । [वंदना शुक्ला द्वारा द ट्रिब्यून, तारीख 24.9.2015 में 'मुस्लिम वूमेंस क्वेस्ट फॉर इक्वेलिटी' (मुस्लिम स्त्रियों की समता के लिए तलाश] और दिप्ति नागपॉल डिसूजा द्वारा तारीख 4.10.2015 की एक्सप्रेस मैग्जीन में 'इन हर कोर्ट']

32. इस प्रयोजन के लिए, अलग से एक लोक हित वाद रजिस्ट्रीकृत किया जाए और इसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के आदेशों के अनुसार समुचित न्यायपीठ के समक्ष रखा जाए ।"

(पृष्ठ सं. 53 और 55 पर)

उसके पश्चात् कई रिट याचिकाएं फाइल की गईं और वे विभिन्न रूपों में एक समान अनुतोष की ईप्सा करते हुए हमारे समक्ष आई हैं अर्थात् मुस्लिम पति द्वारा एक बार में तीन तलाक, जिससे विवाह-बंधन टूट जाता है, जो सांविधानिक विधि की दृष्टि से दूषित है ।

230. पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले विभिन्न काउंसेलों द्वारा व्यापक तर्क दिए गए । इन्हें विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के निर्णय में अति विस्तारपूर्वक निर्दिष्ट किया गया है । सारतः, याचियों ने, जिनका भारत संघ द्वारा समर्थन किया गया, यह कहा कि तीन तलाक आज के युग में एक काल-दोष है और सांविधानिक रूप से कहा जाए तो यह एक अभिशाप है । लिंग विभेद के तर्क को सर्वोपरि रखते हुए, यह कहा कि भले ही शरीयत विधि द्वारा, जो भारत में सुन्नी मुसलमानों पर लागू है, तीन तलाक को स्वीकृति दी गई हो, तो भी यह भारत के संविधान, विशिष्ट रूप से अनुच्छेद 14, 15(1) और 21 में अन्तर्निहित मुस्लिम स्त्रियों के मूल अधिकारों का अतिक्रमणकारी है । इस बात का विरोध करते हुए मुस्लिम पर्सनल बोर्ड तथा अन्य की ओर से काउंसेलों ने, जिन्होंने उनका समर्थन किया, बम्बई उच्च न्यायालय के निर्णय, जो **बम्बई राज्य** बनाम **नरासू अप्पा माली**[1] वाला मामला है, का इस प्रतिपादना के लिए जोरदार रूप से अवलंब लिया कि स्वीय विधियां (पर्सनल लॉज) संविधान के मूल अधिकारों के अध्याय की परिधि के परे हैं और इसलिए, इस न्यायालय द्वारा अभिखंडित नहीं की जा सकती हैं । उनके अनुसार, ऐसी वस्तु स्थिति में,

---

[1] ए. आई. आर. 1952 बम्बई 84.

इस न्यायालय को इस मामले से अपने हाथ खींच लेने चाहिएं और मुस्लिम स्त्रियों तथा अन्य स्त्री संगठनों को विधान-मंडल के पास भेजा जाना चाहिए, क्योंकि उनके अनुसार, यदि अनुच्छेद 25(2) के अधीन सामाजिक कल्याण और सुधार के उपाय के रूप में तीन तलाक को समाप्त किया जाना है तो केवल विधान-मंडल को ही ऐसा करना चाहिए । इस पर, दूसरे पक्ष का प्रति-तर्क यह है कि मुस्लिम स्वीय विधियों पर इस प्रकार का आक्षेप नहीं किया जा रहा है । इन मामलों में आक्षेप की विषयवस्तु वह कानून, अर्थात् मुस्लिम पर्सनल ला (शरीयत) एप्लीकेशन ऐक्ट, 1937 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 1937 का अधिनियम कहा गया है) है । उनके अनुसार, 1937 के अधिनियम की धारा 2 में तीन तलाक को कानूनी विधि द्वारा विनिर्दिष्ट तौर पर स्वीकृति दी गई है और यह घोषणा करने के लिए ईप्सा की गई है कि 1937 के अधिनियम की धारा 2 उपर्युक्त सीमा तक सांविधानिक रूप से अविधिमान्य है । इस पर, मुस्लिम पर्सनल बोर्ड ने यह कहा कि धारा 2 तीन तलाक की मुस्लिम विधि को लागू करने के लिए नहीं है, जैसा कि धारा 2 में सर्वोपरि खंड से उपदर्शित होता है । इसलिए, उनके अनुसार, तीन तलाक संबंधी मुस्लिम स्वीय विधि स्वयं अपने बल से प्रवर्तित है और, जैसा कि **नरासू अप्पा** (उपर्युक्त) वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया है, इसे "प्रवृत्त विधियों" के रूप में अनुच्छेद 13(1) में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है ।

231. इसलिए, इस न्यायालय के समक्ष उत्पन्न प्रश्न अंततः बहुत ही संक्षिप्त है । केवल तीन तलाक चुनौती की विषयवस्तु है, तलाक के अन्य रूप नहीं । अतः इस न्यायालय के समक्ष जो स्पष्ट प्रश्न उद्भूत होता है, यह है कि क्या 1937 के अधिनियम को भारत में न्यायालयों द्वारा अनुसरित किए जाने वाले विधि के नियम के रूप में तीन तलाक को मान्यता देने और प्रवर्तित करने वाला अधिनियम कहा जा सकता है और यदि नहीं तो क्या **नरासू अप्पा** (उपर्युक्त) वाला मामला, जिसमें यह कहा गया है कि स्वीय विधियां, संविधान के अनुच्छेद 13(1) की परिधि से बाहर हैं, विधि की दृष्टि से सही है ।

232. चूंकि भारत में मुसलमान दो मुख्य पंथों में विभाजित हैं, अर्थात् सुन्नी और शिया और यह मामला केवल सुन्नी से संबंधित है क्योंकि शिया तीन तलाक को मान्यता नहीं देते हैं, इसलिए, बिल्कुल प्रारंभ से ही विचार करना महत्वपूर्ण होगा ।

233. मुल्ला के मुस्लिम विधि के सिद्धांत (सोलहवां संस्करण) (1968)

की अति प्रदीपक प्रस्तावना में न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला ने पैगम्बर मोहम्मद के बारे में बताते हुए यह कहा है कि :–

"पैगम्बर ने स्वयं को सर्वोच्च अधिपति और सर्वोच्च उपदेशक स्थापित किया था । अरबवासी अज्ञानता और बर्बरता, अंधविश्वास और बुराई से सरोबार थे । बालिका वध, नशाखोरी, व्यभिचारिता और अन्य बुराइयां अनियंत्रित थीं ।

तथापि, पैगम्बर ने किसी उत्तराधिकारी को नामनिर्देशित नहीं किया । अबु बकर द्वारा उनकी मृत्यु की घोषणा की गई और निर्वाचन कराने के लिए तुरंत कार्रवाई की गई । जैसे ही यह घोषणा हुई, बानु खज़राज कबीले के मुखियागण ने मुखिया के निर्वाचन के लिए एक बैठक आयोजित की और सहभागी उस स्थान पर गए । इस बैठक में अबु बकर को उत्तराधिकारी के रूप में निर्वाचित किया गया । अगले दिन अबु बकर आसनारूढ़ हुए और प्रत्येक ने निष्ठा (बायत) की शपथ ली ।

इस निर्वाचन से सुन्नियों और शियाओं के बीच गहरे मतभेद हो गए । करीश कबीला ओमायदस और हशिमिटिज़ में विभाजित हो गया । हशिमिटिज़ नाम पैगम्बर के पितामह हाशिम के नाम पर पड़ा था । ओमायदस और हशिमिटिज़ के बीच गहरी दुश्मनी थी । हशिमिटिज़ अली के उत्तराधिकार के पक्षधर थे और यह दावा किया कि उन्हें पैगम्बर द्वारा नियुक्त किए जाने और उनसे निकटता होने के कारण चुना जाना चाहिए था । वास्तव में निर्वाचन का कार्य उस समय किया गया था जब पैगम्बर का परिवार (अली सहित) अन्त्येष्टि संस्कार में लगा हुआ था । इस बात से हशिमिटिज़ क्रुद्ध हो गए । तथापि, यह कहा जाता है कि अली ने स्वयं अपना दावा किए बिना तत्परता से अबु बकर को निष्ठा की शपथ दिला दी । जब उमर और उस्मान का क्रमशः द्वितीय और तृत्तीय निर्वाचन हुआ तो अली निर्वाचन के लिए खड़े नहीं हुए किंतु वह कदापि इन विनिश्चयों के विरुद्ध नहीं गए और हर बार नए खलीफा को स्वीकार करते रहे और उसे सतत रूप से समर्थन प्रदान करते रहे । अबु बकर की आयु 60 वर्ष थी और केवल दो वर्ष खलीफा रहे (634 ई. पू.) । यहां तक कि जब वह खलीफा थे, उनके पीछे शक्ति उमर इब्नुल खत्ताब की थी । यह कहा जाता है कि अबु बकर ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में उमर को नामित किया था । भले ही यह बात सत्य न हो, तो भी यह

स्पष्ट है कि निर्वाचन मात्र एक औपचारिकता थी । खलीफा के रूप में उमर की दस वर्ष पश्चात् (644 ई. पू.) छलपूर्वक हत्या कर दी गई । उस्मान तृत्तीय खलीफा के रूप में निर्वाचित हुए । किवदन्ती यह है कि उमर ने निर्वाचकों का एक आंतरिक पेनल (जिनकी संख्या छह थी) गठित किया था, किंतु कुछ प्रमुख इतिहासकारों ने इस बात से इनकार किया है । बाद में अब्बासिदों द्वारा अपने निर्वाचनों के लिए आंतरिक सभा गठित करने के लिए इस परंपरा का प्रयोग किया गया । इस विशेष निर्वाचन को जनसाधारण द्वारा स्वीकार किए जाने के लिए प्रयुक्त किया जाता था, किंतु कुछ सीमा तक यह एक औपचारिक निर्वाचन था । उस्मान 12 वर्षों तक खलीफा रहा और छलपूर्वक (656 ई. पू.) में उनकी हत्या कर दी गई । अंततः अली चौथे खलीफा के रूप में निर्वाचित हुए । पहले चार खलीफाओं का निर्वाचन, जो कि खलीफा-ए-राशीदान (सही रूप में मार्गदर्शित खलीफा) के रूप में जाने जाते हैं, वास्तविक था, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक बार चयन ऐसा था कि विरोध की कोई गुंजाइश नहीं थी । अली पांच वर्ष तक खलीफा रहे । वे 661 ई. पू. लड़ाई में मारे गए । अली के पुत्र हसन ने उम्मीयद राजवंश के संस्थापक मुवइया के पक्ष में त्यागपत्र दे दिया । तथापि, हसन की हत्या कर दी गई । अली के पक्षधरों ने अली के द्वितीय पुत्र हुसैन को मुवइया के पुत्र यजीद के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसाया, किंतु हुसैन की करबला में लड़ते हुए अत्यधिक कष्ट झेलने के पश्चात् मृत्यु हो गई । उसके पश्चात् सुन्नियों और शियाओं (अली का शियात-ए-अली दल) के बीच वैमनस्य अत्यधिक गहरा हो गया ।"

234. इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में, सुन्नियों के विभिन्न उप-पंथों का उल्लेख करना आवश्यक है । मोटे तौर पर चार मुख्य उप-संप्रदाय सुन्नी विधि की मान्यताप्राप्त शाखाएं हैं । वे हैं हनफी शाखा, मालिकी शाखा, शफी शाखा और हंबाली शाखा । भारत में अधिकांश सुन्नी, विधि की हनफी शाखा का अनुसरण करते हैं । मुल्ला ने मुस्लिम विधि के सिद्धांत (20 वां संस्करण) (पृष्ठ 19 से 21) में हनफी शाखा के बारे में यह कहा है :–

"सुन्नी विधि की चार शाखाओं में यह सबसे अधिक प्रसिद्ध है । यह शाखा अबू हनीफा द्वारा (699-767 ई.पू.) संस्थापित की गई थी । इस शाखा को 'कुफा शाखा' के रूप मे भी जाना जाता है ।

यद्यपि, शिया शाखा के संस्थापक महान इमाम जफर-ए-सादिक द्वारा शिक्षित अबु हनीफा अब्दुला ईबन-अल-मुबारक और हमीद बिन-सुलेमान के भी शिष्य रहे थे और इस कारण से उनके द्वारा एक अलग शाखा की संस्थापना करने की बात न्यायोचित हो सकती है । इस शाखा का समर्थन अब्बासिद खलीफाओं द्वारा किया गया और इसके सिद्धांत दूर-दूर तक फैले । अबु हनीफा ने 'महान इमाम' की पदवी अर्जित की । इस शाखा को अबु हनीफा के अतिरिक्त उनके दो और सम्मानित शिष्यों, अबु युसुफ (जो बगदाद में मुख्य काज़ी बने) और इमाम मोहम्मद अश-शयबानी, एक बहु-प्रतिभाशाली लेखक, जिन्होंने विधिशास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखी, के आधिपत्य में रहने का सौभाग्य मिला । इस शाखा के संस्थापक की स्वयं की बहुत कम लिखित कृति हैं । इस शाखा का गृह इराक में था किंतु इस राज्यक्षेत्र में इस शाखा के साथ-साथ अन्य शाखाएं भी थीं, हालांकि यहां उनका संतोषजनक प्रतिनिधित्व है । ओटोमन तुर्क और सेल्जुक तुर्क हनफी थे । इस शाखा के सिद्धांत सीरिया, अफगानिस्तान, तुर्किश मध्य एशिया और भारत में फैले । कुफा शाखा से संबद्ध अन्य नाम इबन अबी लायला और साफ्यान थावड़ी हैं । सिद्धांतों पर लिखी गई पुस्तकें अल-हिदाय ऑफ मारधिनी (हमिल्टन द्वारा अनुदत), रदद-अल-मुख्तर तथा कुदुरी के अल-मुख्तसर हैं । औरंगजेब के समय में संकलित फतबा-ए-आलमगिरि में अन्य सामग्री के साथ-साथ इस शाखा के सिद्धांत अंतर्विष्ट हैं ।"

235. यह कहना अनावश्यक होगा कि हनफी शाखा ने भारत में सुन्नी मुसलमानों के बीच तीन तलाक की परिपाटी का सदियों से समर्थन किया है ।

236. इस्लाम में विवाह एक संविदा है और अन्य संविदाओं की भांति यह कतिपय परिस्थितियों में समाप्त की जा सकती है । इसमें आश्चर्यचकित रूप से कुछ आधुनिकता आई है – मुस्लिम विवाह की विधिमान्यता के लिए कोई सार्वजनिक घोषणा करना एक पूर्ववर्ती शर्त नहीं है और न ही कोई धार्मिक अनुष्ठान आत्यंतिक रूप से आवश्यक समझा जाता है, हालांकि ये प्रायिकतः किए जाते हैं । स्पष्ट रूप से, पैगम्बर मोहम्मद के काल से पूर्व, पगान अरब मात्र सनक के आधार पर अपनी पत्नी का परित्याग करने के लिए पूर्ण रूप से स्वछंद था, किंतु इस्लाम के आगमन के पश्चात् उस पुरुष के लिए तलाक अनुज्ञात था यदि उसकी

पत्नी ने अपनी दुर्दान्तता या दुश्चरित्र द्वारा वैवाहिक जीवन को असंभव बना दिया है । अच्छे कारण के अभाव में, कोई व्यक्ति तलाक को न्यायोचित नहीं ठहरा सकता, क्योंकि वह फिर स्वयं को परमात्मा के अभिशाप का भागी बना लेता है । वास्तव में, पैगम्बर मोहम्मद ने तलाक को परमात्मा की दृष्टि में सबसे घिनौनी विधिपूर्ण बात होना घोषित किया था । इसके कारण ढूंढने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है । तलाक से वैवाहिक बंधन टूट जाता है जो कि इस्लाम में पारिवारिक जीवन के लिए मूलभूत है । इससे न केवल पुरुष और स्त्री के बीच वैवाहिक बंधन का विच्छेद होता है अपितु ऐसे विवाह से उत्पन्न बालकों पर गंभीर मनोवैज्ञानिक और अन्य प्रभाव पड़ते हैं ।

237. यह चर्चा हमें इस्लामिक विधि में मान्यताप्राप्त तलाक के रूपों की ओर ले जाती है । **मुल्ला** (उपर्युक्त) ने पृष्ठ 393-395 पर इसका इस प्रकार उल्लेख किया है :–

"धारा 311 तलाक के विभिन्न ढंग – तलाक निम्नलिखित प्रकारों में से किसी प्रकार से दिया जा सकता है –

'(1) तलाक अहसन – इसमें तुहर (दो ऋतस्रावों के बीच की अवधि) के दौरान एक बार तलाक का उच्चारण किया जाता है और इसके पश्चात् इद्दत की अवधि तक संभोग से प्रविरति रहती है ।

जब विवाह विवाहोत्तर संभोग द्वारा पूर्ण न हुआ हो, तो अहसन रूप में तलाक का उच्चारण किया जा सकता है भले ही पत्नी अपने ऋतुस्राव में हो ।

जहां पत्नी की ऋतुस्राव कालावधि की आयु पूरी हो गई हो, वहां तुहर के दौरान घोषणा करने की अपेक्षा लागू नहीं होती है, इसके अतिरिक्त, यह अपेक्षा केवल मौखिक तलाक पर लागू होती है, लिखित तलाक पर नहीं ।

तलाक अहसन पवित्र कुरान की निम्नलिखित आयत पर आधारित है – 'और तलाकशुदा स्त्री को स्वयं को तीन अनुक्रमों के लिए प्रतीक्षारत रखना चाहिए' (11-228)

'और आपकी स्त्री जो ऋतुस्राव की आशा खो चुकी है, यदि आपको संदेह है, तो उनका विहित समय तीन मास है,

और उनके लिए भी जिन्होंने अपने अनुक्रमों को पूरा नहीं किया है ।' (65-4)

2. तलाक हसन - इसमें क्रमवर्ती तुहरों के दौरान तीन बार उच्चारण किया जाता है और तीनों तुहरों में से किसी के दौरान संभोग नहीं किया जाता है ।

प्रथम उच्चारण एक तुहर के दौरान किया जाना चाहिए, द्वितीय उच्चारण अगले तुहर और तृतीय उत्तरवर्ती तुहर के दौरान किया जाना चाहिए ।

तलाक हसन कुरान के निम्नलिखित व्यादेशों पर आधारित है :–

> 'तलाक दो बार उच्चारित किया जाए, फिर उन्हें मित्रवत रखा जाए या (उनके साथ) दयालुता बरती जाए ।' (11:229)

'इस प्रकार, यदि वह (पति) उसे तलाक तीसरी बार दे देता है तो वह उसके पश्चात् तब तक उसके लिए वैध नहीं रहेगी जब तक कि वह अन्य व्यक्ति से विवाह नहीं कर लेती है ।'(11:230)

3. तलाक-उल-बिद्दत या तलाक-ए-बदाई- इसमें :–

> (i) एक ही तुहर के दौरान या तो तीन बार उच्चारण किया जाता है, उदाहरण के लिए, 'मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूं', - या अलग-अलग वाक्यों में, उदाहरण के लिए, 'मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूं', 'मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूं', 'मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूं', अथवा
>
> (ii) एक तुहर के दौरान एक ही उच्चारण, विवाह के विघटन के लिए स्पष्ट तौर पर अप्रतिसंहरणीय आशय को उपदर्शित करते हुए किया जाता है, उदाहरण के लिए, 'मैं तुम्हें अप्रतिसंहरणीय तलाक देता हूं ।'

तलाक-अस-सुन्नत और तलाक-उल-बिद्दत

हनफी दो प्रकार के तलाक को मान्यता देते हैं, अर्थात् (1) तलाक-अस-सुन्नत, अर्थात् पैगम्बर की सुन्नत (प्रथाओं) में अधिकथित नियमों के अनुसार तलाक; और (2) तलाक-उल-

बिद्दत, अर्थात्, नया या अनियमित तलाक । तलाक-उल-बिद्दत मुहम्मद काल की द्वितीय शताब्दी में ओमायद बादशाहों द्वारा पुरःस्थापित किया गया था । तलाक-उल-सुन्नत दो प्रकार का है, अर्थात् -(1) अहसन, अर्थात् पूरी तरह से उचित, और (2) हसन, अर्थात् उचित । तलाक-उल-बिद्दत या धर्म-द्रोही तलाक, विधि की दृष्टि से ठीक है, यद्यपि धर्म-शास्त्र की दृष्टि से दूषित है और अवध सहित इस देश में तलाक की यही सर्वाधिक सामान्य और प्रचलित पद्धति है । तलाक अहसन और तलाक हसन की दशा में, पति के पास अपने विनिश्चय पर पुनर्विचार करने का अवसर होता है, क्योंकि इन दोनों दशाओं में तलाक तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक कि एक कतिपय अवधि बीत नहीं जाती (एस. 312) और पति के पास इस अवधि से पूर्व इसे वापस लेने का विकल्प होता है । किंतु तलाक-उल-बिद्दत उच्चारित करते ही तुरंत अप्रतिसंहरणीय बन जाता है (एस. 312) । तलाक-उल-बिद्दत की आवश्यक विशेषता इसकी अप्रतिसंहरणीयता है । अप्रतिसंहरणीयता की एक कसौटी एक ही तुहर में तलाक के सूत्र को तीन बार दोहराना है । किंतु तीन बार दोहराना तलाक-उल-बिद्दत की आवश्यक शर्त नहीं है और अप्रतिसंहरणीय तलाक देने का आशय एक ही घोषणा से भी अभिव्यक्त हो सकता है । इस प्रकार यदि कोई पुरुष कहता है कि 'मैंने आपको तलाक-उल-बैन द्वारा तलाक दे दिया है, तो यह तलाक तलाक-उल-बिद्दत या तलाक-ए-बदाई होता है और यह उच्चारित करते ही तुरंत प्रभावी हो जाएगा भले ही इसका एक बार उच्चारण किया गया हो । यहां 'बैन' अभिव्यक्ति का प्रयोग स्वतः अप्रतिसंहरणीय तलाक देने के आशय को स्पष्ट करती है ।'

(रेखांकन द्वारा बल दिया गया है)

238. एक अन्य विख्यात लेखक ए. ए. ए. फ्याज़ी ने अपनी पुस्तक "आउटलाइन्स आफ मुहम्मडन ला" (पांचवा संस्करण) में पृष्ठ 120-122 पर यह उल्लेख किया है :–

"तलाक की उद्‌घोषणा या तो प्रतिसंहरणीय या अप्रतिसंहरणीय हो सकती है । क्योंकि इस्लाम के पैगम्बर ने तलाक का समर्थन नहीं किया था, इसलिए तलाक के प्रतिसंहरणीय रूपों को 'अनुमोदित'

समझा जाता है और अप्रतिसंहरणीय रूपों को 'अननुमोदित' रूप समझा जाता है । तलाक की प्रतिसंहरणीय उद्घोषणा पुरुष को अपराध से मुंह मोड़ने का अवसर देती है, किंतु अप्रतिसंहरणीय उद्घोषणा प्रश्न पर पुनर्विचार करने का अवसर दिए बिना एक अवांछित परिणाम की ओर ले जाती है । यदि इस सिद्धांत को मस्तिष्क में रखा जाता है तो शब्दावली आसानी से समझ में आ जाती है । तलाक के रूपों को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :-

(क) तलाक-अल-सुन्ना (अर्थात् पैगम्बर के आदेशों के अनुरूप) –

(i) अहसन (सर्वाधिक अनुमोदित),

(ii) हसन (अनुमोदित) ।

(ख) तलाक-अल-बिदा (अर्थात् नव-परिवर्तित, इसलिए अनुमोदित नहीं) –

(i) एक बार में तीन घोषणाएं (तथाकथित तीन तलाक),

(ii) अप्रतिसंहरणीय एक घोषणा (सामान्यतः लिखित में) ।

तलाक-अल-सुन्ना, जो सर्वाधिक अनुमोदित रूप हैं, में तुहर (शुद्धता, अर्थात् जब स्त्री अपने ऋतुस्राव अनुक्रमों से मुक्त हो जाती है) की अवधि में केवल एक उद्घोषणा की जाती है और उस यौन शुद्धता की संपूर्ण अवधि के दौरान संभोग से प्रविरति रहती है । यदि उल्लिखित अवधियों के दौरान कोई ऐसा संभोग किया जाता है तो तलाक शून्य हो जाता है और ईथना आशरी और फातिमी विधियों में इसका कोई प्रभाव नहीं होता है । यही वह पद्धति या प्रक्रिया है जो पैगम्बर द्वारा अपने शासन के आरंभ में अनुमोदित की गई प्रतीत होती है और परिणामतः, इसे तलाक का नियमित या उचित और प्रथागत रूप समझा जाता है ।

जहां पक्षकार लंबे समय से एक-दूसरे से दूर रह रहे हों, या जहां पत्नी वृद्ध है और ऋतुस्राव की आयु पार कर चुकी है, वहां तुहर की शर्त अनावश्यक है ।

तलाक के अहसन रूप में की गई उद्घोषणा इद्दत के दौरान प्रतिसंहरणीय है । यह अवधि घोषणा की तारीख से तीन माह की है, या यदि स्त्री गर्भवती है तो प्रसव होने तक है । पति इद्दत के दौरान किसी भी समय तलाक का प्रतिसंहरण कर सकता है । यह प्रतिसंहरण अभिव्यक्त शब्दों द्वारा या आचरण द्वारा किया जा सकता है । दांपत्य संभोग की पुनः शुरुआत करना प्रतिसंहरण का स्पष्ट मामला होता है । उदाहरण के लिए, 'एच' अपनी पत्नी के विरुद्ध तलाक की एकल प्रतिसंहरणीय उद्घोषणा करता है और फिर कहता है, 'मैंने उसे रख लिया है या उसके साथ सहवास करता हूं', तो तलाक हनफी तथा ईथना आशरी विधि के अधीन प्रतिसंहृत हो जाता है । इद्दत के पर्यवसान के पश्चात् तलाक अप्रतिसंहरणीय बन जाता है ।

मुस्लिम पत्नी तलाक के पश्चात् इद्दत के दौरान भरणपोषण की हकदार है और कतिपय परिस्थितियों में उसका बालक भी ।

तलाक का हसन रूप भी एक अनुमोदित रूप है किंतु पहले (अहसन) की अपेक्षा कम अनुमोदित है, जिसमें शुद्धता (तुहर) की तीन क्रमवर्ती अवधियों के दौरान तीन उत्तरवर्ती उद्घोषणाएं होती हैं । प्रत्येक उद्घोषणा उस समय की जानी चाहिए, जब शुद्धता की उस विशिष्ट अवधि के दौरान संभोग न किया गया हो ।

तलाक के हसन रूप का कुछ स्पष्टीकरण देना आवश्यक है और एक ठोस उदाहरण पर्याप्त होगा । पति (एच) अपनी पत्नी (डब्ल्यू) को पहली बार उस अवधि के दौरान तलाक की उद्घोषणा करता है जब 'डब्ल्यू' अपने ऋतुस्राविक अनुक्रम से मुक्त है । पति और पत्नी शुद्धता की इस अवधि के दौरान एक साथ नहीं आए । यह प्रथम तलाक है । 'एच' शुद्धता की इस अवधि में सहवास करे या इस प्रथम तलाक को प्रतिसंहृत करे । उसके पश्चात् शुद्धता की अगली अवधि में, उस समय जब संभोग न किया गया हो, 'एच' द्वितीय तलाक की उद्घोषणा कर देता है । यह तलाक पुनः अभिव्यक्त शब्दों द्वारा या आचरण द्वारा प्रतिसंहृत किया गया हो और शुद्धता की तृतीय अवधि में प्रवेश हो गया हो । इस अवधि में, जबकि कोई संभोग नहीं हुआ है, 'एच' तीसरी बार तलाक के सूत्र की उद्घोषणा करता है । यह तृतीय उद्घोषणा विधि की दृष्टि से अंतिम और वैवाहिक बंधन के अप्रतिसंहरणीय विघटन के रूप में प्रवृत्त हो जाती है । विवाह का विघटन हो जाता है; संभोग अवैध हो जाता है, इद्दत आबद्धकर हो

जाती है । पक्षकारों के बीच पुनर्विवाह तब तक असंभव हो जाता है जब तक कि डब्ल्यू विधिपूर्वक अन्य पति से विवाह नहीं कर लेती है और अन्य पति वास्तव में विवाहोत्तर संभोग के पश्चात् उसे तलाक नहीं दे देता है ।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि इन दो रूपों में पक्षकारों के लिए मित्रों के हस्तक्षेप या अन्यथा द्वारा सुलह किए जाने की संभावना है । अतः ये दोनों रूप 'अनुमोदित' रूप हैं और सुन्नी तथा शिया दोनों विधियों द्वारा मान्यताप्राप्त हैं । तथापि, ईथना आसरी और फातिमी शाखा शेष दोनों रूपों को मान्यता नहीं देते हैं और इस प्रकार, विधि-निर्माता की प्राचीन काल की परम्पराओं को परिरक्षित रखे हुए हैं ।

प्रथम, या अहसन रूप 'सर्वाधिक अनुमोदित' रूप है क्योंकि पति सौम्य रीति में बर्ताव करता है और पत्नी को एक वस्तु की तरह नहीं समझता है । दूसरा रूप ऐसा है जिसमें पैगम्बर ने इस्लाम-पूर्व की पाश्विक परिपाटी को समाप्त करने की कोशिश की है । यह परिपाटी थी कि पत्नी को तलाक देकर उसके साथ दुर्व्यवहार करने के लिए उसे कई-कई बार वापस लिया जाता था । पैगम्बर ने तृतीय उद्घोषणा की अप्रतिसंहरणीयता के नियम द्वारा स्पष्ट रूप से यह संकेत दिया कि ऐसी परिपाटी अनिश्चित अवधि तक जारी नहीं रह सकती है । अतः, यदि कोई पति वास्तव में पत्नी को वापस लेना चाहता है तो उसे ऐसा करना चाहिए, यदि नहीं, तो सुलहों के पश्चात् तृतीय उद्घोषणा अंतिम वर्जन के रूप में प्रवृत्त हो जाएगी । विधि के ये नियम कुरान के व्यादेशों की आत्मा के अनुसरण में है – 'जब वे दयालुतापूर्वक उन्हें वापस लेने के लिए या दयालुतापूर्वक उनसे अलग होने के लिए अपनी समयावधि में पहुंचे हों' ।

विवाह-विच्छेद का एक अननुमोदित रूप तीन घोषणाएं करके दिया गया तलाक है जिसमें एक ही तुहर में तीन उद्घोषणाएं या तो एक वाक्य में, उदाहरण के लिए, 'मैं तुम्हें तीन बार या तीन तलाक देता हूं' या तीन वाक्यों में 'मैं तुम्हें तलाक देता हूं', 'मैं तुम्हें तीन बार या तीन तलाक देता हूं', की जाती हैं । ऐसा तलाक हनफी विधि में विधिपूर्ण है, यद्यपि धर्म के उल्लंघन में है, किंतु ईथना आशरी और फातिमी विधियों में यह अनुज्ञेय नहीं है । इसे तलाक-अल-बैन, अप्रतिसंहरणीय विवाह-विच्छेद, कहा जाता है ।

अननुमोदित विवाह-विच्छेद का एक अन्य रूप या तो तुहर की

अवधि के दौरान या अन्यथा भी की गई एकल अप्रतिसंहरणीय उद्घोषणा है । इस रूप को भी तलाक-अल-बैन कहा जाता और इसे लिखित में दिया जा सकता है । ऐसा 'तलाकनामा' तुरंत प्रवृत्त हो जाता है और वैवाहिक बंधन को तोड़ देता है । इस रूप को ईथना आशरी या फातिमी शाखाओं द्वारा मान्यता नहीं दी गई है ।"

(रेखांकन द्वारा बल दिया गया है)

239. इस प्रक्रम पर, 1937 के अधिनियम पर विचार करने की आवश्यकता है । इस अधिनियम के उद्देश्य और कारण निम्नलिखित हैं :–

"विगत कई वर्षों से ब्रिटिश भारत के मुसलमानों की यह हार्दिक इच्छा रही है कि रूढ़िजन्य विधि को किसी भी दशा में मुस्लिम स्वीय विधि का स्थान नहीं लेना चाहिए । यह विषय बार-बार प्रेस में तथा मंच पर उठाया जाता रहा है । सर्वोच्च मुस्लिम धार्मिक निकाय जमियत-अल-उलेमा-ए-हिंद ने इस मांग का समर्थन किया है और इस प्रभाव का उपाय करने की तात्कालिक आवश्यकता के प्रति सभी संबंधित का ध्यान आकर्षित किया है । रूढ़िजन्य विधि एक गलत नाम है क्योंकि इसके पास टिकाऊ बने रहने के लिए कोई ठोस आधार नहीं है और इसमें बार-बार परिवर्तन किए जा सकते हैं और भविष्य में किसी समय वैसी निश्चितता और स्थिरता प्राप्त करने की प्रत्याशा नहीं की जा सकती है, जो सभी विधियों की विशेषता होनी चाहिए । तथाकथित रूढ़िजन्य विधि के अधीन मुस्लिम स्त्रियों की हैसियत केवल अपमानजनक है । इसलिए, सभी मुस्लिम स्त्री संगठनों ने रूढ़िजन्य विधि की निंदा की है क्योंकि इससे उनके अधिकारों पर प्रतिकूल रूप से प्रभाव पड़ता है । उन्होंने यह मांग की है कि उन पर मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) लागू की जानी चाहिए । मुस्लिम स्वीय विधि के पुरःस्थापन से वे स्वयमेव उस स्थिति में पहुंच जाएंगी, जिसकी वे स्वाभाविक रूप से हकदार हैं । इस प्रस्तुत उपाय को जोड़ते हुए, यदि अधिनियमित किया जाता है, तो समाज पर बहुत ही हितकर प्रभाव पड़ेगा क्योंकि इससे जनसाधारण के पारस्परिक अधिकारों और बाध्यताओं में निश्चितता और स्थिरता सुनिश्चित होगी । मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) एक प्रमाणित संहिता के रूप में विद्यमान है और वह इतनी सुविख्यात है कि उस पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता है या अनुसंधान रूपी कोई अत्यधिक श्रम नहीं होना है, जो कि रूढ़िजन्य विधि का मुख्य लक्षण है ।"

(रेखांकन द्वारा बल दिया गया है)

240. यह एक संक्षिप्त अधिनियम है जिसमें छह धाराएं हैं । इन मामलों में सीधे रूप से हमारा सरोकार धारा 2 से है । 1937 के अधिनियम की धारा 2 में यह उल्लिखित है :–

> "2. मुसलमानों पर स्वीय विधि का लागू होना – किसी प्रतिकूल रूढ़ि या प्रथा के होते हुए भी, निर्वसीयती उत्तराधिकार, महिलाओं की विशेष संपत्ति, जिसमें वसीयत में आई या संविदा या दान या स्वीय विधि से किसी अन्य उपबंध के अधीन अभिप्राप्त संपत्ति भी है, विवाह, विवाह-विघटन, जिसमें तलाक, ईला, ज़िहार, लियान, खुला और मुबारत भी है, भरणपोषण, मेहर, संरक्षकता, दान, न्यासों और न्यास संपत्तियों, और वक्फों (पूर्त और पूर्त संस्थाओं तथा पूर्त और धार्मिक विन्यासों से भिन्न) संबंधी सभी प्रश्नों में (कृषि भूमि से संबंधित प्रश्नों के सिवाय) जहां पक्षकार मुसलमान है, वहां उन मामलों में विनिश्चय का नियम मुस्लिम स्वीय विधि (शरीयत) होगा ।"

241. "शरीयत" अभिव्यक्ति के अर्थ के बारे में ए. ए. ए. फ्याज़ी (उपर्युक्त) ने पृष्ठ 9-11 पर "शरीयत" का निम्न प्रकार से वर्णन किया है :–

> "उचित विधि पर विचार करने के लिए, यह स्मरण करना आवश्यक है कि विधि की दो अलग-अलग धारणाएं हैं । विधि की उत्पत्ति दैवीय समझी जा सकती है, जैसी कि हिंदू विधि और इस्लामिक विधि की स्थिति है, या इसे मानव-रचित के रूप समझा जा सकता है । पश्चात्वर्ती धारणा सभी आधुनिक विधानों का मार्गदर्शक सिद्धांत है; यह विधि की ग्रीक, रोमन, सेल्टिक या जर्मनवादी धारणा है, जैसा कि आस्द्रोरोज ने उल्लेख किया है । हम कतिपय सिद्धांतों के अनुसार कृत्य करने के लिए आबद्धकर हो सकते हैं, क्योंकि परमात्मा हम से ऐसा करने की इच्छा रखता है या अनुकल्पतः, क्योंकि राजा या प्रबुद्ध व्यक्तियों की सभा या समुदाय का नेता या सामाजिक रूढ़ि जन-साधारण की भलाई के लिए हम से ऐसा करने की मांग करते हैं । हिंदू विधि की दशा में, प्रथमतः, यह वेदों या श्रुति (जो सुना गया है) पर आधारित है; द्वितीयतः, स्मृति (जो महात्माओं और ऋषियों द्वारा स्मरण रखी गई हैं) पर आधारित है । यद्यपि, रूढ़ि का प्रभाव निस्संदेह अत्यधिक है, तो भी धर्म आचरण की एक प्रक्रिया, जो परमात्मा द्वारा अनुमोदित है, को उपलक्षित करता है,

जैसा कि हिंदू विधि-वेत्ताओं द्वारा परिभाषित किया गया है ।

अब, हम इस बात पर विचार करते हैं कि विधि की इस्लामिक धारणा क्या है ? न्यायमूर्ति महमूद के शब्दों में, यह स्मरणीय है कि हिंदू विधि और मुस्लिम विधि धर्म के साथ इतनी गहराई से संबद्ध हैं कि उन्हें इससे आसानी से अलग नहीं किया जा सकता है । इस्लाम में, शुभ और अशुभ के विषय में 'दृढ़-विश्वास' (इल्म-अल-यकीन) का सिद्धांत है । हम अपनी निर्गुणता में शुभ क्या है और अशुभ क्या है, तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि इस विषय में हमारा मार्गदर्शन किसी प्रेरणादायक पैगम्बर द्वारा नहीं किया जाता है । शुभ और अशुभ हुस्न (सुदंरता) और कुभ (बदसूरती) का अर्थ इन शब्दों की नीतिपरक स्वीकार्यता में समझा जाना चाहिए । जो कार्य नैतिक रूप से सुंदर है, उसे ही किया जाना चाहिए और जो नैतिक रूप से बुरा है उसे नहीं किया जाना चाहिए । यही विधि या शरीयत है और कोई अन्य बात विधि नहीं हो सकती है । किंतु, पूर्णतः और असंदिग्ध रूप से क्या सुंदर है और पूर्णतः और असंदिग्ध रूप से क्या बुरा है ? ये महत्वपूर्ण विधिक प्रश्न हैं; और इनका उत्तर कौन दे सकता है ? मुस्लिम विधि-शास्त्रियों का कहना है, इनका उत्तर निश्चित रूप से मनुष्य नहीं दे सकता । हमारे पास कुरान है जो स्वयं अल्लाह की वाणी है । इसके अनुपूरक रूप में हमारे पास हदीस है जो पैगम्बर की परम्पराएं हैं - जो उनके कार्यों और उनके द्वारा कही गई बातों के अभिलेख हैं - जिनसे हमें विधिक विनिश्चयों पर पहुंचने के लिए अवश्य सहायता और प्रेरणा लेनी चाहिए । यदि न तो कुरान में और न ही हदीस में हमारे समक्ष विशिष्ट प्रश्न का उत्तर देने के लिए कुछ नहीं है तो हमें कतिपय निश्चित सिद्धांतों के अनुसार धर्म-निरपेक्ष तर्कणा के आदेशों का अनुसरण करना चाहिए । मुस्लिम विद्वानों की इसकी समझ के अनुसार ये सिद्धांत पवित्र विधि या शरीयत के आधार हैं और यही वे विधिक धारणाएं हैं जिनका इस्लामिक सिविल विधि का समग्र रूप में या यहां तक कि उसके उस छोटे से भाग का भी, जिसे भारत में मुस्लिम विधि के रूप में जाना जाता है, अध्ययन करने से पूर्व हमें उनका अध्ययन और विश्लेषण करने की अवश्य कोशिश करनी चाहिए ।

आधुनिक विधिवेता, किसी राष्ट्र के आचरण और स्वाभाविक विशेषता को समझने के लिए विधि के महत्व पर बल देते हैं । एक

आधुनिक विधिवेत्ता का कहना है कि विधि राष्ट्रीय कविता की तरह राष्ट्र की आत्मा से प्रवाहित होती है और यह राष्ट्र धर्म जितनी ही पवित्र हैं; यह भाषा की तरह विकसित होती है और फैलती है, नैतिक और काव्यात्मक सभी तत्वों का इसके प्राणदायी शक्ति में योगदान हैं; यह किसी राष्ट्र की सभ्यता का आसवित सार हैं; यह किसी अन्य जीव की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से लोगों की आत्मा को प्रतिबिम्बित करती है । यही इस्लाम का यथार्थ है जो किसी अन्य विश्वास से बढ़कर है । शरीयत इस्लाम का केन्द्रीय बीजकोष है; इसकी सभ्यता, इसके सामाजिक इतिहास या इसकी राजनैतिक व्यवस्था का इसकी विधिक व्यवस्था के ज्ञान और मूल्यांकन के बिना समझना संभव नहीं है ।

शरीयत (जलनिधि मार्ग, अनुसरणीय पथ) का तकनीकी निबंधन के रूप में अर्थ है, इस्लाम की धर्मविधि, अल्लाह के धर्मादेशों की संपूर्णता । ऐसे प्रत्येक धर्मादेश को हुक्म (बहुवचन-अहकम) कहा जाता है । अल्लाह की विधि और इसके अन्तर्भूत अर्थ को समझ लेना आसान नहीं है; और शरीयत सभी मानवीय कृत्यों को अंगीकार करती है । इस कारण से यह आधुनिक अर्थ में 'विधि' न होकर इसमें नैतिक नियमों के अचूक दिशा-निर्देश अंतर्विष्ट हैं । यह मूलभूत रूप से कर्तव्यों का एक सिद्धांत और आबद्धताओं की संहिता है । विधिक बातों और वैयक्तिक अधिकारों का स्थान इसमें दोयम दर्जे का है और सबसे बढ़कर जीवन के सभी कार्यकलापों का धार्मिक मूल्यांकन करने के प्रति प्रवृत्ति सर्वोच्च है ।

शरीयत के अनुसार, धार्मिक व्यादेश पांच प्रकार के हैं, अल-अहकम अल-खामसाह । जो कड़ाई पूर्वक लागू किए जाते हैं वे फर्ज़ हैं और जो पूरी तरह से निषिद्ध हैं वे हराम हैं । इनके मध्य में हमारे पास दो मध्यवर्ती प्रवर्ग हैं; अर्थात् जो बातें आपको करने के लिए कही जाती हैं (मनदब), और जिन बातों से आपको प्रविरत रहने की सलाह दी जाती है (मकरूह) और अंततः वे बातें हैं जिनके बारे में धर्म उदासीन (जायज़) है । प्रतिदिन की जाने वाली प्रार्थनाएं, जिनकी संख्या पांच हैं, फर्ज़ हैं; शराब हराम है; अतिरिक्त रूप से की जाने वाली प्रार्थनाएं, जैसी कि जो ईद पर की जाती है; मनदब है; और इसमें हजारों जायज़ बातें है जैसे कि हवाई यात्रा । इस प्रकार, शरीयत सर्वगुण संपन्न है; सभी मानवीय क्रियाकलाप इसकी प्रभुसत्ता में परिवेष्टित हैं । इन पांच प्रकार के विभाजन को सावधानीपूर्वक

ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो उन बातों के बीच के विभेद को समझना असंभव है जो केवल नैतिक रूप से आदिष्ट हैं और वह जो विधिक रूप से बाध्य हैं । स्पष्टतः, नैतिक आबद्धता विधिक आवश्यकता से एक बिल्कुल अलग बात है और यदि विधि में इन विभेदों को ध्यान में नहीं रखा जाता है तो गलती और भ्रम होना लाजिमी है ।"

242. यह देखा जा सकता है कि 1937 का अधिनियम एक संविधान-पूर्व विधायी उपाय है जो सीधे तौर पर भारत के संविधान के अनुच्छेद 13(1) के अंतर्गत आएगा, यह अनुच्छेद निम्न प्रकार से है :–

"अनुच्छेद 13 - मूल अधिकरों से असंगत या उनका अल्पीकरण करने वाली विधियां - (1) इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले भारत के राज्यक्षेत्र में प्रवृत्त सभी विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक वे इस भाग के उपबंधों से असंगत हैं ।

(2) * * * * *

(3) इस अनुच्छेद में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो –

(क) 'विधि' के अंतर्गत भारत के राज्यक्षेत्र में विधि का बल रखने वाला कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि या प्रथा है;

(ख) 'प्रवृत्त विधि' के अंतर्गत भारत के राज्यक्षेत्र में किसी विधान-मंडल या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा इस संविधान के प्रारंभ से पहले पारित या बनाई गई विधि है जो पहले ही निरसित नहीं कर दी गई है, चाहे ऐसी कोई विधि या उसका कोई भाग या उस समय पूर्णतया या विशिष्ट क्षेत्रों से प्रवर्तन में नहीं है ।"

243. तथापि, मुस्लिम पर्सनल बोर्ड की ओर से विद्वान् काउंसेलों तथा उनके द्वारा लिए गए आधार का समर्थन करने वाले अन्य काउंसेलों ने यह तर्क दिया कि 1937 के अधिनियम का अभिप्राय, इसके उद्देश्यों और कारणों के आलोक में पढ़ने पर, मुस्लिम स्वीय विधि को लागू करना नहीं है, जो कि भारत के न्यायालयों के माध्यम से स्वतः प्रवर्तनीय है । 1937 के अधिनियम का एकमात्र अभिप्राय, जैसा कि धारा 2 में सर्वोपरि खंड से उपदर्शित होता है, उस रूढ़ि या प्रथा से छुटकारा पाना है जो मुस्लिम

स्वीय विधि के प्रतिकूल है ।

244. हमें खेद है कि कानून का ऐसा संकुचित परिशीलन विधि की दृष्टि से अननुज्ञेय है । ठीक है, किसी कानून के उद्देश्य और कारण उस पृष्ठभूमि को उजागर करते हैं जिसमें वह कानून अधिनियमित किया गया था, किंतु धारा 2 के सर्वोपरि खंड को इस धारा के अधिनियमित भाग को शासित करने वाले भाग के रूप में पढ़ना कठिन है, नहीं तो यह ऐसा मामला बन जाएगा जहां एक छोटा सा भाग संपूर्ण को नियंत्रित करता हो । इसी प्रकार का प्रयत्न बहुत वर्ष पहले भी किया गया था और **अश्विनी कुमार घोष** बनाम **अरविंद बोस**[1] वाले मामले में इसे नामंजूर कर दिया गया था । इस न्यायालय का सरोकार उच्चतम न्यायालय अधिवक्ता (उच्च न्यायालयों में विधि-व्यवसाय) अधिनियम, 1957 की धारा 2 से था । उक्त अधिनियम की धारा 2 निम्नलिखित है :-

> "भारतीय विधिज्ञ परिषद् अधिनियम, 1926, या किसी अन्य विधि में उन शर्तों को, जिनके अधीन कोई व्यक्ति किसी उच्च न्यायालय के अधिवक्ताओं की नामावली में प्रविष्ट नहीं किया गया हो, उस उच्च न्यायालय में विधि-व्यवसाय करने के लिए अनुज्ञात किया गया हो, विनियमित करने के लिए किसी बात के अंतर्विष्ट होते हुए भी उच्चतम न्यायालय का प्रत्येक अधिवक्ता प्रत्येक उच्च न्यायालय में साधिकार विधि-व्यवसाय करने का हकदार होगा, चाहे वह उस उच्च न्यायालय का अधिवक्ता है या नहीं :
>
> परंतु इस धारा की कोई बात किसी व्यक्ति को केवल इस कारण कि वह उच्चतम न्यायालय का अधिवक्ता है उस किसी उच्च न्यायालय में विधि व्यवसाय करने का हकदार बनाने वाली नहीं समझी जाएगी जिसमें वह किसी समय न्यायाधीश रहा था और यदि, उसने वचनपत्र दिया हो कि वह ऐसे न्यायाधीश के रूप में पद धारण करना बंद करने के पश्चात् उसमें विधि व्यवसाय नहीं करेगा ।"

245. इस न्यायालय के समक्ष दिया गया तर्क यह था कि सर्वोपरि खंड, धारा की व्याप्ति के सही निर्वचन की कुंजी प्रस्तुत करता है और इसलिए अधिनियमित खंड का अर्थान्वयन केवल ऐसे अधिकार को प्रदत्त करने वाले खंड के रूप में किया जाना चाहिए जो प्रारंभिक खंड द्वारा दूर की गई निरर्हता के साथ समविस्तीर्ण है । इस न्यायालय द्वारा इस तर्क को

---

[1] [1953] एस. सी. आर. 1.

निम्नलिखित रूप में नामंजूर कर दिया गया :–

> "23. अब नए अधिनियम की धारा 2 में के सर्वोपरि खंड पर आते हैं और यह प्रतीत होता है कि निचले न्यायालय के तर्क का संपूर्ण आधार इसी पर टिका है और हमारे समक्ष दिए गए तर्क में इस तर्क-आधार का पूर्ण रूप से अनुसरण किया गया है - हमने विद्वान् न्यायाधीशों को शुरुआत में यह जांच करते हुए पाया है कि वे उपबंध कौन-से हैं जिनका इस खंड से अधिक्रांत होना ईप्सित है और फिर अधिनियमित खंड स्थापित करके ऐसा अर्थान्वयन करना जो इसके द्वारा प्रदत्त अधिकार को अधिक्रांत उपबंधों द्वारा अधिरोपित निरर्हता के साथ समविस्तीर्ण हो । इस धारा का अर्थ और अधिक स्पष्ट हो जाएगा, उन्होंने मत व्यक्त किया कि, 'यदि हम कुछ अधिक गहराई से परीक्षा करें कि वास्तव में इस धारा से क्या अधिक्रांत होता है या निरसित होता है...... । धारा से जो निरर्हता दूर होती है और जो अधिकार इससे प्रदत्त होता है, वे समविस्तीर्ण हैं ।' हमारी राय में, धारा 2 के अर्थान्वयन के लिए यह सही दृष्टिकोण नहीं है । पहले यह अभिनिश्चित करना चाहिए कि धारा का अधिनियमित भाग इसमें प्रयुक्त शब्दों का उनके स्वाभाविक और साधारण अर्थ के अनुसार क्या सही अर्थान्वयन प्रदान करता है, और सर्वोपरि खंड को सुसंगत विद्यमान विधि, जो नई अधिनियमिति से असंगत है, में अंतर्विष्ट कोई बात आगे विधिमान्य न रहते हुए उसे अपास्त करने के रूप में लागू होने वाला समझा जाना चाहिए । (पृष्ठ 21-22 पर)

ए. वी. फर्नांडीज़ बनाम **केरल राज्य**[1] वाले मामले में इस मत का अनुसरण किया गया था ।

246. अतः यह स्पष्ट है कि मुस्लिम स्वीय विधि द्वारा मान्यताप्राप्त और प्रवर्तित तलाक के सभी रूप 1937 के अधिनियम द्वारा मान्यताप्राप्त और प्रवर्तित हैं । इसमें आवश्यक रूप से तीन तलाक भी सम्मिलित है जब यह भारत में सुन्नियों पर लागू मुस्लिम स्वीय विधि में आता है । इसलिए मुस्लिम पर्सनल बोर्ड के इस तर्क को स्वीकार करना अति कठिन है कि

---

[1] [1957] एस. सी. आर. 837.

धारा 2 तीन तलाक को मान्यता नहीं देती है या प्रवर्तित नहीं करती है । यह धारा स्पष्ट और साफ तौर पर दोनों कार्य करती है क्योंकि यह धारा तीन तलाक को "उन मामलों में विनिश्चय का नियम बनाती है जहां पक्षकार मुस्लिम हों" ।

247. जैसा कि हमने निष्कर्ष निकाला है कि 1937 के अधिनियम, संविधान के प्रवर्तन में आने से पूर्व विधान-मंडल द्वारा बनाई गई विधि है, इसलिए यह पूर्ण रूप से अनुच्छेद 13(3) में की अभिव्यक्ति "प्रवृत्त विधियों" के अंतर्गत आएगी और संविधान के भाग 3 के उपबंधों के असंगत पाए जाने पर ऐसी असंगतता की सीमा तक संविधान के अनुच्छेद 13(1) के उल्लंघन में होगी ।

248. इस प्रक्रम पर, भारत में सुन्नी मुसलमानों पर लागू विवाह-विच्छेद के विधिक ढंग के रूप में तीन तलाक की मान्यता के प्रतिनिर्देश करना आवश्यक है । **साराबाई** बनाम **रबियाबाई**[1] वाले बम्बई के एक पूर्व मामले में न्यायमूर्ति बैचलर ने तीन तलाक को निर्दिष्ट किया और कहा कि "यह विधि की दृष्टि से सही है, हालांकि धर्मशास्त्र की दृष्टि से गलत है ।" 1937 के अधिनियम से पांच वर्ष पहले वर्ष 1932 में प्रिवी कौंसिल के विनिश्चय में अर्थात् **राशीद अहमद** बनाम **अनीसा खातून**[2] वाले मामले में प्रिवी कौंसिल को सीधे तौर पर एक तीन तलाक के मामले में न्यायनिर्णयन करना था । लार्ड थंकर्टन ने प्रिवी कौंसिल का निर्णय सुनाते हुए यह मत व्यक्त किया :–

> "मामले में ऐसा कुछ नहीं है जिससे यह सुझाव मिलता हो कि पक्षकार हनफी विधि द्वारा शासित सुन्नी मुसलमान नहीं हैं और न्यायमूर्तियों की राय में ऐसे मामलों में लागू होने वाली विवाह-विच्छेद की विधि का उल्लेख सर आर. के. विल्सन द्वारा अपने एंग्लो-मोहम्मडन विधि के निर्णय-सार, पांचवां संस्करण, पृष्ठ 136 पर इस प्रकार किया है – विवाह-विच्छेद, जिसे तलाक कहा जाता है, या तो अप्रतिसंहरणीय (बैन) या प्रतिसंहरणीय (रजा) हो सकता है । बैन तलाक सदैव तुरंत लागू हो जाता है और विवाह-बंधन का विघटन पूर्ण हो जाता है, जबकि उस रूप के अनुसार, जिसमें यह उद्घोषित किया जाता है, इसके अंतरस्थ प्रभावों में से एक के बारे में इसमें

[1] (1906) आई. एल आर. 30 बम्बई 537.

[2] ए. आई. आर. 1932 प्रिवी कौंसिल 25 = (1931) एस. सी. सी. 78 प्रिवी कौंसिल.

भिन्नता है । बैन तलाक पत्नी को संबोधित शब्दों द्वारा विवाह को विघटित करने के आशय को स्पष्ट रूप से उपदर्शित करते हुए या तो – (क) एक बार और उसके पश्चात् इद्दत कही जाने वाली अवधि में संभोग से प्रवरित रहते हुए दिया जा सकता है; या (ख) शुद्धता के क्रमवर्ती अंतरालों के दौरान अर्थात् क्रमवर्ती ऋतुस्रावों के बीच तीन बार उच्चारण करके दिया जा सकता है और तीनों अंतरालों में किसी के दौरान संभोग न किया गया हो; या (ग) थोड़े-थोड़े अंतराल पर तीन बार; या एक के बाद एक; या (घ) एक बार, शब्दों द्वारा यह स्पष्ट आशय दर्शित करते हुए कि विवाह-विच्छेद तुरंत प्रभाव से अप्रतिसंहरणीय हो जाएगा । पहले नामित उपर्युक्त पद्धतियों को अहसन (सर्वोत्तम) कहा जाता है, दूसरी को हसन (अच्छी), तीसरी और चौथी को बिद्दत (धर्मोल्लंघक) कहा जाता है, किंतु तो भी सुन्नी विधिवेताओं द्वारा इन्हें विधिक रूप से विधिमान्य समझा जाता है ।" (पृष्ठ 26 पर)

प्रिवी कौंसिल ने यह भी उल्लेख किया :–

"माननीय न्यायमूर्तियों की यह राय है कि घियासुद्दीन द्वारा की गई तीन तलाक की उद्घोषणा से तत्काल रूप से प्रभावी विवाह-विच्छेद का गठन हो गया था और जबकि उनका यह समाधान हो गया है कि प्रस्तुत मामले में उच्च न्यायालय द्वारा साक्ष्य के आधार पर निकाला गया ऐसा निष्कर्ष न्यायोचित नहीं था, जबकि उनकी यह राय है कि विवाह-विच्छेद की विधिमान्यता और प्रभावकारिता घियासुद्दीन के इस मानसिक आशय द्वारा प्रभावित नहीं होगी कि इसे एक असली विवाह-विच्छेद नहीं माना जाना चाहिए, इसलिए यह मत सभी नज़ीरों के प्रतिकूल है । बाध्यता के अधीन या व्यंग में, वास्तव में उद्घोषित तलाक विधिमान्य और प्रभावी होता है – बेलीज़ डाइजेस्ट, द्वितीय संस्करण, पृ. 208 अमील अली का मोहम्मडन ला, तृतीय संस्करण, वाल्यूम-1, पृ. 211. (पृष्ठ 27 पर)

249. इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विधि का यही वह दृष्टिकोण है, जिसको 1937 का अधिनियम मान्यता के साथ-साथ प्रवर्तित भी करता है जिससे कि यह संविधान के अनुच्छेद 13(1) की परिधि के भीतर आ सके ।

250. ऐसी वस्तुस्थिति में, हमारे लिए यह विनिश्चय करना अनावश्यक है कि **नरासू अप्पा** (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय सही विधि है या नहीं । तथापि, किसी उपर्युक्त मामले में, इस निर्णय पर

पुनर्विचार किया जाना आवश्यक हो सकता है क्योंकि "विधि" और "प्रवृत्त विधियों" की परिभाषा दोनों ही समावेशित परिभाषाएं हैं और न्यायमूर्ति पी. बी. गजेन्द्रगड़कर के निर्णय का कम-से-कम एक भाग (पैरा 26) स्वतः अब एक सही विधि नहीं है, जिसमें विद्वान् न्यायाधीश ने यह राय व्यक्त की है कि "विधि" अभिव्यक्ति को अनुच्छेद 13(3) में दी गई "प्रवृत्त विधियां" अभिव्यक्ति नहीं पढ़ा जा सकता है - **संत राम और अन्य** बनाम **लाभ सिंह और अन्य**[1] वाला मामला देखें ।

251. कुछ आधे-अधूरे मन से यह तर्क दिया गया कि तीन तलाक इस्लामिक आस्था का आवश्यक भाग है और इसलिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 25 द्वारा संरक्षित है । अनुच्छेद 25 निम्नलिखित है :-

> "**अनुच्छेद 25 – अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता** –
>
> (1) लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा ।
>
> (2) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो –
>
> (क) धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलाप का विनियमन या निर्बन्धन करती है;
>
> (ख) सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए या सार्वजनिक प्रकार की हिंदुओं की धार्मिक संस्थाओं को हिंदुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोलने का उपबंध करती है ।
>
> स्पष्टीकरण 1 – कृपाण धारण करना और लेकर चलना सिख धर्म के मानने का अंग समझा जाएगा ।
>
> स्पष्टीकरण 2 – खंड (2) के उपखंड (ख) में हिंदुओं के प्रति निर्देश का यह अर्थ लगाया जाएगा कि उसके अंतर्गत सिक्ख, जैन

---

[1] [1964] एस. सी. आर. 756.

या बौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियों के प्रति निर्देश है और हिंदुओं की धार्मिक संस्थाओं के प्रति निर्देश का अर्थ तद्नुसार लगाया जाएगा ।"

252. **आयुक्त, हिंदू धार्मिक विन्यास, मद्रास** बनाम **लक्ष्मींद्र तीर्थ स्वामीयार आफ श्री शिरूर मठ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा "धर्म" का यथासंभव व्यापक अर्थ दिया गया है । इसलिए, इस देश में नास्तिकता भी "धर्म" का भाग है । किंतु इस न्यायालय द्वारा एक महत्वपूर्ण चेतावनी सम्मिलित की गई है अर्थात् केवल जो आवश्यक धार्मिक प्रथा है, वही अनुच्छेद 25 के अधीन संरक्षित है । कुछ विनिश्चयों में अधिकथित किया गया है कि आवश्यक धार्मिक प्रथा का गठन किस बात से होता है । अतः **जावेद** बनाम **हरियाणा राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्न प्रकार से उल्लेख किया है :–

"60. किसी भी दृष्टिकोण से देखने पर, धारा 175(1)(थ) और धारा 177(1) की सांविधानिक विधिमान्यता को दी गई चुनौती का असफल होना लाजिमी है । पंचायत में किसी पद के लिए निर्वाचन लड़ने का अधिकार न तो मूल अधिकार है और न ही सामान्य विधि के अधीन अधिकार है । यह एक कानून की रचना है और स्पष्ट तौर पर विधान द्वारा अधिनियमित अर्हताओं और निरर्हताओं के अधीन है । चार स्त्रियों के साथ चार विवाह करना मुसलमानों के लिए अनुज्ञेय हो सकता है और किसी के लिए भी चाहे वह मुसलमान है या किसी अन्य समुदाय या धर्म का है, जितने वह चाहे उतने बालक पैदा कर सकता है किंतु भारत में कोई धर्म द्विविवाह या बहुविवाह करने या एक से अधिक बालक होने की बाध्यता आदिष्ट या आज्ञापक नहीं करता है । किसी धर्म द्वारा जो बात अनुज्ञात है या प्रतिषिद्ध नहीं की गई है, वह उस धर्म की धार्मिक प्रथा या सकारात्मक सिद्धांत नहीं बन जाता है । किसी प्रथा को केवल इस कारण धर्म की स्वीकृति अर्जित नहीं हो जाती है क्योंकि वह अनुज्ञात है । मान लिया जाए कि एक से अधिक पत्नियां रखने या एक से अधिक बालक पैदा करने की प्रथा किसी समुदाय या लोगों द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रथा है, तो भी इसे लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के हित में विधान द्वारा या सामाजिक कल्याण और सुधार का उपबंध करते हुए किसी

---

1 [1964] एस. सी. आर. 1005 (पृ. 1023-1024).

2 [2003] 4 उम. नि. प. 116 = (2003) 8 एस. सी. सी. 369.

विधि द्वारा विनियमित या प्रतिषिद्ध किया जा सकता है और आक्षेपित विधान स्पष्ट रूप से यही कार्य करता है ।" (पृष्ठ 394 पर)

और **पुलिस आयुक्त** बनाम **आचार्य जगदीश्वरानंद अवधूत**[1] वाले मामले में निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है :–

"9. संविधान के अनुच्छेद 25 और 26 के अधीन गांरटीकृत संरक्षण सिद्धांत या विश्वास के विषयों तक सीमित नहीं है, अपितु इसका विस्तार धर्म के अनुसरण में किए गए कृत्यों तक है और इसलिए इसमें धार्मिक कृत्यों, कर्म-काण्डों, गृह-कर्मों और पूजा की पद्धतियों की गारंटी अंतर्विष्ट है, जो धर्म के आवश्यक और अभिन्न भाग हैं । धर्म के अभिन्न और आवश्यक भाग का गठन किन बातों से होता है, उनका अवधारण उस धर्म के सिद्धांतों, प्रथाओं, मतों, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि के प्रति निर्देश करके किया जाना चाहिए । {आयुक्त, एच. आर. ई. **बनाम** श्री लक्ष्मींद्र तीर्थ स्वामीय्यर ऑफ श्री शिररूर मठ (ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 282 = [1954] एस. सी. आर. 1005, सेदना ताहेर सैफुद्दीन साहेब **बनाम** बम्बई राज्य ए. आई. आर. 1962 एस. सी. 853 = [1962] सप्ली. (2) एस. सी. आर. 496) और सेशाम्मल **बनाम** तमिलनाडु राज्य (1972) 2 एस. सी. सी. 11 = ए. आई. आर. 1972 एस. सी. 1586 वाले मामलों में सामान्य तौर पर संविधान न्यायपीठ के विनिश्चय उन पहलुओं के संबंध में देखें, जिन पर विचार किया जाना है ताकि यह अवधारित किया जा सके कि क्या कोई भाग या प्रथा आवश्यक है या नहीं ।} किसी धर्म के आवश्यक भाग या प्रथाओं का अर्थ क्या है, अब यह स्पष्टीकरण का विषय है । धर्म के आवश्यक भाग से अभिप्रेत वे मर्मभूत विश्वास हैं जिन पर वह धर्म टिका है । आवश्यक प्रथा से अभिप्रेत वे प्रथाएं हैं जो किसी धार्मिक विश्वास को मानने के लिए मूलभूत हैं । इन आवश्यक भागों या प्रथाओं पर ही किसी धर्म की ऊपरिसंरचना का निर्माण होता है और कोई धर्म इनके बिना धर्म ही नहीं कहलाएगा । इस बात का अवधारण करने की कसौटी के लिए, कि कोई भाग या प्रथा किसी धर्म के लिए आवश्यक है या नहीं, यह पता लगाया जाना चाहिए कि उस भाग या प्रथा के बिना धर्म की प्रकृति परिवर्तित हो जाएगी या नहीं । यदि उस भाग या प्रथा के हट जाने से उस धर्म या इसके विश्वास के स्वरूप में मूलभूत परिवर्तन हो सकता है, तब ऐसे भाग को आवश्यक और अभिन्न भाग माना जा सकता है । ऐसे भाग में कोई बढ़त या घटत नहीं की जा सकती हैं क्योंकि यह उस धर्म का यथार्थ

[1] (2014) 12 एस. सी. सी. 770.

सार होता है और रद्दोबदल से उसके मौलिक स्वरूप में परिवर्तन हो जाएगा । यही ऐसे स्थायी आवश्यक भाग हैं, जो संविधान द्वारा संरक्षित हैं । कोई यह नहीं कह सकता कि किसी व्यक्ति के धर्म का कोई आवश्यक भाग या प्रथा किसी विशिष्ट तारीख से या किसी घटना द्वारा परिवर्तित हुई है । तब्दीली-योग्य ऐसे भाग या प्रथाएं निश्चित तौर पर धर्म का वह 'सारतत्व' नहीं है जिन पर विश्वास आधारित है और जिन पर धर्म टिका है । उन्हें केवल अनावश्यक भाग या प्रथाओं की मात्र अतिरंजनाएं माना जा सकता है ।" (पृष्ठ 782-83 पर)

253. उपर्युक्त कसौटियां लागू करने पर यह स्पष्ट है कि तीन तलाक ही तलाक का ऐसा रूप है जो विधि की दृष्टि से तो अनुज्ञेय है, किंतु साथ ही हनफी शाखा ने ही, जिससे इसका सरोकार है, इसे धर्मोल्लंघक बताया है । अतः **जावेद** (उपर्युक्त) वाले मामले के अनुसार, यह किसी आवश्यक धार्मिक प्रथा का भाग नहीं है । आचार्य **जगदीशवरानंद** (उपर्युक्त) वाले मामले में उल्लिखित कसौटी लागू करने पर समान रूप से यह भी स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म की मूलभूत प्रकृति में इस प्रथा के बिना परिवर्तन नहीं होगा, जैसा कि भारतीय सुन्नी मुसलमानों के दृष्टिकोण से दिखाई पड़ता है । जैसा कि न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला द्वारा **मुल्ला** (उपर्युक्त) की अपनी प्रस्तावना में उल्लेख किया गया है, वास्तव में, इस्लाम सभी मानवीय कृत्य पांच प्रकारों में विभाजित करता है । उसमें यह कहा गया है :–

> "**ड. आज्ञाकारिता की कोटियां** – इस्लाम सभी कृत्यों को पांच प्रकारों में विभाजित करता है जिनका अल्लाह (ईश्वर) की दृष्टि में अलग-अलग मूल्य है । यह मुसलमानों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।
>
> > (i) **प्रथम कोटि** : फर्द । कुरान, हदीस या ईजमा में जो कुछ आदेशित है, उसका पालन आवश्यक है ।
> >
> > वाज़िब – फर्द की अपेक्षा शायद थोड़ा कम अनिवार्य किंतु केवल थोड़ा-सा कम ।
> >
> > (ii) **द्वितीय कोटि** : मसनून, मनदूब और मुस्तहब । ये अनुशंसित कृत्य हैं ।
> >
> > (iii) **तृतीय कोटि** : जायज या मुबाह – ये अनुज्ञेय कृत्य हैं जिनके बारे में धर्म उदासीन है ।

(iv) **चतुर्थ कोटि** : मकरूह – जो अनुचित होने के नाते अस्वीकार्य है ।

(v) **पंचम कोटि** : हराम – वह जो निषिद्ध है ।"

स्पष्ट तौर पर, तीन तलाक प्रथम कोटि के अंतर्गत नहीं आता है, चूंकि यह मान भी लिया जाए कि यह कुरान, हदीस या ईजमा का भाग है, तो भी यह ऐसी बात नहीं है जो "समादेशित" हो । समान रूप से, तलाक स्वयमेव एक अनुशंसित कृत्य नहीं है और इसलिए द्वितीय कोटि के अंतर्गत नहीं आएगा । तीन तलाक ज्यादा से ज्यादा तृतीय कोटि के अंतर्गत आता है, किंतु, अधिसंभाव्यतः, अधिक बेहतर तौर पर चतुर्थ कोटि के अंतर्गत आता है । यह स्मरण रखना होगा कि तृतीय कोटि के अधीन तीन तलाक एक अनुज्ञेय कृत्य है जिसके बारे में धर्म उदासीन है । चतुर्थ कोटि के अंतर्गत यह अनुचित होने के नाते अस्वीकार्य है । हमने पहले ही यह देखा है कि हालांकि तीन तलाक हनफी विधिशास्त्र में अनुज्ञेय है, तो भी यही विधिशास्त्र तीन तलाक को धर्मोल्लंघक होने के कारण इसकी निंदा करता है । अतः यह स्पष्ट है कि तीन तलाक अनुच्छेद 25(1) का भाग नहीं है । ऐसी स्थिति में, मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड की ओर से दी गई यह दलील कि इस विषय को वापस विधान-मंडल के पास भेजा जाना चाहिए, उद्भूत ही नहीं होती, क्योंकि अनुच्छेद 25(2)(ख) केवल तब लागू होगा यदि कोई विशिष्ट धार्मिक प्रथा पहले संविधान के अनुच्छेद 25(1) के अंतर्गत आती हो ।

254. और यह निष्कर्ष हमें इस प्रश्न पर ले जाता है कि जब याचिकाएं भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल की गई हों, तो क्या हमारे लिए यह कहना अनुज्ञेय है कि हम किसी मूल अधिकार के अभिकथित भंग का विनिश्चय नहीं करेंगे, अपितु ऐसे दोष के उपचार के लिए मामला वापस विधान-मंडल के पास भेजेंगे ।

255. **प्रेम चंद गर्ग** बनाम **उत्पाद-शुल्क आयुक्त, उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है :–

"2. अनुच्छेद 32(1) में यह उपबंधित है कि इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित कार्यवाहियों द्वारा उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने का अधिकार प्रत्याभूत किया जाता है और उप-अनुच्छेद (4) में यह अधिकथित है कि इस संविधान

[1] [1963] सप्ली. (1) एस. सी. आर. 885.

द्वारा अन्यथा उपबंधित के सिवाय, इस अनुच्छेद द्वारा प्रत्याभूत अधिकार निलंबित नहीं किया जाएगा । इसमें कोई संदेह नहीं कि इस देश के नागरिकों को अनुच्छेद 32 द्वारा प्रदत्त इस न्यायालय में समावेदन करने का अधिकार स्वतः एक प्रत्याभूत अधिकार है और इसकी संविधान में उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका है जितनी की अन्य उपबंध नागरिकों के मूल अधिकारों के संबंध में निभाते हैं । भाग 3 द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकार, जिन्हें न्यायालय के विचार योग्य बनाया गया है, भारत के संविधान की अति उत्कृष्ट और विशिष्ट विशेषता है । यह सही है कि उक्त अधिकार आत्यांतिक नहीं है और उन्हें जन-साधारण के हितों के अनुरूप समायोजित किया जाना चाहिए । किंतु अनुच्छेद 19 की स्कीम में स्पष्ट है कि मूल अधिकारों और सामाजिक-आर्थिक कल्याण की मांगों के बीच या तो विधायिका द्वारा या कार्यपालिका की कार्यवाही द्वारा किए गए समायोजनों के औचित्य या विधिमान्यता का अवधारण करने का दुष्कर कार्य संविधान द्वारा अंततोगत्वा उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के भार-बोधन में रखा गया है । इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए, संविधान निर्माताओं ने नागरिकों के मूल अधिकारों को प्रवर्तित करने के लिए इस न्यायालय में समावेदन करने के अधिकार को स्वयं एक मूल अधिकार के रूप में मानना उपयुक्त समझा । अतः, इस न्यायालय में समावेदन करने के मूल अधिकार को समुचित रूप में संविधान द्वारा निर्मित लोकतांत्रिक ढांचे की आधारशिला के रूप में वर्णित किया जा सकता है । इसी वजह से यह स्वाभाविक है कि इस न्यायालय को, न्यायमूर्ति पंतजलि शास्त्री के शब्दों में, स्वयं को मूल अधिकारों का 'संरक्षक और गारंटीदाता' के रूप में समझना चाहिए और यह घोषणा करनी चाहिए कि 'वह अपने ऊपर डाले गए उत्तरदायित्व के अनुरूप ऐसे अधिकारों के अतिलंघन के विरुद्ध संरक्षण की ईप्सा करने वाले आवेदनों को ग्रहण करने से मना नहीं कर सकता है ।' [रमेश थापंर **बनाम** मद्रास राज्य [1950] एस. सी. आर. 594, पृ. 697 वाला मामला देखें] । इस न्यायालय को उसे सौंपे गए कर्तव्यों का निर्वहन करने में पहरेदार की भूमिका निभानी चाहिए [मद्रास राज्य **बनाम** वी. सी. रोव [1952] एस. सी. आर. 594, वाला मामला देखें] और उसे सदैव उक्त मूल अधिकारों की उत्साहपूर्वक और सतर्कता पूर्वक संरक्षा करने के अपने पुनीत कर्तव्य के रूप में समझना चाहिए । [दरयाव **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य [1962] 1 एस. सी. आर. 574, पृ. 528

वाला मामला देखें] ।"

256. हम यह उल्लेख करते हुए उत्साहित हैं कि यू. एस. के उच्चतम न्यायालय के हाल ही के एक विनिश्चय में किसी मूलभूत अधिकार की रक्षा करने के लिए यू. एस. के उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने के विषय में ऐसा ही कहा गया है । **ओबेरगेफेल** बनाम **होजेस**[1] वाले मामले में यू. एस. के उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है :–

> "हमारी सांविधानिक व्यवस्था की शक्ति यह है कि व्यक्तियों को किसी मूल अधिकार का प्राख्यान करने से पूर्व विधायी कार्रवाई की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । राष्ट्र के न्यायालयों के द्वार, उन आहत व्यक्तियों के लिए खुले हैं, जो हमारे आधारभूत राजपत्र में संरक्षित अपने स्वयं के प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत न्यायसंगत हित की रक्षा के लिए आते हैं । जब किसी पुरुष या स्त्री को अपहानि होती है तो ऐसा व्यक्ति सांविधानिक संरक्षा के अधिकार का अवलंब ले सकता है, भले ही ज्यादातर जनता असहमत हो और भले ही विधान-मंडल ने कार्रवाई करने से इनकार कर दिया हो । संविधान का आशय 'कतिपय विषयों को राजनैतिक उहापोह के उलटफेर से प्रत्यहृत करके उन्हें बहुसंख्यकों और पदधारियों की पहुंच से परे रखना तथा उन्हें न्यायालयों द्वारा लागू किए जाने वाले विधिक सिद्धांतों के रूप में स्थापित करना था ।' [वेस्ट विर्जिनिया बोर्ड आफ एजुकेशन **बनाम** बर्नेट 319 यू. एस. 624, 638 (1943)] । इसलिए, 'मूल अधिकारों को किसी मत के अधीन नहीं रखा जा सकता है; वे किसी निर्वाचन के परिणाम पर निर्भर नहीं हैं' ।"

257. तथापि, मुस्लिम पर्सनल बोर्ड की ओर से काउंसेल ने **अहमदाबाद वूमन ऐक्शन ग्रुप (ए. डब्ल्यू. ए. जी.)** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का पुरजोर अवलंब लिया । इस निर्णय में कई पूर्ववर्ती विनिश्चयों को यह अभिनिर्धारित करने के लिए निर्दिष्ट किया गया है कि जो घोषणाएं करने की ईप्सा की गई है, वे गुणागुण के आधार पर निपटारा करने योग्य नहीं हैं क्योंकि उनमें राज्य की नीति के मुद्दे अंतर्वलित हैं जिनसे न्यायालयों का सामान्य तौर पर कोई सरोकार नहीं होता है । इसलिए, इस न्यायालय ने रिट याचिकाओं को ग्रहण करने से इनकार कर दिया जिनमें बहुत ही व्यापक अनुतोष की मांग

---

[1] 135 एस. सीटी. 2584, पृ. 2605, 26 जून, 2015 को विनिश्चित.

[2] (1997) 3 एस. सी. सी. 573.

की गई थी और दिलचस्प बात यह है कि उनमें "एकतरफा तलाक" की शून्यता की घोषणा करना भी सम्मिलित था । इस न्यायालय ने मुस्लिम स्वीय विधि का पुनर्विलोकन करने से इनकार करने के लिए **नरासू अप्पा** (उपर्युक्त) वाले मामले में बम्बई उच्च न्यायालय के निर्णय को सविस्तार निर्दिष्ट किया । तथापि, जब यह मुद्दा एक कानूनी अधिनियमिति, अर्थात् मुस्लिम स्त्री (विवाह-विच्छेद पर अधिकारों की संरक्षा) अधिनियम, 1986 के साथ चुनौती में आया, तो इस न्यायालय ने इस निमित्त कार्यवाहियों को बढ़ाना नहीं चाहा, क्योंकि इसी संबंध में एक चुनौती संविधान न्यायपीठ के समक्ष लंबित थी ।

258. हम कितनी कोशिश करें, इस निर्णय में कोई विनिश्चयाधार ढूंढना कठिन है, क्योंकि निर्णय का एक भाग दूसरे भाग के प्रतिकूल है । यदि कोई विशिष्ट कानूनी अधिनियमिति पहले ही चुनौती अधीन है, तो कोई कारण नहीं कि अन्य उसी प्रकार की अधिनियमितियों का, जिन्हें भी चुनौती दी गई है, इस न्यायालय द्वारा क्यों निपटारा नहीं किया जाना चाहिए था । उपर्युक्त से बिल्कुल अलग, **प्रेम चंद गर्ग** (उपर्युक्त) वाले मामले को ध्यान में रखते हुए, इस प्रकार से इनकार करने की बात का समर्थन करना थोड़ा मुश्किल है । इसलिए इस निर्णय को इस सीमा तक कि यह कम से कम दो सांविधानिक न्यायपीठों के विनिश्चयों के प्रतिकूल हैं, संभवतः सही विधि नहीं कहा जा सकता है ।

259. इस बिंदु पर यह देखना आवश्यक है कि 1937 के अधिनियम द्वारा मूल अधिकार का अतिक्रमण किया गया है या नहीं, क्योंकि यह भारत के न्यायालयों में तीन तलाक को विधि के नियम के रूप में प्रवर्तित कराने की ईप्सा करता है ।

260. भारत के संविधान का अनुच्छेद 14, संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित प्रास्थिति और अवसर की समता का एक पहलू है । यह अनुच्छेद स्वाभाविक तौर पर स्वयं को दो भागों में विभाजित करता है – (1) विधि के समक्ष समता, और (2) विधि का समान संरक्षण । इस न्यायालय के निर्णयों में इस तथ्य को निर्दिष्ट किया गया है कि विधि के समक्ष समता की धारणा यूनाइटेड किंगडम की विधि से प्राप्त की गई है और विधियों का समान संरक्षण संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के 14वें संशोधन से अपनाया गया है । **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **देवमन उपाध्याय**[1]

---

[1] [1961] 1 एस. सी. आर. 14., पृ. 34.

वाले मामले में इस बात को उजागर करने वाले एक निर्णय में न्यायमूर्ति सुब्बा राव ने विसम्मत निर्णय देते हुए यहां तक कहा है कि विधि के समक्ष समता एक नकारात्मक धारणा है, जबकि विधि का समान संरक्षण सकारात्मक बात है । इस न्यायालय के पूर्व निर्णयों में अनुच्छेद 14 के "विभेदकारी" पहलू को निर्दिष्ट किया गया और एक नियम प्रतिपादित किया गया जिसके द्वारा विषयों को वर्गीकृत किया जा सके । यदि वर्गीकरण अभीष्ट उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए बोधगम्य है, तो यह अनुच्छेद 14 के विभेद-निवारण पहलू के अधीन पर्याप्त माना जाएगा । **लछमन दास** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति सुब्बा राव ने पुनः विसम्मतकारी निर्णय देते हुए चेतावनी दी है कि वर्गीकरण के सिद्धांत पर अत्यधिक जोर देने या वर्गीकरण के लिए कोई आधार ढूंढने के लिए व्यग्र और सतत प्रयत्न करना इस अनुच्छेद को इसके सम्मानजनक मूलतत्व से धीरे-धीरे और अति सूक्ष्मतापूर्वक वंचित कर सकता है । उन्होंने वर्गीकरण के सिद्धांत को न्यायालयों द्वारा उक्त अनुच्छेद को व्यावहारिक सार देने के लिए प्रतिपादित एक "सहायक नियम" के रूप में निर्दिष्ट किया है ।

261. वर्ष 1974 के पूर्व काल में, इस न्यायालय के निर्णयो में "विधि का शासन" या अनुच्छेद 14 के "सकारात्मक" पहलू को निर्दिष्ट किया गया है, जिसका सहवर्ती पहलू यह है कि यदि कोई कार्रवाई मनमानी होना पाई गई है और इसलिए अयुक्तियुक्त है, तो यह बात अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट विधि के समान संरक्षण को नकार देगी और इस आधार पर उस कार्रवाई को अनदेखा कर दिया जाएगा । **एस. जी. जयसिंघानी** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है :–

> "इस संदर्भ में इस बात पर जोर देना महत्वपूर्ण है कि मनमानी शक्ति का अभाव विधि के शासन का प्रथम महत्वपूर्ण तत्व है जिस पर हमारी संपूर्ण सांविधानिक व्यवस्था आधारित है । विधि के शासन द्वारा शासित व्यवस्था में जब कार्यपालक प्राधिकारियों को विवेकाधिकार प्रदत्त किया जाए तो इसे स्पष्ट रूप से परिभाषित परिसीमाओं के भीतर प्रदत्त किया जाना चाहिए । इस दृष्टिकोण से विधि के शासन से यह अभिप्रेत है कि विनिश्चय ज्ञात सिद्धांतों और नियमों को लागू करके किए जाने चाहिएं और साधारणतया, ऐसे विनिश्चय पूर्वाभासित

---

[1] [1963] 2 एस. सी. आर. 395.

[2] [1967] 2 एस. सी. आर. 703.

होने चाहिएं और नागरिकों को पता होना चाहिए कि उनकी स्थिति क्या है । यदि कोई विनिश्चय किसी सिद्धांत या किसी नियम के बिना किया जाता है तो यह अप्रत्याशित है और ऐसा विनिश्चय विधि के शासन के अनुसार किए गए विनिश्चय के विरोध में है । (डायसी-"ला आफ दि कांस्टिट्यूशन" 10वां संस्करण, इंटरोडक्शन सीएक्स देखें) । यूनाइटेड स्टेट्स वंडरलिक (342 यू. एस. 98) वाले मामले में न्यायमूर्ति डगलस ने यह मत व्यक्त किया है कि 'विधि अपने अत्युत्तम क्षणों में पहुंच गई है', क्योंकि 'अब इसने व्यक्ति को कुछ शासकों के असीमित विवेकाधिकार से मुक्त कर दिया है......जहां विवेकाधिकार आत्यंतिक रहा है, मनुष्य ने सदैव कष्ट उठाया है ।' इस अर्थ में विधि के शासन को स्वेच्छा का घोर शत्रु कहा जा सकता है, जैसा कि जॉन विल्केस [1770 4 बर. 2528, पृ. 2539] वाले मामले में लार्ड मेन्सफिल्ड ने इसे उत्कृष्ट शब्दों में उल्लेख किया है 'विवेकाधिकार से अभिप्रेत विधि द्वारा मार्गदर्शित युक्तियुक्त विवेकाधिकार है । इसे नियम द्वारा शासित होना चाहिए न कि स्वेच्छा द्वारा और इसे मनमाना, अस्पष्ट और कल्पनाशील नहीं होना चाहिए'।" (पृष्ठ 718-719)

यह मत सेवा नियमों, जो ज्येष्ठता के नियम हैं और जिन्हें आयकर विभाग में लागू किया गया था, के संदर्भ में व्यक्त किया गया था और इन्हें भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी अभिनिर्धारित किया गया था ।

262. इसी प्रकार, **मैसूर राज्य** बनाम **एस. आर. जयराम**[1] वाले मामले में अनुच्छेद 14 के अधीन सेवा नियमों को दी गई चुनौती के संदर्भ में इस न्यायालय ने पुनः निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है :–

"खुली प्रतियोगिता द्वारा भर्ती के सिद्धांत का उद्देश्य नियोजन के विषय में अवसर की समता सुनिश्चित करना और सर्वाधिक प्रतिभाशाली अभ्यर्थियों की सेवाएं अभिप्राप्त करना है । नियम 1 से 8, 9(1) और नियम 9(2) के प्रथम भाग में इस उद्देश्य की प्राप्ति की ईप्सा की गई है । नियम 9(2) का अंतिम भाग पूर्ववर्ती नियमों के मूलभूत उद्देश्यों को उलट-पुलट और नष्ट करता है । यह नियम सरकार में प्रश्रय की मनमानी शक्ति निहित करता है । यद्यपि नियम 9(1) में योग्यता क्रम के अनुसार प्रथम श्रेणी के पदों पर सफल

[1] [1968] 1 एस. सी. आर. 349.

अभ्यर्थियों की ओर उसके पश्चात् योग्यता-क्रम के अनुसार द्वितीय श्रेणी के पदों पर नियुक्ति की अपेक्षा की गई है, तो भी नियम 9(1), नियम 9(2) के अध्यधीन है, और सरकार नियम 9(2) की आड़ में किसी प्रथम श्रेणी के पद पर कम प्रतिभाशाली व्यक्ति को प्रथम श्रेणी का पद सौंपने और अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति को द्वितीय श्रेणी का पद सौंपने की अनाधिकार शक्ति भी ग्रहण कर सकती है । हम अभिनिर्धारित करते हैं कि नियम 9(2) का अंतिम भाग राज्य के अधीन पदों पर भर्ती के लिए सफल अभ्यर्थियों के न्यायसंगत दावों की अनदेखी करने की मनमानी शक्ति देता है । यह संविधान के अनुच्छेद 14 और 16 का अतिक्रमणकारी है और इसे अभिखंडित कर देना चाहिए ।" (पृ. 353-354)

263. **इंदिरा गांधी** बनाम **राज नारायण**[1] वाले मामले प्रख्यात निर्णय में इस न्यायालय की एक सांविधानिक न्यायपीठ द्वारा अनुच्छेद 329क, उप-खंड (4) और (5) अभिविखंडित कर दिए गए थे । **केशवानंद भारती** बनाम **केरल राज्य**[2] वाले मामले में अधिकथित आधारभूत ढांचे के नए प्रतिपादित सिद्धांत को लागू करते हुए मुख्य न्यायमूर्ति रे ने उक्त संशोधन को यह मत व्यक्त करते हुए अभिखंडित कर दिया है कि :–

"59. खंड (4) में ये खामियां हैं । प्रथम, अधिकरण परिवर्तित किया जा सकता है किन्तु दूसरे अधिकरण को सृष्ट करना होगा । यदि विवादों का विनिश्चय करने के लिए संविधायी शक्ति स्वयं अधिकरण बन गई है तो निर्वाचन याचिकाओं (अर्जियों) के संबंध में और निर्वाचन याचिकाओं से सुसंगत बातों की बाबत संविधायी शक्ति द्वारा विधि विरचित करने से संविधायी शक्ति के समक्ष ग्रहण करने के लिए और कार्यवाही करने के लिए कोई याचिका नहीं थी । द्वितीय, कोई विनिश्चय विधि के अनुसार किया जाना चाहिए । संसद् को विधि सृष्ट करने और उसे लागू करने की शक्ति है । प्रस्तुत मामले में लागू करने के लिए संविधायी शक्ति के पास कोई विधि नहीं थी क्योंकि पूर्ववर्ती विधि लागू नहीं होती थी और खण्ड (4) द्वारा कोई अन्य विधि लागू नहीं की गई थी । अतः प्रस्तुत मामले में निर्वाचन का विधिमान्यकरण किसी विधि को लागू करके नहीं किया गया है और इसलिए, ऐसे विधिमान्यकरण से विधि शासन का उल्लंघन होता

---

[1] [1976] 1 उम. नि. प. 1103 = (1975) सप्ली. एस. सी. सी. 1.

[2] [1973] 2 उम. नि. प. 159 = (1973) 4 एस. सी. सी. 225.

है ।"

264. इस उद्धरण का बहुत महत्व है चूंकि संशोधन को इसलिए दोषपूर्ण कहा गया था क्योंकि संविधायी शक्ति के पास मामले में लागू करने के लिए कोई विधि नहीं थी और इस कारण से संविधान में अंतर्विष्ट विधि के शासन का अतिक्रमण होगा । इस विधि के शासन के प्रति संविधान के अनुच्छेद 14 में स्पष्ट निर्देश है, क्योंकि कोई विधि लागू किए बिना मामले का विनिश्चय करना पूर्णतया मनमाना होगा और इस प्रकार उक्त अनुच्छेद में अंतर्विष्ट विधि के शासन का अतिक्रमण होगा । न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ का मत थोड़ा अधिक स्पष्ट था क्योंकि उन्होंने अभिव्यक्त रूप से अनुच्छेद 14 को निर्दिष्ट किया और कहा कि अनुच्छेद 329क, अनुच्छेद 14 द्वारा प्रदत्त समता के अधिकार को पूर्णतया नकारता है । यह स्थिति इसलिए है क्योंकि विधि विभेदकारी हो जाएगी क्योंकि विधि के उद्देश्य से युक्तियुक्त अंतरक के अभाव में कतिपय प्रमुख व्यक्तियों को विधि से ऊपर रखा जाएगा । उन्होंने यह भी मत व्यक्त किया है :–

> "681. इससे यह अर्थ निकलता है कि अनुच्छेद 329क के खंड (1) और (5) मनमाने हैं और उनसे विधि के शासन को क्षति पहुंचाना या नष्ट करना आशयित है । भाषा की अपूर्णताओं के कारण विधि के शासन की परिभाषाओं तथा स्वयं 'विधि' की निश्चित परिभाषा में बाधा उत्पन्न होती है और 1975 की सांविधानिक विधि में, ए. बी. डायसी, जो कि विधि के शासन का बहुत बड़ा व्याख्याता थे, के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में इंग्लिश ला के बैनेरियन प्रोफेसर के रूप में अपना व्याख्यान देने के बाद से, जो कि 1885 में 'इंट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ दि ला ऑफ दि कांस्टिट्यूशन' के शीर्ष के अधीन प्रकाशित किए गए थे, अनेक तब्दीलियां हो चुकी हैं । किंतु मैं ऐसा मानता हूं कि इस के बारे में युक्तियुक्त निश्चितता के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि विधि के शासन से यह अभिप्रेत है कि शासन की शक्तियों का प्रयोग विधि द्वारा निर्बंधित होगा और यह कि समता के सिद्धांत के अपवादों के अध्यधीन होते हुए कोई भी व्यक्ति शासन की मनमानी इच्छा-शक्ति का शिकार नहीं होगा । डायसी ने विधि के शासन के तीन अर्थ बताए थे - मनमानी शक्ति का अभाव, विधि के समक्ष समता, या सभी वर्गों को समान रूप से देश की ऐसी साधारण विधि के अध्यधीन बनाना, जिसका प्रशासन साधारणतया न्यायालय करते हों और यह कि संविधान व्यक्तियों के

अधिकारों का स्रोत न होकर उनका परिणाम होता है, जैसी कि न्यायालय उनकी परिभाषा करते हैं और उनको प्रवृत्त करते हैं । दूसरा अर्थ डायसी के 'फ्रेंच डायट एडमिनिस्ट्रेटिफ' (फ्रांसीसी प्रशासनिक विधि) जो गलत ढंग से नापसन्द करने के परिणामस्वरूप निकला था, जिसे उसने ऐसे दुर्भाग्य के रूप में माना था जो कि इंग्लिश चैनल के आरपार अज्ञानी लोगों पर लाद दिया गया था [देखिए ज्यूडिशियल रिव्यू ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव ऐक्शन - एस. ए. डी. स्मिथ (1968) पृ. 5] । 'वास्तव में उस समय के विचार पर उसका इतना अधिक प्रभाव था कि अभी हाल में 1935 में लार्ड हेवार्ट ने, जो कि इंग्लैंड के लार्ड चीफ जस्टिस थे 'प्रशासनिक विधि' (एडमिनिस्ट्रेटिव ला) को 'महाद्विपीय जार्गन' के रूप में मानते हुए अस्वीकृत कर दिया था । तीसरा अर्थ हमारे लिखित संविधान के संदर्भ में मुश्किल से ही संगत है, क्योंकि भारत में संविधान सभी अधिकारों और बाध्यताओं का स्रोत है । अतः, हम डायसी द्वारा की गई विधि के शासन की इस विवेचना पर पूर्णतः निर्भर नहीं रह सकते हैं, किंतु दूसरे विश्व महायुद्ध के बाद से ही सभी लोकतांत्रिक देशों में विधि के शासन को सकारात्मक अर्थ दिया जा चुका है । [देखिए वेड एंड फिलिप्स द्वारा लिखित कांस्टिट्यूशनल ला (छठा संस्करण पृ. 70-75] विधि-शास्त्रियों के अंतरराष्ट्रीय आयोग ने जिसको संयुक्त राष्ट्र के अधीन परामर्शदाता की हैसियत प्राप्त है, 1959 में दिल्ली में आयोजित अपने 'कांग्रेस' (अधिवेशन) में यह अभिनिर्धारित किया था कि वकील, न्यायाधीश और विधि के ऐसे अध्यापकों ने जो कि 53 देशों का प्रतिनिधित्व करते थे, यह अभिपुष्टि की कि विधि का शासन, ऐसी गतिशील संकल्पना है जिसका उपयोग स्वतंत्र समाज में व्यक्ति के राजनीतिक और नागरिक अधिकारों की रक्षा करने और उन्हें बढ़ाने के लिए किया जाना चाहिए । उस कांग्रेस की समितियों में से एक समिति ने इस बात पर जोर दिया कि किसी भी विधि के अधीन किसी भी व्यक्ति के साथ विभेदक व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए । यह सिद्धांत अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न है जो कि उनके अपने संविधान के उपबंधों पर निर्भर होता है और वास्तव में इस बात पर निर्भर होता है कि क्या कोई लिखित संविधान मौजूद है । चूंकि संसद् की सर्वोच्चता को दर्शित करने के लिए यह बात हल्केपन के साथ कह दी गई है, कि इंग्लिश कांस्टिट्यूशन का आकर्षण यह है कि 'उसका कोई भी

अस्तित्व नहीं है ।' हमारे संविधान का अपना अस्तित्व है और उसका अस्तित्व अवश्य ही बना रहना चाहिए । वह प्रत्येक बात को विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण की गारण्टी देता है । ऐसी समता से वंचित करना, जैसी कि वर्गीकरण के न्यायिक रूप से प्रतिपादित सिद्धांत द्वारा उपातंरित की गई हो, विधि के शासन को अस्वीकार करने के समान ही है ।"

265. यह पैरा मनमानेपन के सिद्धांत के पूर्व में होने वाले प्रयोग के विषय में है, जो कि अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट विधि के शासन का अनुवर्ती है । इसका थोड़ा महत्व यह है कि इसमें डायसी के विधि के शासन की विरचना को निर्दिष्ट किया गया है, जिसमें मनमानी शक्ति का अभाव और विधि के समक्ष समता दोनों ही बातें विधि के शासन के सारतत्व होने के रूप में अंतर्विष्ट हैं ।

266. अब हम मनमानेपन के सिद्धांत के विकास और एक सुभिन्न सिद्धांत के रूप में राज्य की कार्रवाई पर इसके लागू होने की बात पर विचार करते हैं, जिसके आधार पर राज्य की कार्रवाई को अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट विधि के शासन का अतिक्रमणकारी होने के कारण अभिखंडित किया जा सकता है । **ई. पी. रायप्पा** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति भगवती ने एक महत्वपूर्ण पैरा में यह मत व्यक्त किया है :–

"चुनौती के दो अन्तिम आधारों पर एक साथ विचार किया जा सकता है । चुनौती के तीसरे आधार को यद्यपि हमने सुभिन्न और पृथक् आधार के रूप में अपनाया है किन्तु वास्तविकता यह है कि वह सारतः और तथ्यतः अनुच्छेद 14 और 16 के अतिक्रमण पर आधारित दूसरे आधार का ही एक पहलू है । अनुच्छेद 16 में यह मूलभूत गारण्टी है कि राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के संबंध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी । लोक नियोजन में अवसर की समता सुनिश्चित करने वाले सिद्धांत के रूप में, जो संविधान के प्रकल्पित नए वर्गविहीन समता वाले समाज के निर्माण के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, अपने अत्यधिक महत्व के कारण अनुच्छेद 16 यद्यपि सुभिन्न और स्वतंत्र मूल अधिकार के रूप में अधिनियमित किया गया है फिर भी वह अनुच्छेद 14 में उपबंधित समता की संकल्पना के लागू किए जाने का एक उदाहरण मात्र है । दूसरे शब्दों

---

[1] [1974] उम. नि. प. 511 = (1974) 4 एस. सी. सी. 3 (पृ. 38.)

में, अनुच्छेद 14 जाति (जीनस) है, जब कि अनुच्छेद 16 उपजाति (स्पेशीज़) है । अनुच्छेद 16 लोक नियोजन से संबंधित सभी विषयों में समता के सिद्धांत को प्रभावी करता है । एक ही आधारभूत सिद्धांत है जो अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 16 दोनों को अनुप्रमाणित करता है और वह समता और विभेद के विरुद्ध निषेध है । यह महान समता सिद्धांत क्या है और इसका प्रभाव कहां तक है ? यह बुनियादी विश्वास है और न्यायाधिपति बोस के शब्दों में, 'एक जीवन पद्धति है' और इस पर विचार बहुत ही संकुचित, अति सिद्धांतवादी अथवा रूढ़िगत दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिए । हम इसके सर्वग्राही प्रविषय और व्यापक अर्थ में कांट-छांट के किसी भी प्रयत्न का समर्थन नहीं कर सकते हैं क्योंकि ऐसा करने का अर्थ इसके क्रियावादी विस्तार का अतिक्रमण करना होगा । समता एक गतिशील संकल्पना है जिसके अनेक पहलू और आयाम हैं और इसे परम्परागत और सैद्धान्तिक सीमाओं के भीतर, 'निरुद्ध, सीमित और परिरुद्ध' नहीं किया जा सकता है । सकारात्मकता के दृष्टिकोण से समता, स्वेच्छाचारिता की प्रतिद्वन्द्विनी है । वस्तुतः समता और स्वेच्छाचारिता एक दूसरे के पक्के शत्रु हैं; इनमें से एक तो गणतन्त्र के अन्दर विधि के शासन से सम्बद्ध हैं किंतु दूसरे का संबंध निरंकुश सम्राट के अंहकार और सनक से है । जब कोई कार्य स्वेच्छाचारितापूर्ण हो तो यह सुनिश्चित है कि राजनीतिक तर्कणा और संवैधानिक विधि दोनों के ही अनुसार उसमें असमानता है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करने वाला है और यदि उसका प्रभाव लोक नियोजन से संबंधित किसी विषय पर पड़ता है तो वह अनुच्छेद 16 का भी अतिक्रमण करता है । अनुच्छेद 14 और 16 राज्य के क्रियाकलाप में स्वेच्छाचारिता पर प्रहार करते हैं और निष्पक्षता और व्यवहार की समता सुनिश्चित करते हैं । वे यह अपेक्षा करते हैं कि राज्य का कार्य एक जैसी स्थिति में स्थित सभी व्यक्तियों को समान रूप से लागू विधिमान्य सुसंगत सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए और किसी बाह्य अथवा असंगत विचारों से प्रभावित नहीं होना चाहिए क्योंकि उसका अर्थ समता से इनकार करना होगा । जहां मन के भीतरी भाग में उपजने वाली प्रेरणा को छोड़कर राज्य के कार्य को प्रवर्तनशील करना तर्कसम्मत और सुसंगत नहीं है बल्कि बाह्य है तथा अनुज्ञेय तथ्यों के क्षेत्र से बाहर है वहां ऐसा कार्य शक्ति के असद्भावपूर्ण प्रयोग की कोटि में आएगा और वह अनुच्छेद 14 और 16 का

उल्लंघन करने वाला होगा । शक्ति का असद्भावपूर्ण प्रयोग और स्वेच्छाचारिता एक ही बुराई से उत्पन्न होने वाले विभिन्न पक्ष हैं । वास्तविकता यह है कि पश्चात्कथित में पूर्व कथित सम्मिलित है । दोनों ही अनुच्छेद 14 और 16 द्वारा निषिद्ध हैं ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

267. **मेनका गांधी** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस बात को और पुष्ट किया गया था, जहां न्यायमूर्ति भगवती ने यह मत व्यक्त करने के पश्चात् कि विभिन्न मूल अधिकारों को एक-साथ पढ़ा जाना चाहिए और परस्पर अतिव्याप्त तथा परिवर्द्धन किया जाना चाहिए, इस सिद्धांत को निम्नलिखित रूप में और अधिक विस्तृत किया गया है :–

"अनुच्छेद 21 के अधीन प्रक्रिया की प्रकृति और अपेक्षा

7. इस समय, यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनुच्छेद 14 क्या अपेक्षित करता है । इस अनुच्छेद में प्रतिपादित महान समताकारी सिद्धांत की अन्तर्वस्तु क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि यह संविधान की आत्मा है । वस्तुतः, यह वह स्तम्भ है जिस पर हमारे लोकतान्त्रिक गणराज्य का आधार निश्चित रूप से निर्भर है और इसलिए इसके बारे में संकुचित, पंडिताऊ अथवा शब्दकोशीय दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाना चाहिए । इसके सर्वव्यापी प्रविषय और अर्थ में कांट-छांट करने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करना इसकी क्रियाशील महत्ता का अतिक्रमण करना होगा । समता एक गतिशील सिद्धांत है जिसके बहुत से पहलू और आयाम हैं और इसे परम्परागत और सैद्धान्तिक सीमाओं के भीतर कैद नहीं किया जा सकता है । हम यहां वह बात अवश्य दोहरा दें, जो ई. पी. रायप्पा **बनाम** तमिलनाडु राज्य और एक अन्य [1974] 2 एस. सी. आर. 348 वाले मामले में बहुमत ने इंगित की थी अर्थात 'सुनिश्चितता के दृष्टिकोण से समत्ता, स्वेच्छाचारिता की प्रतिद्वंद्विनी है । वस्तुतः समता और स्वेच्छाचारिता एक दूसरे के पक्के शत्रु हैं, इनमें से एक तो गणतन्त्र के अन्दर विधि के शासन से संबद्ध है किन्तु दूसरे का संबंध निरकुंश सम्राट के अंहकार और सनक के साथ है । जब कोई कार्य स्वेछाचारितापूर्ण हो तो उसमें यह विवक्षित है कि राजनीतिक तर्क और संवैधानिक विधि

---

[1] [1979] 1 उम. नि. प. 243 = (1978) 1 एस. सी. सी. 248.

दोनों के ही अनुसार वह असमान है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करने वाला है । अनुच्छेद 14 राज्य की कार्यवाही में मनमानेपन पर प्रहार करता है और बर्ताव की निष्पक्षता और समानता अभिनिश्चित करता है । युक्तियुक्तता का सिद्धांत ही विधिक रूप से और तात्विक रूप में समता अथवा अमनमानेपन का अनिवार्य तत्व है जो सर्वत्र विद्यमान होने की भान्ति अनुच्छेद 14 में व्यक्त है और अनुच्छेद 21 द्वारा अनुध्यात प्रक्रिया को अनुच्छेद 14 के अनुसार उसके लिए युक्तियुक्तता की कसौटी को पूरा करना होगा । 'यह ठीक और न्यायसंगत एवं निष्पक्ष होना चाहिए' और मनमानी कल्पित अथवा दमनकारी नहीं होना चाहिए अन्यथा यह सर्वथा कोई भी प्रक्रिया नहीं होगी और अनुच्छेद 21 की अपेक्षा की पूर्ति नहीं होगी ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

268. **ए. एल. कालरा** बनाम **दि प्रोजेक्ट एंड इक्विपमेंट कार्पोरेशन**[1] वाले मामले में **रायप्पा** (उपर्युक्त) वाले मामले का अनुसरण करते हुए और यह अभिनिर्धारित करते हुए कि मनमानापन ऐसा सिद्धांत है जो विभेद से सुभिन्न है । यह अभिनिर्धारित किया गया है :–

"19....... इस प्रकार यह भी स्थिर प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 14 कार्यपालक/प्रशासनिक कार्रवाई में मनमानेपन पर चोट करता है क्योंकि जो कार्रवाई मनमानी है, वह अवश्यमेव समता से वंचित करती है । विभेदात्मक व्यवहार के निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि समता से वंचित करने को दो व्यक्तियों के बीच तुलनात्मक मूल्यांकन तक सीमित रखा जाए । जो कार्रवाई अपने आप में मनमानी है, वह विधि द्वारा समान संरक्षण से वंचित करती है । संविधान न्यायपीठ ने अजय हसिया {(1981) 1 एस. सी. सी. 722 = 1981 एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 258 = ए. आई. आर. 1981 एस. सी. 487 = [1981] 2 एस. सी. आर. 79 = (1981) एल. एल. जे. 103} वाले मामले में प्रासंगिक मत व्यक्त किया था और यह कहकर विषय को संविवाद मुक्त कर दिया था: 'अतः जहां राज्य की कार्रवाई में मनमानापन है, चाहे वह विधायिका की कार्रवाई हो या कार्यपालिका की या अनुच्छेद 12 के अनुसार किसी प्राधिकारी

[1] [1984] 4 उम. नि. प. 675 = (1984) 3 एस. सी. सी. 316.

की, वहां अनुच्छेद 14 तुरंत लागू होता है और वह राज्य की ऐसी कार्रवाई को अवैध बना देता है ।' डी. एस. नकारा **बनाम** भारत संघ [(1981) 1 एस. सी. सी. 305 = 1983 एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 145 = ए. आई. आर. 1983 एस. सी. 130 = (1983) यू. पी. एस. सी. 263] वाले मामले में इस मत को और विस्तृत रूप दिया गया था तथा इसकी पुष्टि की गई थी । मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ {(1978) 1 एस. सी. सी. 248 = ए. आई. आर. 1978 एस. सी. 597 = [1978] 2 एस. सी. आर. 621} वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है कि अनुच्छेद 14 राज्य की कार्रवाई के मनमानेपन पर प्रहार करता है तथा निष्पक्ष और समान व्यवहार सुनिश्चित करता है । अतः आज यह दलील नहीं दी जा सकती कि कार्यपालिका की मनमानी कार्रवाई न तो न्यायिक तौर पर पुनर्विलोकनीय है और न ही अनुच्छेद 14 की परिधि के अंतर्गत आती है । अतः श्री सिन्हा द्वारा पेश की गई दलील तद्नुसार अस्वीकार करनी होगी ।"

बबीता प्रसाद बनाम **बिहार राज्य**[1] वाले मामले में इसी मत को दोहराया गया है ।

269. संविधान के अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट मनमानेपन का सिद्धांत विधान, प्रत्यायोजित विधान और कार्यपालिका कार्यवाही को नकारने के लिए लागू होगा, यह बात **अजय हासिया** बनाम **खालिद मुजीब सेहरावर्दी**[2] वाले मामले में के विख्यात उद्धरण से स्पष्ट है :–

"16. ....अनुच्छेद 14 के वास्तविक क्षेत्र और सीमा के प्रश्न पर अनेक विनिश्चयों में विचार किया गया है इसलिए यहां पर इसके संबंध में सविस्तार विचार आवश्यक नहीं है । यहां इतना कहना ही पर्याप्त है कि अनुच्छेद 14 की विषयवस्तु और उसकी सीमा के संबंध में वर्गीकरण के सिद्धांत का भ्रम नहीं होना चाहिए । दुर्भाग्यवश हमारी सांविधानिक विधि के विकास काल में अनुच्छेद 14 को भ्रमवश वर्गीकरण के सिद्धांत के रूप में देखा जाने लगा क्योंकि उस समय सह दृष्टिकोण अपनाया गया कि यह अनुच्छेद भेदभाव को रोकता है और यह वर्गीकरण करने वाले सिद्धांत में दोनों शर्तें अर्थात् (i) यह कि

---

[1] (1993) (सप्ली.) 3 एस. सी. सी. 268.

[2] [1981] 4 उम. नि. प. 410 = (1981) 1 एस. सी. सी. 722.

वर्गीकरण किसी बोधगम्य भिन्नता पर आधारित है जो ऐसे व्यक्तियों और वस्तुओं को ऐसे अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं से भिन्न रखते हैं जिन्हें वर्गीकृत किया गया है और (ii) यह कि आक्षेपित विधायी या शासकीय कार्यवाही द्वारा जिस उद्देश्य को प्राप्त किया जाना है उसके साथ उसका उचित संबंध है, का पालन किया गया हो, वहां कोई भेदभाव नहीं माना जाता । सबसे पहले ई. पी. रायप्पा **बनाम** तमिलनाडु राज्य और अन्य {(1974) 4 एस. सी. सी. 3, 38 = 1974 एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 165, 200 = [1972] 2 एस. सी. आर. 348} वाले मामले में इस न्यायालय ने अनुच्छेद 14 को एक नई सीमा दी और यह बताया कि यह अनुच्छेद अत्यंत प्रतिक्रियात्मक महत्व का है और यह मनमानेपन के विरुद्ध गारंटी भी देता है । इस न्यायालय द्वारा हम में से एक (न्यायाधिपति भगवती) ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया –

> 'एक ही आधारभूत सिद्धांत है जो अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 16 दोनों को अनुप्रमाणित करता है और वह समता और विभेद के विरुद्ध निषेध है । यह महान समता का सिद्धांत क्या है और इसका प्रभाव कहां तक है ? यह बुनियादी विश्वास है और न्यायाधिपति बोस के शब्दों में यह एक जीवन पद्धति है और इस पर विचार बहुत ही संकुचित, अति सिद्धांतवादी अथवा रूढ़िगत दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिए । हम इसके सर्वग्राही प्रविषय और व्यापक अर्थ में कांट-छांट के किसी भी प्रयत्न का समर्थन नहीं कर सकते हैं क्योंकि ऐसा करने का अर्थ इसके क्रियावादी विस्तार का अतिक्रमण करना होगा । समता एक गतिशील संकल्पना है जिसके अनेक पहलू और आयाम हैं और इसे परम्परागत और सैद्धांतिक सीमाओं के भीतर निरुद्ध, सीमित और परिरुद्ध नहीं किया जा सकता है । सुनिश्चितता के दृष्टिकोण से समता, स्वेच्छाचारिता की प्रतिद्वंद्विनी है । वस्तुतः समता और स्वेच्छाचारिता एक दूसरे के पक्के शत्रु हैं । इनमें से एक तो गणतंत्र के अंदर विधि के शासन से संबद्ध है किंतु दूसरे का संबंध निरंकुश सम्राट के अंहकार और सनक के साथ है । जब कोई कार्य स्वेच्छाचारितापूर्ण हो तो उसमें यह सन्निहित है कि राजनीतिक तर्कणा और संवैधानिक विधि दोनों के ही अनुसार वह असमान है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करने वाला है और यदि उसका प्रभाव लोक नियोजन

से संबंधित किसी विषय पर पड़ता है तो वह अनुच्छेद 16 का भी अतिक्रमण करता है । अनुच्छेद 14 और 16 राज्य के क्रियाकलाप में स्वेच्छाचारिता पर प्रहार करते हैं और निष्पक्षता और व्यवहार समता सुनिश्चित करते हैं ।'

इस महत्वपूर्ण और व्यापक पहलू को, जो कि अब तक अनुच्छेद 14 के कुछ सारगर्भित शब्दों में छुपा हुआ था, उद्घाटित किया गया और **रायप्पा,** {(1975) 1 एस. सी. सी. 485= 1975 एस. सी. सी. (एल एंड एस.) 992 = [1975] 3 एस. सी. आर. 616} वाले मामले में सामने लाया गया । इस न्यायालय ने मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ (1978) 1 एस. सी. सी. 248 वाले मामले में इस बात को दोबारा पुष्ट और प्रकाशित किया जिसमें पुनः एक बार इस न्यायालय की ओर से न्यायाधिपति भगवती ने निम्नलिखित अवलोकन किया –

'इस समय यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनुच्छेद 14 क्या अपेक्षित करता है । इस अनुच्छेद में प्रतिपादित महान समताकारी सिद्धांत की अंतर्वस्तु और उसका प्रविषय क्या है ? इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि यह संविधान की आत्मा है । वस्तुतः, यह वह स्तम्भ है जिस पर हमारे लोकतांत्रिक गणराज्य का आधार निश्चित रूप से निर्भर है और इसलिए इसके बारे में संकुचित, पंडिताऊ अथवा शब्दकोषीय दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाना चाहिए । इसके सर्वव्यापी प्रविषय और अर्थ में कांट-छांट करने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करना इसकी क्रियाशील महत्ता का अतिक्रमण करना होगा । समता एक गतिशील सिद्धांत है जिसके बहुत से पहलू और आयाम हैं और इसे परम्परागत और सैद्धांतिक सीमाओं के भीतर कैद नहीं किया जा सकता है । ..... अनुच्छेद 14 राज्य की कार्यवाही में मनमानेपन पर प्रहार करता है और बर्ताव की निष्पक्षता और समानता अभिनिश्चित करता है । युक्तियुक्तता का सिद्धांत ही विधिक रूप से और तात्विक रूप में समता अथवा अमनमानेपन का अनिवार्य तत्व है जो सर्वत्र विद्यमान होने की भ्रांति अनुच्छेद 14 में व्यक्त है और अनुच्छेद 21 द्वारा अनुध्यात प्रक्रिया को अनुच्छेद 14 के अनुसार उसके लिए युक्तियुक्तता की कसौटी को पूरा करना होगा ।'

इस न्यायालय ने अंतरराष्ट्रीय विमान पत्तन प्राधिकरण [(1979) 3 एस. सी. सी. 489] वाले मामले में रिपोर्ट के पृष्ठ 1042 पर पुनः इस बात पर जोर दिया था । इसलिए इस बात को अब पूर्णतः निश्चित मान लिया जाना चाहिए कि अनुच्छेद 14 मनमानेपन पर प्रहार करता है क्योंकि मनमानेपन से किया गया कोई भी कार्य निश्चित रूप से समानता की अवहेलना करेगा । न्यायालयों द्वारा विकसित किया गया वर्गीकरण का सिद्धांत अनुच्छेद 14 का ही स्वरूप नहीं है और न ही वह इस अनुच्छेद का उद्देश्य या उसका लक्ष्य है । यह मात्र एक सूत्र है जिसके माध्यम से यह अवधारित किया जा सकता है कि वह प्रश्नगत विधायी या कार्यपालक कार्यवाही मनमानी है या नहीं और यदि वह मनमानी है तो वह समानता के अधिकार को नकारती है । यदि वर्गीकरण युक्तियुक्त नहीं है और ऊपर बताई गई दोनों शर्तों का समाधान नहीं करता तो आक्षेपित विधायी या कार्यपालक कार्यवाही स्पष्टतः मनमानी मानी जाएगी और अनुच्छेद 14 के अधीन गारंटीकृत समता का अधिकार भंग हुआ माना जाएगा । इसलिए जहां कहीं भी राज्य द्वारा की गई कार्यवाही में मनमानापन किया गया हो चाहे वह विधान-मंडल द्वारा कार्यपालिका द्वारा अथवा अनुच्छेद 12 के अधीन किसी प्राधिकारी द्वारा ही क्यों न किया गया हो अनुच्छेद 14 के अंतर्गत तुरंत कदम उठाया जा सकता है और राज्य को ऐसी कार्यवाही को खंडित किया जा सकता है । वस्तुतः युक्तियुक्तता और स्वेच्छाचारिता का विचार समस्त सांविधानिक स्कीम में ओत-प्रोत है और यह ऐसा सुनहरा धागा है जिसे संविधान रूपी वस्त्र में सर्वत्र पिरोया गया है ।"

270. **के. आर. लक्ष्मण (डा.)** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की एक न्यायपीठ ने विधि की इस दृष्टि से तमिलनाडु के 1986 के एक अधिनियम को इस आधार पर अभिखंडित कर दिया कि यह मनमाना है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है । अनुच्छेद 14 के अधीन दो अलग-अलग तर्क प्रस्तुत किए गए । एक यह था कि प्रश्नगत अधिनियम विभेदकारी है और इसलिए अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है । दूसरा तर्क यह था कि किसी भी दशा में अधिनियम मनमाना है और इस कारण से अनुच्छेद 14 के एक अलग पहलू का भी अतिक्रमण होता है । यह बात उक्त निर्णय के पैरा 45 से

---

[1] (1996) 2 एस. सी. सी. 226.

स्पष्ट होती है । निर्णय में इन दोनों तर्कों को स्वीकार किया गया है । जहां तक विभेद के पहलू का संबंध है, इस न्यायालय ने 1986 के अधिनियम को इस आधार पर अभिखंडित कर दिया कि यह विभेदकारी (पैरा 46 और 47) है । पैरा 48 से 50 महत्वपूर्ण हैं, इनमें इस न्यायालय ने 1986 के अधिनियम को मनमाना होने के कारण अलग से अभिखंडित कर दिया, जो निम्नलिखित प्रकार से हैं (पैरा 256-257 पर) :–

> "48. हमें श्री परासरण की इस दलील में पर्याप्त बल दिखाई पड़ता है कि क्लब के कार्य का अर्जन और अंतरण मनमाना है । अधिनियम, 1949 द्वारा दोनों अधिनियमों को संशोधित किया गया था और 'द्यूतक्रीड़ा' की परिभाषा को संशोधित किया गया था । संशोधन का उद्देश्य 'द्यूतक्रीड़ा' में घुड़दौड़ को सम्मिलित करना था । तथापि, अधिनियम, 1974 के अधिनियमित होने और 31 मार्च, 1975 से प्रवर्तित होने तक अधिनियम, 1949 के उपबंध प्रवर्तित नहीं किए गए थे । अधिनियम, 1974 तमिलनाडु राज्य में घुड़दौड़ों पर बाजी लगाने या शर्त लगाने की समाप्ति का उपबंध करने की दृष्टि से अधिनियमित किया गया था । इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि राज्य सरकार की सतत नीति घुड़दौड़ को द्यूत के रूप में घोषित करने की रही है, जैसा कि 1949 से लेकर विभिन्न विधान बनाकर प्रायोजित किया गया है, और इसलिए इसे दोनों अधिनियमों में प्रतिषिद्ध किया गया है । अधिनियम, 1974 के प्रवर्तन को इस न्यायालय द्वारा रोक दिया गया था और परिणामस्वरूप इस न्यायालय के आदेशों के अधीन घुड़दौड़ें जारी रहीं । इस विषय पर वर्ष 1986 से पूर्व की सभी अधिनियमितियों में यथा प्रायोजित राज्य सरकार की नीति से यह दर्शित होता है कि राज्य सरकार ने घुड़दौड़ को द्यूत के रूप में समझा है और इसलिए इसे विधि के अधीन प्रतिषिद्ध किया है । दूसरी ओर, अधिनियम, 1986 में घुड़दौड़ को एक लोक प्रयोजन के रूप में और जनसाधारण के हित में घोषित किया गया है । दोनों आधारों में स्पष्ट विरोधाभास है । हम श्री परासरण की इस दलील से सहमत नहीं हैं कि अधिनियम, 1986 एक छद्म विधान है, किंतु साथ ही साथ हमारा यह मत है कि सरकार द्वारा क्लब के कार्य का अर्जन और अंतरण करने से किसी लोक प्रयोजन की पूर्ति नहीं हो रही है । हमारी समझ से बाहर की बात है कि राज्य सरकार कैसे रेस क्लब का अर्जन और उसके कार्यों को ग्रहण कर सकती है जब उसने घुड़दौड़ को द्यूत के रूप में घोषित करने के प्रकट उद्देश्य के साथ

अधिनियम, 1974 अधिनियमित किया है । घुड़दौड़ पर शर्त को समाप्त करने के लिए विधि अधिनियमित करने और इस बात की लोक हित और लोक नैतिकता के नाम में इस न्यायालय के समक्ष पुरजोर प्रतिरक्षा करने के पश्चात्, राज्य सरकार पुनः लोक हित और लोक प्रयोजन के नाम में घुड़दौड़ के कार्य का अर्जन करने के लिए स्वतंत्र नहीं है । घुड़दौड़ को द्यूत के रूप में घोषणा करने के लिए 'लोक हित और लोक प्रयोजन' का अवलंब लेना और इसे विधि के अधीन प्रतिषिद्ध करना तथा साथ ही साथ 'लोक प्रयोजन और लोक हित' की बात कहकर रेस-क्लब का अर्जन करने और स्वयं राज्य सरकार द्वारा घुड़दौड़ का संचालन करने की बात प्रत्यक्ष रूप से तर्कहीन है ।

49. अतः हम यह अधिनिर्धारित करते हैं कि अधिनियम, 1986 के उपबंध विभेदकारी और मनमाने हैं और इसलिए वे संविधान के अनुच्छेद 14 में प्रतिष्ठापित समता के अधिकार का अतिक्रमण और उल्लंघन करते हैं ।

50. चूंकि हमने अधिनियम, 1986 को इस आधार पर अभिखंडित किया है कि यह संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण करता है, हमारे लिए इसकी विधिमान्यता के प्रश्न पर संविधान के अनुच्छेद 19 के आधार पर विचार करना आवश्यक नहीं है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

271. **आंध्र प्रदेश राज्य** बनाम **मैक्डोवेल एंड कं.**[1] वाले मामले में इस निर्णय के दृष्टिकोण से सहमत होते हुए एक विसम्मत टिप्पण को अभिखंडित कर दिया गया था । तीन न्यायाधीशों की एक अन्य न्यायपीठ ने अनुच्छेद 14 के मनमानेपन वाले पहलू पर आधारित तर्क का खंडन करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है :–

"43. श्री रोहिंटन नरीमन ने यह दलील दी कि क्योंकि छूट प्राप्त प्रवर्गों के अंतर्गत आने वाले बहुत सारे व्यक्तियों को आंध्र प्रदेश राज्य में मादक शराब पीने के लिए अनुज्ञात किया है, इसलिए इन शराबों के निर्माण और उत्पादन पर पूर्ण प्रतिषेध लगाना 'मनमाना' है और संशोधनकारी अधिनियम को केवल इसी आधार पर अभिखंडित किया जाना चाहिए । तमिलनाडु राज्य **बनाम** अनंथी अम्मल

---

[1] (1996) 3 एस. सी. सी. 709.

[(1995) 1 एस. सी. सी. 519] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय का समर्थन इस प्रतिपादना के लिए किया गया है । तथापि, इससे पूर्व कि हम उक्त विनिश्चय को निर्दिष्ट करें, हमें इस संबंध में कतिपय मूलभूत प्रतिपादनाओं का स्मरण करना उचित होगा । यूनाइटेड किंगडम में संसद् सर्वोच्च है । संसद् की शक्ति पर कोई परिसीमाएं नहीं हैं । संसद् द्वारा बनाए गए अधिनियम को कोई न्यायालय किसी आधार पर अभिखंडित नहीं कर सकता है । इसके विपरीत, संयुक्त राज्य अमेरिका में परिसंघीय संविधान है, जहां कांग्रेस और राज्य विधान-मंडलों की विधि बनाने की शक्ति दो प्रकार से सीमित है, अर्थात् राज्यों और परिसंघीय सरकार के बीच विधायी शक्तियों का विभाजन तथा संविधान में सम्मिलित किए गए मूल अधिकार (बिल ऑफ राइट्स) भारत में संयुक्त राज्य अमेरिका के समान स्थिति है । संसद् और इस विषय के लिए राज्य विधान-मंडलों की शक्ति दो प्रकार से निर्बंधित है । संसद् या विधान-मंडल द्वारा बनाई गई कोई विधि न्यायालयों द्वारा केवल और केवल दो आधारों पर अभिखंडित की जा सकती है, अर्थात् (1) विधायी सक्षमता की कमी और (2) संविधान के भाग 3 में प्रत्याभूत किसी मूल अधिकार या किसी अन्य सांविधानिक उपबंध के अतिक्रमण के आधार पर कोई तीसरा आधार नहीं है । हम संयुक्त राज्य अमेरिका के उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों से प्रेरित धारणाओं-प्रक्रियात्मक अयुक्तियुक्तता और मौलिक अयुक्तियुक्तता की चर्चा में नहीं जाना चाहते हैं । यहां तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इन धारणाओं में, विशिष्ट रूप से मौलिक सम्यक् प्रक्रिया की धारणा, अनवरत संविवाद का विषय साबित हुई है और नवीन विचारधारा की प्रवृत्ति इस आधार (मौलिक सम्यक् प्रक्रिया) में अत्यधिक कमी करने की तरफ है । मौलिक सम्यक् प्रक्रिया के आधार के विरुद्ध मुख्य आलोचना का कारण यह है कि यह धारणा विशिष्ट विधान अधिनियमित करने में विधान-मंडल की प्रज्ञा के निर्णयकर्ता के रूप में न्यायालयों का गठन करना चाहती है । हमारे लिए यह कहना पर्याप्त है कि इसे जो भी नाम दिया जाए, अविधिमान्यता का आधार ऊपर वर्णित दो आधारों के भीतर ही आना चाहिए । दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि यदि किसी अधिनियमिति को अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी होने के नाते चुनौती दी जाती है तो इसे केवल इस कारण अभिखंडित किया जा सकता है यदि यह पाया जाता है कि वह अधिनियमिति अनुच्छेद 14

में प्रतिष्ठापित समता खंड/समान संरक्षण खंड की अतिक्रमणकारी है । इसी प्रकार, यदि किसी अधिनियमिति को अनुच्छेद 19 के खंड (क) से (छ) द्वारा प्रत्याभूत किसी मूल अधिकार के अतिक्रमणकारी होने के नाते चुनौती दी जाती है, तो इसे केवल इस कारण अभिखंडित किया जा सकता है यदि यह अनुच्छेद 19 के खंड (2) से (6) तक के किसी खंड द्वारा व्यावृत्त नहीं पाई जाती है । किसी अधिनियमिति को केवल यह कहकर अभिखंडित नहीं किया जा सकता कि यह मनमानी या अयुक्तियुक्त है । किसी अधिनियम को विधिमान्य ठहराने के लिए कोई न कोई सांविधानिक कमी पाई जानी चाहिए । किसी अधिनियमिति को इस आधार पर अभिखंडित नहीं किया जा सकता कि न्यायालय उसे अन्यायपूर्ण समझता है । संसद् और विधान-मंडल, जो लोगों के प्रतिनिधियों के रूप में संकलित हैं, वे अनमित रूप से लोगों की आवश्यकताओं को जानते हैं और उनसे अभिज्ञ होते हैं तथा यह जानते हैं उनके लिए क्या सही और क्या गलत है । न्यायालय उनकी प्रज्ञा पर निर्णय नहीं सुना सकता है । इस संबंध में, यह स्मरण रखना चाहिए कि यहां तक कि प्रशासनिक कार्रवाई के मामले में भी न्यायिक पुनर्विलोकन तीन आधारों तक सीमित है, अर्थात् (i) अयुक्तियुक्तता, जिसे अधिक समुचित रूप से अयुक्तिसंगतता कहा जा सके, (ii) अवैधता और (iii) प्रक्रियात्मक अनुचितता । काउंसिल ऑफ सिविल सर्विस यूनियन **बनाम** मिनिस्टर फार सिविल सर्विस [(1985) एस. सी. सी. 374 = (1984) 3 इला. ई. आर. 935 = (1984) 3 डब्ल्यू. एल. आर. 1174] वाला मामला देखें, जिस विनिश्चय को इस न्यायालय द्वारा भी स्वीकार किया गया है । अनुपातिकता का सिद्धांत यहां तक कि प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में अभी भी बहस का मुद्दा बना हुआ है । [आर **बनाम** सक्रेटरी आफ स्टेट फार होम डिपार्टमेंट, एक्स पी. ब्रिंड (1991) एस. सी. सी. 696 = (1991) 1 आल. ई. आर. 720 पृ. 766-67 और 762 वाले मामले में लार्ड लॉवरी और एक्नेर की राय देखें] जब उक्त सिद्धांत की प्रयोज्यता प्रशासनिक विधि के क्षेत्र में भी पूर्णतः और अंतिमतः स्थिर नहीं है तो इस सिद्धांत को लागू करके किसी अधिनियमिति को अभिखंडित करना अद्‌भूत बात होगी । यह कहना एक बात है कि किसी मूल अधिकार पर अधिरोपित निर्बंधन को अभिखंडित किया जा सकता है यदि यह अननुपातिक, अत्यधिक या अयुक्तियुक्त है तथा यह कहना बिल्कुल अलग बात है कि न्यायालय किसी अधिनियमिति

को अभिखंडित कर सकता है यदि उसका विचार है कि वह अयुक्तियुक्त, अनावश्यक या अनुचित है ।" (पृष्ठ 737 - 739)

272. यह निर्णय कम से कम दो आबद्धकारी पूर्व निर्णयों, प्रथम, **अजय हासिया** (उपर्युक्त) वाले मामले में सांविधानिक न्यायपीठ के निर्णय और द्वितीय **लक्षमणन्** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों की समन्वित न्यायपीठ के निर्णय की अवेक्षा करने में असफल रहा । इसके अतिरिक्त, कार्यपालिका की कार्रवाई और अधीनस्थ विधान, दोनों को अभिखंडित करने के लिए मनमानेपन को क्यों प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, इसमें अंतर्विष्ट तर्कणा निम्नलिखित थी :–

(1) **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले में न्यायपीठ के अनुसार, मौलिक सम्यक् प्रक्रिया की कोई बात न तो अमेरिकन न्यायालयों द्वारा और न ही हमारे न्यायालयों द्वारा स्वीकार की गई है और इसलिए यह मौलिक सम्यक् प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होने के कारण, जो अनुच्छेद 14 में अर्थ लगाया गया है, इसे लागू नहीं किया जा सकता है । **मोहम्मद आरिफ** बनाम **भारत का उच्चतम न्यायालय**[1] वाले मामले में **मेनका गांधी** (उपर्युक्त) वाले विख्यात निर्णय का अनुसरण करते हुए सांविधानिक न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है –

"27. अब मेनका गांधी (मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ [1978] 2 एस. सी. आर. 621 = (1978) 1 एस. सी. सी. 248 वाले मामले के निर्णय के लिए मंच तैयार था । कई सारे निर्णय सुनाए गए और उन सभी का निष्कर्ष यह था कि अनुच्छेद 21 को अन्य मूल अधिकारों के साथ पढ़ा जाना चाहिए और इस प्रकार पढ़ने के लिए विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया न केवल युक्तिसंगत, उचित और युक्तियुक्त होनी चाहिए, अपितु स्वयं विधि भी युक्तियुक्त होनी चाहिए क्योंकि अनुच्छेद 14 और 19 को अब अनुच्छेद 21 के साथ पढ़ा जाना चाहिए । [मुख्य न्यायमूर्ति बेग के अनुसार एस. सी. आर. के पृ. 646 - 648, एस. सी. सी. के पृ. 393-95, पैरा 198-204, एस. सी. आर. के पृ. 669, 671-74 और 687 ; एस. सी. सी. के पृ. 279-284 और 296-297, पैरा 5-7 और 18 पर न्यायमूर्ति भगवती

---

[1] (2014) 9 एस. सी. सी. 737.

के अनुसार तथा एस. सी. सी. के पृ. 335-339 पैरा 74-85 पर न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर के अनुसार देखें] । न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने अत्यंत स्पष्टता के साथ नया सिद्धांत प्रतिपादित किया, जो इस प्रकार है –

> '85. सारांश के रूप में, अनुच्छेद 21 में 'प्रक्रिया' से अभिप्रेत ऋजु प्रक्रिया है न कि औपचारिक प्रक्रिया । 'विधि' एक युक्तियुक्त विधि है न कि कोई अधिनियमित भाग । जैसे कि अनुच्छेद 22 विनिर्दिष्ट रूप से प्रतिषेधात्मक तथा दंडात्मक निरोध के लिए प्रक्रियागत रक्षोपायों को उल्लिखित करता है, इसी प्रकार ऐसे निरोधों के लिए व्यवस्था करने वाली विधि अनुच्छेद 22 के अनुकूल होनी चाहिए । यह उचित ही कहा गया है कि दैहिक स्वतंत्रता गठित करने वाले अन्य अधिकारों के लिए अनुच्छेद 21 में अंतर्निहित प्रक्रिया संबंधी रक्षोपाय उपलब्ध हैं । अन्यथा जैसे कि अनुच्छेद 21 में अंतर्विष्ट प्रक्रिया संबंधी रक्षोपाय केवल ऐसे मामलों में उपलभ्य होंगे जो निषेधात्मक और दंडात्मक निरोध के विषय हों, वहां जीवन संबंधी अधिकार, जो कि किसी भी अन्य निरोध से अधिक मूलभूत है, और जो दैहिक स्वतंत्रता गठित करता है तथा व्यक्ति की प्रसन्नता, गरिमा और मूल्य के लिए सर्वोपरि है, किसी भी प्रक्रिया संबंधी रक्षोपाय के लिए हकदार नहीं होगा सिवाय ऐसी दशा के जिसका चयन विधानमंडल द्वारा किया गया हो ।'

28. **मेनका गांधी** वाले मामले में की गई प्रतिपादनाओं पर सहमति मिट्ठू **बनाम** पंजाब राज्य [(1983) 2 एस. सी. सी. 277 = (1983) एस. सी. सी. (क्रि.) 405] वाले मामले में व्यक्त की गई, जिसमें इस न्यायालय ने निम्नलिखित उल्लेख किया है –

> 6. …….. सुनील बत्रा **बनाम** दिल्ली प्रशासन [(1978) 4 एस. सी. सी. 494 = (1979) एस. सी. सी. (क्रि.) 155] वाले मामले में इस प्रन पर विचार करते समय कि क्या मृत्यु दंडादेश का इंतजार करने वाले व्यक्ति को एकांत परिरोध में रखा जा सकता है, न्यायमूर्ति कृष्ण

अय्यर ने यह मत व्यक्त किया कि हमारे संविधान में 'सम्यक् प्रक्रिया' खंड नहीं है जैसे कि अमेरिका के संविधान में है । बैंक राष्ट्रीयकरण वाले {रूस्तम कावसजी कपूर **बनाम** भारत संघ (बैंक राष्ट्रीयकरण) (1970) 1 एस. सी. सी. 248 और **मेनका गांधी** वाले मामले (मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ) [1978] 2 एस. सी. आर. 621 = (1978) 1 एस. सी. सी. 248} के विनिश्चयों के पश्चात् इसी प्रकार के परिणाम हुए थे ।

....

बचन सिंह और अन्य **बनाम** पंजाब राज्य [(1980) 2 एस. सी. सी. 684 = (1980) एस. सी. सी. (क्रि.) 580] वाले मामले में, जिसमें मृत्यु दंडादेश की शास्ति की सांविधानिक विधिमान्यता को कायम रखा गया था, न्यायमूर्ति सरकारिया ने बहुमत की ओर से मत व्यक्त करते हुए यह कहा कि यदि अनुच्छेद 21 को मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ वाले मामले में किए गए निर्वचन के अनुसार समझा जाता है तो यह कहना होगा कि –

> '136. किसी भी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधिमान्य विधि द्वारा स्थापित ऋजु, निष्पक्ष और युक्तियुक्त प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं ।'

प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी है । अब मौलिक सम्यक् प्रक्रिया प्राण या दैहिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार पर लागू की जानी चाहिए ।"

(पृष्ठ 755 - 756)

अतः, तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने स्पष्ट तौर पर **मोहम्मद आरिफ** (उपर्युक्त) वाले मामले में उद्धृत **मेनका गांधी** (उपर्युक्त) वाले मामले का यह दर्शित करने के लिए उल्लेख नहीं किया कि प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी है और मौलिक सम्यक् प्रक्रिया अनुच्छेद 21 का भाग है क्योंकि इसे अनुच्छेद 14 और 19 के साथ पढ़ा जाना चाहिए ।

न्यायमूर्ति मैथ्यू ने पहला तेज बहादुर सप्रू मेमोरियल लेक्चर, जिसका

शीर्षक "डेमोक्रेसी एंड ज्यूडिशियल रिव्यू" था, देते हुए यह उल्लेख किया है कि :–

> "अभी एक अन्य मुद्दा और है और मैं बताता हूं । संविधान निर्माताओं ने हमारे संविधान में 'सम्यक् प्रक्रिया खंड' को न्यायमूर्ति फ्रेंकफर्टर द्वारा श्री बी. एन. राऊ को दी गई सलाह के आधार पर यह समझते हुए सम्मिलित करने से इनकार कर दिया था कि यह खंड न्यायालय को एक तीसरा चेम्बर बना देगा और न्यायिक पुनर्विलोकन के क्षेत्र को विस्तृत कर देगा । किंतु, मेरा विचार है, उन्होंने अनजाने 'युक्तियुक्त निर्बंधनों', जो अधिकांश मूल अधिकारों पर अधिरोपित किए जा सकेंगे, के पुनर्विलोकन के अपने सिद्धांत द्वारा इस धारणा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और क्रियाशील कारक को परिलक्षित किया है । इसके आधुनिक विस्तारित अर्थ को ग्रहण करके अमेरिकन 'सम्यक् प्रक्रिया खंड' व्यक्ति और राज्य के बीच के संबंध में 'युक्तियुक्तता' की उच्च स्तर की गारंटी और मनमानेपन या दमनकारिता के विरुद्ध एक व्यादेश के रूप में स्थित है । **केशवानंद भारती** वाले मामले में मुझे इस प्रश्न पर विचार करना था । मैंने यह मत व्यक्त किया –
>
> > 'जब कोई न्यायालय यह अभिनिश्चय करता है कि कोई विधान इस आधार पर दूषित है कि यह अयुक्तियुक्त निर्बंधन है, तो वह अपने निष्कर्ष के लिए अनेक स्रोतों से दुर्ग्राह्य संघटक प्राप्त कर रहा होता है । ...... यदि आप विधि द्वारा युक्तियुक्त निर्बंधन लगाने संबंधी मामलों की परीक्षा करें, तो यह पाया जाएगा कि उन सभी में वही मानक अपनाया गया है जो अमेरिकन उच्चतम न्यायालय ने सम्यक् प्रक्रिया खंड के अधीन किसी विधान की युक्तियुक्तता का अभिनिश्चय करने में अपनाया है' ।"

वास्तव में **मिट्टू** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में **सुनील बत्रा** बनाम **दिल्ली प्रशासन और अन्य**[2] वाले मामले में एक सांविधानिक न्यायपीठ के निर्णय का अनुसरण किया गया था । उस मामले में कारागार अधिनियम की धारा 30(2) को असांविधानिक होने के कारण चुनौती दी

---

[1] [1983] 3 उम. नि. प. 363 = (1983) 2 एस. सी. सी. 277.

[2] [1979] 3 उम. नि. प. 407 = (1978) 4 एस. सी. सी. 494.

गई थी क्योंकि मृत्यु दंडादेश के अधीन प्रत्येक कैदी को सभी अन्य कैदियों से अलग प्रकोष्ठ में परिरुद्ध किया जाएगा, अर्थात् उसे एकांत परिरोध में रखा जाएगा । संविधान न्यायपीठ ने धारा 30(2) का अनुशीलन केवल ऐसे व्यक्ति के प्रति निर्देश करने के लिए किया जिसे अंतिम रूप से मृत्यु का दंडादेश दिया गया है और इसमें राज्यपाल और/या राष्ट्रपति को की गई वे दया याचिकाएं भी सम्मिलित होंगी जिनका अभी निपटारा नहीं किया गया है । ऐसा अभिनिर्धारित करते हुए न्यायमूर्ति देसाई ने चार विद्वान् न्यायाधीशों की ओर से मत व्यक्त करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है कि –

> "228. अनुच्छेद 21 के अधीन चुनौती का हमारे द्वारा धारा 30 की उपधारा (2) के निर्वचन के आधार पर असफल होना लाजिमी है । उस व्यक्ति की दैहिक स्वतंत्रता, जिसे बंदी रखा जाता है, दंडात्मक परिरोध द्वारा बहुत अधिक कम हो जाती है । निवारक निरोध में भी यह कम हो जाती है । सह-कैदियों के साथ विचरण करने, एक दूसरे के साथ घुलने-मिलने, मिलने-जुलने, बातचीत करने, उठने-बैठने की स्वतंत्रता को यदि सारभूत रूप से कम किया जाता है तो जब तक विधि का समर्थन ऐसी कमी करने के लिए न हो, तो यह अनुच्छेद 21 की अतिक्रमणकारी होगी । धारा 30 की उपधारा (2) में वह प्रक्रिया स्थापित की गई है, जिसके द्वारा इस स्वतंत्रता को कम किया जा सकता है किंतु इस उपधारा का अनुशीलन हमारे निर्वचन के अधीन किया जाना आवश्यक है । अनुच्छेद 21 में 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' अभिव्यक्ति में 'विधि' शब्द का निर्वचन **मेनका गांधी** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस अर्थ में किया गया है कि विधि अवश्य ही सही, न्यायसंगत और ऋजु होनी चाहिए, न कि मनमानी, काल्पनिक या अन्यायपूर्ण । अन्यथा इसे कोई प्रक्रिया ही नहीं कहा जाएगा और अनुच्छेद 21 की अपेक्षा का समाधान नहीं होगा । यदि यह मनमानी है तो यह अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी है । धारा 30(2) का अनुशीलन उस रीति में किया जाए जिस रीति में हमने किया है, तो इसका अनिष्कारी तत्व समाप्त हो जाता है और यह नहीं कहा जा सकता है कि यह मनमानी है या विधि के प्राधिकार के बिना दैहिक स्वतंत्रता से वंचित करती है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने एक विस्तृत और प्रख्यात सहमतिजन्य

निर्णय में (पृष्ठ 518 पर) यह मत व्यक्त किया है :–

> "52. सही है हमारे संविधान में 'सम्यक् प्रक्रिया खंड' या आठवां संशोधन नहीं है, किंतु विधि की इस शाखा में आर. सी. कूपर **बनाम** भारत संघ [(1970) 1 एस. सी. सी. 248] और मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ [(1978) 1 एस. सी. सी. 248] के निर्णयों के पश्चात् परिणाम वैसे ही हैं । क्योंकि जो कुछ भी दंडात्मक रूप से दारुण, सार्वजनिक अपमान की दृष्टि से अप्रायिक अथवा क्रूर और पुनर्वास की दृष्टि से अनुपयोगी है वह अकाट्य रूप से अयुक्तियुक्त तथा मनमाना है और अनुच्छेद 14 और 19 उसे अभिखंडित करता है और यदि प्रक्रियागत अऋजुता का आरोप उस पर लगाया गया हो तो वह अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करता है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

मिट्टू (उपर्युक्त) वाले मामले पर आते हैं, जिसमें इस न्यायालय की एक सांविधानिक न्यायपीठ ने भारतीय दंड संहिता की धारा 303, जिसके द्वारा आजीवन कारावास से सिद्धदोष व्यक्ति पर, जो कारागार में हत्या कर देता है, आज्ञापक रूप से मृत्यु दंडादेश अधिरोपित किया गया था, को अभिखंडित कर दिया था । याची की ओर से विद्वान् काउंसेल द्वारा दिए गए तर्क को इस प्रकार उपवर्णित किया गया है :–

> "5. उन कमियों पर, जो धारा 303 में हैं, विचार करने से पूर्व हमें उस तर्क की प्रकृति को अवश्य ही उपदर्शित करना चाहिए, जो याचियों की ओर से उस धारा की विधिमान्यता को चुनौती देने के लिए हमारे समक्ष बतलाई गई है । तर्क का सार और संक्षेप इस प्रकार है कि धारा 303 में अंतर्विष्ट उपबंध पूर्णतया अयुक्तियुक्त और मनमाना है और तद्द्वारा वह संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करता है । संविधान का अनुच्छेद 21 इस बात की प्रत्याभूति देता है कि किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं । चूंकि प्रक्रिया, जिसके द्वारा धारा 303 प्राण से वंचित करने को प्राधिकृत करती है, अनुचित और अयुक्तियुक्त है, इसलिए धारा असांविधानिक है । इस तर्क पर बहुत ही सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् हमारी यह राय है कि उसे अवश्य ही स्वीकार किया जाना

चाहिए तथा दंड संहिता की धारा 303 को अभिखंडित कर दिया जाना चाहिए । (पृष्ठ 283 पर)

सुनील बत्रा (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चय को उद्धृत करने के पश्चात् इस न्यायालय के समक्ष जो प्रश्न उद्‌भूत हुआ, वह इस प्रकार है :–

"6. .... प्रश्न जो हमारे समक्ष उद्‌भूत हुआ है वह यह है कि क्या ऐसे व्यक्ति द्वारा, जो आजीवन कारावास का दंडादेश भुगत रहा है, की गई हत्या के अपराध के लिए दंड संहिता की धारा 303 द्वारा विहित मृत्यु दंडादेश मनमाना और अतिवादी है जिससे कि वह अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार का अतिक्रमणकारी है ।" (पृष्ठ 285 पर)

इस प्रकार का प्रश्न निर्दिष्ट करने के पश्चात् न्यायालय ने आगे यह मत व्यक्त किया :–

"9. ...... क्या ऐसी कोई विधि निष्पक्ष और उचित है जो हत्या के अपराध के लिए अभियुक्त को इस बात के लिए कारण बताने का अवसर दिए बिना कि वह दंडादेश क्यों न अधिरोपित कर दिया जाए, मृत्यु दंडादेश का उपबंध करती है । द्वितीयतः, क्या ऐसी विधि निष्पक्ष और उचित है यदि इसी प्रकार की बातों में न्यायालय को यह कारण बताना अपेक्षित न हो कि अधिकतम शास्ति देना क्यों जरूरी है । क्या इस बात का उपबंध करना मनमाना नहीं है कि चाहे जो परिस्थितियां हों जिनमें हत्या का अपराध किया गया हो, अभियुक्त पर मृत्यु दंडादेश अवश्य ही अधिरोपित किया जाना चाहिए ?" (पृष्ठ 287 पर)

इसके पश्चात् इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित रीति में दिया गया –

"18. चूंकि विशेष प्रकार के व्यक्तियों के संबंध में धारा 303 द्वारा मृत्यु दंडादेश आज्ञापक बनाया गया है, इसके लिए आवश्यक परिणाम के रूप में उन्हें दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 235(2) के अधीन यह कारण दर्शाने के अवसर से वंचित किया गया है कि क्यों न उन्हें मृत्यु दंडादेश दिया जाए तथा न्यायालय को मृत्यु दंडादेश अधिरोपित करने के लिए विशेष कारण उल्लिखित करने से उस संहिता की धारा 354(3) के अधीन उसकी बाध्यता से मुक्त किया गया है । इन अधिकारों और रक्षोपायों से, जिनके परिणामस्वरूप

अन्याय होना निश्चित है, वंचित किया जाना कठोर, मनमाना और अन्यायोचित है ।

19. ....ऐसे अपराधों में से द्वितीय अपराध के लिए इस कारण से आज्ञापक मृत्यु दंडादेश विहित करना कि अपराधी ऐसे अपराधों में से प्रथम बार के अपराध के लिए आजीवन कारावास भुगत रहा था, सब प्रकार के तर्कों से परे एवं मनमाना है । यह उपधारणा करने पर भी कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 235(2) मामले को लागू होती थी, न्यायालय दंडादेश के प्रश्न पर अभियुक्त की सुनवाई करने के लिए बाध्य था । उसे अभियुक्त से इस प्रकार के कुछ प्रश्न पूछने होंगे --

'तुम कूटरचना के अपराध के लिए आजीवन कारावास से दंडादिष्ट किए गए थे । तुमने आजीवन कारावास भुगतते समय हत्या की है । तुम्हें क्यों न मृत्यु दंडादेश दिया जाए ?'

प्रश्न में अपने स्वयं का खंडन है । वह इस बात पर प्रकाश डालता है कि ऐसी परिस्थितियों में आज्ञापक मृत्यु दंडादेश विहित करने के लिए उपबंध किस प्रकार से मनमाना और असंगत है –

23. विभिन्न परिस्थितियों पर, जो हम निर्णय में उल्लिखित कर चुके हैं, विचार करने के पश्चात् हमारी यह राय है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 303 अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट समता की प्रत्याभूति का तथा संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त इस अधिकार का भी अतिक्रमण करती है कि किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं ।"

न्यायमूर्ति चिन्नप्पा रेडी ने सर्वसम्मत निर्णय में इस धारा को निम्नलिखित शब्दों में अभिखंडित कर दिया :–

"25. मेनका गांधी **बनाम** भारत संघ और बचन सिंह और अन्य **बनाम** पंजाब राज्य के मामलों (1980) 2 एस. सी. सी. 684. में व्यक्त मतों को देखते हुए धारा 303 को विधिमान्य रूप में कायम रखना असंभव है । धारा 303 न्यायिक विवेकाधिकार को अपवर्जित करती है । न्याय की तराजू न्यायाधीश के हाथों से उस समय छिन जाती है ज्यों ही वह अभियुक्त को अपराध का दोषी घोषित कर देता

है । मृत्यु दंडादेश इतना अंतिम, इतना अप्रतिसंहरणीय और इतना अनिवार्य होता है कि किसी भी ऐसी विधि को, जो विवेक का प्रयोग किए बिना उसके लिए उपबंध करती है, ऋजु, न्यायसंगत और युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है । ऐसी विधि को अनिवार्य रूप से मनमाना और दमनकारी कहा जाना चाहिए । धारा 303 ऐसी विधि है तथा उसे सभी दोषपूर्ण विधियों की तरह ही समाप्त कर दिया जाना चाहिए । मैं मेरे विद्वान् बंधु मुख्य न्यायाधिपति से इस बात पर सहमत हूं कि भारतीय दंड संहिता की धारा 303 को असंवैधानिक होने के कारण अभिखंडित कर दिया जाना चाहिए ।"

अतः, संविधान न्यायपीठ के उपर्युक्त निर्णयों से भी यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 14 को कानूनी विधि की सांविधानिक अविधिमान्यता के संदर्भ में यह दर्शित करने के लिए निर्दिष्ट किया गया है कि यदि ऐसी कानूनी विधि "मनमानी" पाई जाती है तो उसे अभिखंडित कर दिया जाएगा ।

तथापि, **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **मिट्टू** (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान न्यायपीठ के आबद्धकारी विनिश्चय पर निम्नलिखित रूप में विचार किया था :–

"45. इसके पश्चात् श्री जी. रामास्वामी द्वारा मिट्टू **बनाम** पंजाब राज्य [(1983) 2 एस. सी. सी. 277 = 1983 एस. सी. सी. (क्रि.) 405] वाले मामले के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया, जिसमें भारतीय दंड संहिता की धारा 303 को अभिखंडित कर दिया गया था । किंतु वह विनिश्चय मुख्य रूप से अनुच्छेद 21 पर निर्भर था, यद्यपि अनुच्छेद 21 के साथ-साथ अनुच्छेद 14 को भी निर्दिष्ट किया गया था । उल्लंघनकारी उपबंध में न केवल न्यायिक विवेकाधिकार के प्रयोग की किसी गुंजाइश को अपवर्जित किया गया था अपितु इसमें अभियुक्त को भी दंड प्रक्रिया संहिता की धाराओं 235(2) और 354(3) में अंतर्विष्ट रक्षोपायों से वंचित किया गया था । अतः, इसमें के याचियों को उक्त विनिश्चय के विनिश्चयाधार से कोई सहायता नहीं मिलती है ।"

यह कहते हुए कि विनिश्चय मुख्य रूप से अनुच्छेद 21 पर निर्भर था, यद्यपि अनुच्छेद 14 को भी निर्दिष्ट किया गया था, इस न्यायालय के पांच विद्वान् न्यायाधीशों के आबद्धकारी निर्णय के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि इससे "कोई सहायता" नहीं मिलती है । यह स्पष्ट है कि उक्त सांविधानिक न्यायपीठ का विनिश्चयाधार अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद

21 दोनों पर आधारित था, जैसा कि ऊपर[1] उपवर्णित पैरा 19 और 23 में

---

[1] यह स्पष्ट है कि एक निर्णय में एक से अधिक विनिश्चयाधार हो सकते हैं । कमीशनर्स आफ टेक्सेशन फार द स्टेट आफ न्यू साउथ वेल्स **बनाम** पाल्मेर एंड अदर्स (1907 अपील केसेज 179 एट. 184) वाले मामले में न्यू साउथ वेल्स के सुप्रीम कोर्ट से की गई अपील में प्रिवी कौंसिल द्वारा इस बात को मान्यता प्रदान की गई थी । लार्ड मेकनेघटन ने यह मत व्यक्त किया :–

> "......... किंतु किसी ऐसी प्रतिपादना को, जिसे न्यायालय सुभिन्न और अपने विनिश्चय के लिए पर्याप्त आधार होना घोषित करता है, केवल इस कारण अभियुक्त समझना असंभव है कि एक अन्य आधार का भी उल्लेख है जिस अकेले के आधार पर ही मामले को अवधारित किया जा सकता था ।"

जैकबस **बनाम** लंदन काउंटी कौंसिल [(1950) 1 आल ई. आर. 737, पृ. 741] वाले मामले में हाउस आफ लार्ड्स ने कुछ पूर्ववर्ती विनिश्चयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :–

> "..... तथापि, मेरी राय में, यह हो सकता है कि किसी न्यायाधीश द्वारा अपने विनिश्चय के लिए दिए गए कारण को इतरोक्ति मानने के लिए कोई औचित्य न हो क्योंकि उसने एक अन्य कारण भी दिया हो । यदि यह कहने के लिए यह उचित कसौटी होती कि क्या विनिश्चय उस प्रतिपादना के अतिरिक्त भी वही रहा होता जिसे इतरोक्ति होने का अभिकथन किया है, तब जिस मामले में स्पष्टतः दो बातों का विनिश्चय किया गया उनमें से किसी को कोई विनिश्चय नहीं किया गया । लंदन जेवलर्स **बनाम** ऐटबरो [(1934) 2 के. वी. 206] वाले मामले में एक अच्छा दृष्टांत पाया जाएगा । उस मामले में विवाद्यकों में से एक विवाद्यक का अवधारण इस बात पर निर्भर था कि कोर्ट आफ अपील फोल्कस् **बनाम** किंग [(1923) 1 के. वी. 282] वाले मामले के अपने पूर्ववर्ती विनिश्चय द्वारा कितनी आबद्ध थी, जिस विनिश्चय में न्यायालय ने अपने विनिश्चय के लिए दो आधार दिए थे, उनमें से दूसरा [जैसाकि एल. जे., गरीर द्वारा उल्लेख किया गया है (1934) 2 के. वी. 222] ऐटनबरो वाले मामले में यह था –
>
> > '...... जहां, कोई व्यक्ति विक्रय करने के प्राधिकार के साथ या स्वयं स्वामी बनने के लिए कब्जा अभिप्राप्त करता है और फिर विक्रय करता है तो उसे चोरी से या प्रवंचना करके वस्तुएं अभिप्राप्त करने वाला नहीं समझा जा सकता है ।'
>
> **ऐटनबरो** (उपर्युक्त) वाले मामले में यह दलील दी गई थी कि चूंकि **फोलकस्** (उपर्युक्त) वाले मामले में विनिश्चय के लिए एक अन्य कारण दिया गया था, इसलिए दूसरा कारण इतरोक्ति था, किंतु एल. जे., गरीर ने कौंसिल की दलील के संदर्भ में यह मत व्यक्त किया :–
>
> "मैं यह महसूस नहीं कर सकता हूं कि यदि हमें इस नजीर से कोई बाधा नहीं पहुंचती है तो इस प्रतिपादना के बारे में कहने के लिए बहुत कुछ है जिसने स्वयं न्यायमूर्ति स्विफ्ट की सराहना की है और जिसकी **फोलक्स** बनाम **किंग**

चार विद्वान् न्यायाधीशों के निर्णय से स्पष्ट है । अतः, इस विनिश्चयाधार के बावजूद एक तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा इसे सही विधि नहीं कहा जा सकता है । **सुनील बत्रा** (उपर्युक्त) वाले मामले के संविधान न्यायपीठ के आबद्धकारी विनिश्चय को भी, जिसमें मनमानेपन को किसी विधायी उपबंध को अभिखंडित करने के आधार के रूप में अभिनिर्धारित किया गया था, **मेक्डॉवल** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों के विनिश्चय में निर्दिष्ट नहीं किया गया था ।

2. दूसरा कारण यह दिया गया है कि अनुच्छेद 14 के अधीन चुनौती पर अनुच्छेद 19 के अधीन चुनौती से अलग विचार किया जाना चाहिए, यह **ए. के. गोपालन** बनाम **मद्रास राज्य**[1] वाले मामले में के इस दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति है कि मूल अधिकारों को अविच्छिन्न विषय के रूप में देखा जाना चाहिए । हमने देखा कि **रुस्तम कावसजी कपूर** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में, इस न्यायालय की 11 न्यायाधीशों की न्यायपीठ द्वारा कैसे इस दृष्टिकोण को अभिखंडित कर दिया गया और **मेनका गांधी** (उपर्युक्त) वाले मामले में, इसका अनुसरण किया गया । विधान में मनमानापन अनुच्छेद 19(2) से (6) बहुत बड़ा पहलू है, जैसा कि इस न्यायालय के कई सारे निर्णयों में

> [(1923) 1 के. बी. 282] वाले मामले में स्वयं मेरी सराहना की है, किंतु **फोलक्स्** बनाम **किंग** वाले मामले में कोर्ट आफ अपील के विनिश्चय को देखते हुए हम यह मत व्यक्त करने के लिए स्वतंत्र नहीं है । उस मामले में कोर्ट आफ अपील के सभी सदस्यों द्वारा अपने विनिश्चय के लिए दो कारण दिए गए थे और हम प्रथम कारण को विनिश्चयाधार के रूप में चुनने और द्वितीय की अनदेखी करने, या द्वितीय कारण को विनिश्चयाधार के रूप में चुनने और प्रथम की अनदेखी करने के हकदार नहीं हैं, हमें दोनों को निर्णय का आधार गठित करने वाला समझना चाहिए ।"

अतः, **चिएटर** बनाम **केटर** [(1998) 1 के. बी. 247] वाले मामले में भी एल. जे. पिकफोर्ड ने **ईरसकाइन** बनाम **एल. जे. मेलिश** के निर्णय से एक लेखांश को उद्धृत करने के पश्चात् यह मत व्यक्त किया :–

> "यह विधि का एक सुभिन्न कथन है न कि इतरोक्ति । विद्वान् न्यायमूर्ति द्वारा अपने निर्णय के लिए दिया गया यह द्वितीय आधार है । यदि कोई न्यायाधीश अपने निर्णय के लिए दो आधारों का उल्लेख करता है और अपने विनिश्चय को दोनों पर आधारित करता है, तो उनमें से कोई भी इतरोक्ति नहीं है ।"

[1] [1950] एस. सी. आर. 88.
[2] (1970) 1 एस. सी. सी. 248.

अधिकथित किया गया है, जिनमें से कुछ को **ओम कुमार** (पश्चात्वर्ती) वाले मामले में निर्दिष्ट किया गया है और इसलिए कोई कारण नहीं कि मनमानेपन को अनुच्छेद 14 के अधीन बनाए गए विधान को भी अभिखंडित करने के लिए उपर्युक्त अर्थ में क्यों प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है ।

3. तीसरा कारण यह दिया गया है कि न्यायालय संसदीय प्रज्ञा पर निर्णय देने का अधिकार नहीं ले सकते हैं । हमारी विधि रिपोर्टों में दृष्टांत ही दृष्टांत भरे पड़े हैं जहां इस न्यायालय द्वारा संसदीय प्रज्ञा की सफलतापूर्वक अवज्ञा की गई है क्योंकि ऐसी विधियां उनके अयुक्तियुक्त होने के कारण खरी नहीं उतरती हैं, यह बात **ओम कुमार** (पश्चात्वर्ती) वाले मामले में निर्दिष्ट किया गया है ।

हमें **पंजाब राज्य** बनाम **खान चंद**[1] वाले मामले में न्यायमूर्ति खन्ना द्वारा दी गई चेतावनी को कभी नहीं भूलना चाहिए । उन्होंने कहा था कि :–

> "12. यह उपधारित करना गलत होगा कि किसी अधिनियमिति को अवैध घोषित करने में न्यायालयों के कार्य में न्यायिक-अनाधिकार-ग्रहण का तत्व होगा । संविधान ने न्यायालयों को यह अवधारित करने का कार्य सौंपा है कि क्या विधान-मंडल द्वारा अपनाई गई विधियां संविधान के उपबंधों के अनुरूप हैं । कानून की सांविधानिक विधिमान्यता का न्याय-निर्णयन करने के लिए न्यायालय उस बाध्यता का पालन करते हैं जो उन पर संविधान द्वारा अधिरोपित की गई है । यदि वे किसी कानून के उपबंधों को असांविधानिक घोषित करने में संकोच करते हैं तो यह न्यायालयों द्वारा अपने उत्तरदायित्व से मुंह मोड़ना होगा यद्यपि वे उपबंध संविधान के अनुच्छेदों का अतिक्रमण करने वाले पाए जाएं । अनुच्छेद 32 और 226 संविधान के अभिन्न भाग हैं और मूल अधिकारों तथा संविधान द्वारा प्रदत्त अन्य अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उपचार उपबंधित करते हैं । न्यायालयों की ओर से, किसी अधिनियमिति के उपबंधों के, संविधान का अतिलंघन करने वाले पाए जाने पर भी, न्यायिक विनम्रता की किसी धारणा के कारण उन्हें असांविधानिक घोषित करने में संकोच या इनकार से, अनेक मामलों में, व्यथित पक्षकारों के लिए संविधान द्वारा उपबंधित उपचार छिन जाएगा या किसी भी दशा में वह उपचार नष्ट हो जाएगा । स्वयं अपने हित को प्रभावित करने वाले

---

[1] [1974] 1 उम. नि. प. 1285 = (1974) 1 एस. सी. सी. 549.

विषयों में परित्यजन कभी-कभी प्रशंसनीय हो सकता है, किंतु जिन मामलों में शक्ति उन उपायों से, जो संविधान का अतिक्रमण करते हैं, दूसरों के हित का संरक्षण करने के लिए प्रदत्त की जाती है उनमें परित्यजन के गंभीर परिणाम हो सकते हैं । न्यायालयों का यह कार्य है कि वे किसी अधिनियमिति के उपबंधों को असांविधानिक घोषित करें यदि वह संविधान के किसी अनुच्छेद का उल्लंघन करती हैं । क्योंकि उसकी विधिमान्यता को बहाल रखना उनका कर्तव्य होता है, यदि पाया जाए कि वह किसी ऐसी अशक्तता से ग्रस्त नहीं है ।"

पुनः, यह बात हमें रोक नहीं सकती है ।

4. एक और कारण यह दिया गया है कि आनुपातिकता का सिद्धांत प्रशासनिक विधि तक में लागू किया जाना संदेहास्पद है, इसलिए अनुच्छेद 14 के इस पहलू को सांविधानिक विधि में लागू नहीं किया जाना चाहिए । **ओम कुमार** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में सांविधानिक सिद्धांत के रूप में आनुपातिकता को निम्न प्रकार उजागर किया गया है :–

"30. हमारे संविधान के भाग 3 में वर्ष 1950 से ही मूल अधिकारों पर अध्याय होने के कारण भारतीय न्यायालय आनुपातिकता के सिद्धांत के आधार पर विधान को असांविधानिक घोषित करने के लिए या उनका ऐसी रीति में परिशीलन करने के लिए, जो अधिकारों के घोषणापत्र के संगत हो, अंग्रेजी न्यायालयों द्वारा अनुभव की जा रही निर्योग्यता के समान निर्योग्यता से ग्रस्त नहीं हैं । वर्ष 1950 से ही 'आनुपातिकता' के सिद्धांत को भारत में विधायी और (प्रशासनिक) कार्यवाही में उत्साहपूर्वक लागू किया गया है । भारत के संविधान के अनुच्छेद 19(1) में प्रगणित स्वातंत्र्यों – यथावाक् और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य, शांतिपूर्वक सम्मेलन की स्वातंत्र्य, संगम और संघ बनाने की स्वातंत्र्य, भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण की स्वातंत्र्य, भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वातंत्र्य का उल्लंघन करने वाले विधान की विधिमान्यता पर विचार करते हुए इस न्यायालय ने यह विचार किया कि क्या विधान द्वारा अधिरोपित निर्बंधन स्थिति के अनुरूप अननुपातिक हैं या क्या कम निर्बंधनकारी विकल्प नहीं है । यह दर्शित करने के लिए कि निर्बंधन युक्तियुक्त है, साबित करने का भार राज्य पर डाला गया है । इन

[1] (2001) 2 एस. सी. सी. 386.

स्वातंत्र्यों पर अनुच्छेद 19(2) से (6) के अधीन 'युक्तियुक्त निर्बंधन' केवल विधान द्वारा अधिरोपित किए जा सकते हैं और न्यायालयों के पास इन निर्बंधनों की आनुपातिकता पर आद्योपान्त विचार करने का अवसर आया है । 'युक्तियुक्त निर्बंधन' किस सीमा तक अधिरोपित किए जा सकते हैं, इस न्यायालय के अनेक निर्णयों में इस पर विचार किया गया है । चिंतामनराव **बनाम** मध्य प्रदेश राज्य {ए. आई. आर. 1951 एस. सी. 118 = [1950] एस. सी. आर. 759} वाले मामले में न्यायमूर्ति महाजन (जो वह उस समय थे) ने मत व्यक्त किया कि राज्य मूल अधिकारों पर जो 'युक्तियुक्त निर्बंधन अधिरोपित करे, वे मनमाने या अत्यधिक प्रकृति के न हों और लोक हित में जो अपेक्षित है उससे परे नहीं होने चाहिएं ।' 'युक्तियुक्त' से विवक्षित है बुद्धिमतापूर्ण सावधानी और सोच-विचार करके, अर्थात् उस प्रक्रिया का चयन करना जो इसके लिए कारण को अधिप्रेरित करे । जो विधान मनमाने रूप से या अतिशय रूप से अधिकार का अतिक्रमण करता हो उसे तब तक युक्तियुक्तता की गुणवत्ता युक्त नहीं कहा जा सकता है जब तक कि यह प्रत्याभूत अधिकारों तथा अनुच्छेद 19(2) से (6) के अधीन अनुज्ञेय नियंत्रण के बीच उचित संतुलन न बैठाता हो । अन्यथा, ऐसे विधान को अवश्य उस गुणवत्ता से रहित अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए । मद्रास राज्य **बनाम** वी. जी. रोव {ए. आई. आर. 1952 एस. सी. 196 = [1952] एस. सी. आर. 597 = 1952 क्रि. ला. जर्नल 966} वाले मामले में मुख्य न्यायमूर्ति पतंजली शास्त्री ने यह मत व्यक्त किया कि न्यायालय को 'उस अधिकार की प्रकृति, जिसका अभिकथित रूप से उल्लंघन किया गया है, अधिरोपित किए गए निर्बचनों का अंतर्निहित प्रयोजन, उस अनिष्ट की सीमा और अत्यावश्यकता जिसका तद्द्वारा उपचार किया जाना ईप्सित है, अधिरोपण के अननुपात और उस समय की प्रचलित दशाओं को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए ।' विधान के संदर्भ में आनुपातिकता के इस सिद्धांत को हाल ही में आंध्र प्रदेश राज्य **बनाम** मेक्डावल एंड कं. (1996) 3 एस. सी. सी. 709 वाले मामले में न्यायमूर्ति जीवन रेड्डी द्वारा निर्दिष्ट किया गया था । उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय में इस स्तर की संवीक्षा पिछले पचास वर्षों से एक सामान्य विशेषता रही है । विनिश्चित मामलों की संख्या हजारों में है ।

31. अनुच्छेद 21 में स्वातंत्र्य की प्रत्याभूति दी गई है और इसे 'आनुपातिकता' के सिद्धांतों के अधीन भी रखा गया है । बचन सिंह **बनाम** पंजाब राज्य [(1980) 2 एस. सी. सी. 684 = (1980) एस. सी. सी. (क्रि.) 580] वाले मामले में दंड प्रक्रिया संहिता, 1974 और भारतीय दंड संहिता के उपबंधों पर विचार किया गया था और बहुमत ने विधान को कायम रखा । न्यायमूर्ति भगवती ने विसम्मत निर्णय में [बचन सिंह **बनाम** पंजाब राज्य (1982) 3 एस. सी. सी. 24 = 1982 एस. सी. सी. (क्रि.) 535 वाला मामला देखें] 'आनुपातिकता' पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया और यह अभिनिर्धारित किया कि कानून द्वारा उपबंधित दंड अननुपातिक है ।

32. जहां तक अनुच्छेद 14 का संबंध है, भारत के न्यायालय इस बात की परीक्षा करते हैं कि क्या वर्गीकरण बोधगम्य अंतर पर आधारित है और क्या अंतर का विधान के उद्देश्य के साथ युक्तियुक्त संबंध है । स्पष्ट रूप से, जब न्यायालय इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या वर्गीकरण बोधगम्य अंतर पर आधारित है, तो न्यायालय फर्कों की विधिमान्यता और फर्कों की पर्याप्तता की परीक्षा कर रहे होते हैं । पुनः यह और कुछ नहीं अपितु आनुपातिकता का ही सिद्धांत है । ऐसे मामले भी हैं जहां विधान और नियमों को अयुक्तियुक्त होने के अर्थ में मनमाना होने के कारण अभिखंडित कर दिए गए हैं । [एयर इंडिया **बनाम** नरगिश मिर्जा (1981) 4 एस. सी. सी. 335 = (1981) एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 599 (एस. सी. सी. के पृष्ठ 372-373 पर) वाला मामला देखें] किंतु आंध्र प्रदेश राज्य **बनाम** मेक्डावल एंड कं. (1996) 3 एस. सी. सी. 709 वाले मामले में केवल 'मनमानेपन' के आधार पर विधान को अभिखंडित करने के पश्चात्वर्ती पहलू पर संदेह व्यक्त किया गया था ।"

273. युक्तियुक्तता का सूत्र मूल अधिकारों के संपूर्ण अध्याय में है । जो बात प्रत्यक्षतः मनमानी है वह स्पष्ट रूप से अयुक्तियुक्त है और विधि के शासन के प्रतिकूल होने के कारण उससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होगा । इसके अतिरिक्त, **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले में तीन न्यायाधीशों के विनिश्चय में तब स्पष्ट अंतर्विरोध दिखता है जब यह कहा जाता है कि कोई संविधान संबंधी चुनौती इस आधार पर सफल हो सकती है कि विधि "अननुपातिक, अतिशय या अयुक्तियुक्त" है, तो भी ऐसी चुनौती विधि के "अयुक्तियुक्त, अनावश्यक, या अवांछित" होने के कारण

असफल हो जाएगी । मनमानेपन के सिद्धांत को जब विधान पर लागू किया जाए तो इसमें पश्चात्‌वर्ती चुनौती अंतर्वलित नहीं होगी अपितु केवल वह विधि अंतर्वलित होगी जो अननुपातिक, अतिशय या अन्यथा प्रत्यक्षतः अयुक्तियुक्त है । अतः उपर्युक्त सभी आधार राज्य की उसके विभिन्न रूपों में कार्रवाई के बीच अंतर करना नहीं चाहते हैं और यदि उनमें संविधान के भाग 3 में व्यक्तियों और नागरिकों के लिए प्रत्याभूत मूल अधिकारों के विषय में टकराव होता है तो वे सभी निषेधात्मक हैं ।

274. हमें केवल यह बताने की आवश्यकता है कि **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले के पश्चात् भी इस न्यायालय ने वस्तुतः कानूनी विधि को इस आधार पर अभिखंडित कर दिया कि वह मनमानी है और इसलिए भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी है । **माल्पे विश्वनाथ आचार्या** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि समय बीत जाने के पश्चात् विधि मनमानी बन सकती है और इसलिए बम्बई रेंट ऐक्ट के अधीन 1940 के बाजार मूल्य पर किरायों को स्थिर करना मनमाना होगा और भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है (पैरा 8 से 15 और 31 देखें) ।

275. इसी प्रकार **मारडिया केमिकल्स लि. और अन्य** बनाम **भारत संघ और अन्य इत्यादि**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने वित्तीय आस्तियों का प्रतिभूतिकरण और पुनर्गठन तथा प्रतिभूति हित का प्रवर्तन अधिनियम, 2002 की धारा 17(2) को निम्नलिखित प्रकार से अभिखंडित कर दिया था :–

> "64. प्रस्तुत मामले में पूर्व निक्षेप की शर्त दूषित है और उपचार को इन आधारों पर भ्रामक बना देती है कि (i) यह शर्त प्रथम बार के न्यायनिर्णयन प्राधिकारी को समावेदन करते समय अधिरोपित की जाती है, अपील में नहीं ; (ii) अभी तक शोध्य रकम का अवधारण नहीं हुआ है, (iii) प्रतिभूत आस्तियां या उनका प्रबंधन अंतरणीय हित सहित पहले ही ग्रहण कर लिया है और प्रतिभूत लेनदार के नियंत्रण में है, (iv) रकम जो अभी भी अवधारित और तय की जानी है, के संबंध में दोहरी प्रतिभूति के लिए कोई विशेष कारण नहीं है, (v) दावाकृत रकम का 75 प्रतिशत किसी तरह से एक भी कम रकम

---

[1] (1998) 2 एस. सी. सी. 1.

[2] (2004) 4 एस. सी. सी. 311.

नहीं होगी, और (iv) यह देनदार को उस स्थिति में पहुंचा देगी जहां उसके लिए अनावधारित मांग का 75 प्रतिशत निक्षेप करने के लिए कोई निधियां जुटाना असंभव होगा । ऐसी शर्तें न केवल दूर्भर और दमनकारी हैं अपितु अयुक्तियुक्त और मनमानी भी हैं । इसलिए हमारे मत में, अधिनियम की धारा 17 की उपधारा (2) अयुक्तियुक्त, मनमानी और संविधान के अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी हैं ।"

276. पूर्णतया दो अन्य हाल ही के निर्णयों, अर्थात् **तमिलनाडु राज्य** बनाम **के. श्याम सुंदर**[1] और **ए. पी. डेयरी डेवलपमेंट कारपोरेशन फेडरेशन** बनाम **बी. नरसिम्हा रेड्डी**[2], में इस न्यायालय ने विधि की इस स्थिति को दोहराया है कि कोई विधान इस आधार पर अभिखंडित किया जा सकता है कि वह मनमाना है और इसलिए संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है ।

277. **अशोक कुमार ठाकुर** बनाम **भारत संघ**[3] वाले मामले में एक संविधान न्यायपीठ के विनिश्चय में इस तर्कहीन दलील को, कि आक्षेपित विधान मत प्राप्त करने की क्रियाविधि के भाग के रूप में समुदाय के एक भाग को प्रसन्न करने के लिए आशयित है, विधिक रूप से स्वीकार्य न होना ठहराया गया और दलील यह अभिनिर्धारित करते हुए नामंजूर कर दी गई कि :–

"219. संसद् द्वारा पारित किए गए विधान को केवल सांविधानिक रूप से मान्यताप्राप्त आधारों पर चुनौती दी जा सकती है । साधारणतया, किसी विधान को चुनौती देने का आधार यह है कि क्या विधान-मंडल को विधायी सक्षमता है या क्या विधान संविधान के उपबंधों के अधिकारातीत है । यदि विधान का कोई उपबंध मूल अधिकारों या संविधान के किन्हीं उपबंधों का अतिक्रमण करता है, तो न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का अवलंब लेते हुए ऐसे विधान को अपास्त करने का निश्चित रूप से एक विधिमान्य आधार हो सकता है । किसी विधान को अयुक्तियुक्त होने के कारण भी चुनौती दी जा सकती है यदि वह विधान हमारे संविधान में प्रतिबिम्बित समता के सिद्धांतों का अतिक्रमण करता हो या संविधान के अनुच्छेद 19 के अधीन मूल अधिकारों को निर्बंधित करता हो । किसी विधान को मात्र

---

[1] (2011) 8 एस. सी. सी. 737.

[2] (2011) 9 एस. सी. सी. 286.

[3] (2008) 6 एस. सी. सी. 1.

अयुक्तियुक्तता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती क्योंकि इस बात से स्वतः किसी आधार का गठन नहीं होता है । किसी सांविधानिक संशोधन की विधिमान्यता और सर्वांगीण विधान की विधिमान्यता का विनिश्चय विशुद्ध रूप से सांविधानिक विधि के प्रश्नों के रूप में किया जाना चाहिए । राजस्थान राज्य **बनाम** भारत संघ (1977) 3 एस. सी. सी. 592, पृ. 660, पैरा 149 वाले मामले में इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है" –

'149. .... यदि न्यायालय के समक्ष लाया गया कोई प्रश्न विशुद्ध रूप से एक राजनैतिक प्रश्न है और कोई विधिक या सांविधानिक अधिकार या बाध्यता का अवधारण करना अंतर्वलित नहीं है, तो न्यायालय इसे ग्रहण नहीं करेगा, क्योंकि न्यायालय का सरोकार केवल विधिक अधिकारों और दायित्वों का न्यायनिर्णयन करने से है ।'

278. **के. टी. प्लांटेशन (प्रा.) लि.** बनाम **कर्नाटक राज्य**[1] वाले मामले में एक पश्चात्वर्ती सांविधानिक न्यायपीठ ने रोएरिच और देवीकरणी रोएरिच संपदा (अर्जन और अंतरण) अधिनियम, 1996 की सांविधानिक विधिमान्यता, कर्नाटक भूमि सुधार अधिनियम, 1961 की धारा 110 की विधिक विधिमान्यता राज्य सरकार द्वारा तद्धीन जारी की गई तारीख 8 मार्च, 1994 की अधिसूचना सं. आर. डी. 217 एल. आर. ए. 93 और संविधान के अनुच्छेद 300क की व्याप्ति और अंतर्वस्तु पर विचार किया था । एक ऐसे विधान की विधिमान्यता की परीक्षा करते हुए, जो व्यक्ति को अनुच्छेद 300क के अधीन संपत्ति से वंचित करता है, इस न्यायालय के समक्ष जब **मेक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाला मामला रखा गया तो यह उल्लेख किया कि :–

"203. यहां तक कि **मैक्डोवेल** (1996) 3 एस. सी. सी. 709 वाले मामले में भी यह उल्लेख किया गया था कि कुछ या अन्य सांविधानिक कमी कानून को अविधिमान्य ठहराने के लिए पर्याप्त हो सकती है । **मेक्डावल** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय की एक तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है –

'43. .... संसद् या इस विषय के लिए राज्य विधान-मंडल

---

[1] (2011) 9 एस. सी. सी. 1.

की शक्ति दो प्रकार से निर्बंधित है । संसद् या विधान-मंडल द्वारा बनाई गई विधि को न्यायालयों द्वारा केवल और केवल दो आधारों पर अभिखंडित किया जा सकता है, अर्थात् (1) विधायी सक्षमता की कमी और (2) संविधान के भाग 3 में प्रत्याभूत मूल अधिकारों में से किसी मूल अधिकार का या किसी अन्य सांविधानिक उपबंध का अतिक्रमण होने पर । (3) कोई आधार नहीं है ...। किसी अधिनियमिति को केवल यह कहकर अभिखंडित नहीं किया जा सकता है कि यह मनमानी या अयुक्तियुक्त है । किसी अधिनियम को अविधिमान्य ठहराने के लिए कोई न कोई कमी पाई जानी चाहिए । किसी अधिनियमिति को इस आधार पर अभिखंडित नहीं किया जा सकता कि न्यायालय उसे अन्यायपूर्ण समझता है । संसद् और विधान-मंडल, जो लोगों के प्रतिनिधियों के रूप में संकलित हैं, वे अनुमति रूप लोगों की आवश्यकताओं को जानते हैं और उनसे अभिज्ञ होते हैं तथा यह जानते हैं कि उनके लिए क्या सही है और क्या गलत है । न्यायालय उनकी प्रज्ञा पर निर्णय नहीं सुना सकता है ।'

204. भारत संघ **बनाम** जी. जनायुथम [(1997) 7 एस. सी. सी. 467 = (1997) एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 1806] वाले मामले में इस न्यायालय की दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले को निर्दिष्ट करने के पश्चात् निम्नलिखित मत व्यक्त किया है –

> '22. .... यदि किसी कानून द्वारा अधिरोपित निर्बंधन उस कानून के प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए अननुपातिक या अत्यधिक हैं तो उसे अभिखंडित किया जा सकता है और न्यायालय इस प्रश्न पर विचार कर सकता है कि क्या मूल अधिकार और अधिरोपित किए गए निर्बंधन का संतुलन समुचित है, यह बात भलीभांति स्थिर है ।'

205. अयुक्तियुक्तता, मनमानेपन, आनुपातिकता आदि के अभिवाक् से सदैव व्यक्तिपरकता का तत्व उत्पन्न होता है जिसके आधार पर न्यायालय किसी कानून या किसी कानूनी उपबंध को अभिखंडित नहीं कर सकता है, विशेष रूप से जब संपत्ति का अधिकार एक मूल अधिकार नहीं रह गया है । अन्यथा न्यायालय

अपनी प्रज्ञा को विधान-मंडल की प्रज्ञा पर प्रतिस्थापित करता रहेगा, जो कि हमारे सांविधानिक प्रजातंत्र में अनुज्ञेय नहीं है ।"

279. **नेचुरल रिसोर्सेज एलोकेशन**[1] (2012 का विशेष निर्देश सं. 1) वाले मामले में हाल ही के सांविधानिक न्यायपीठ के विनिश्चय में इस न्यायालय ने मनमानेपन के सिद्धांत पर कुछ विस्तार से विचार किया । न्यायपीठ ने **रायप्पा** (उपर्युक्त), **मेनका गांधी** (उपर्युक्त) और **अजय हासिया** (उपर्युक्त) वाले मामलों को निर्दिष्ट किया (और पैरा 16 से उद्धृत किया जिसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि "...... आक्षेपित विधायी और कार्यपालक कार्रवाई स्पष्ट रूप से मनमानी है और अनुच्छेद 14 में दी गई समता की गारंटी का उल्लंघन करती है ......" ।) न्यायपीठ ने आगे यह मत व्यक्त किया कि "मनमानेपन" और "अयुक्तियुक्तता" को निम्न प्रकार से अंतर-बदल के रूप में प्रयुक्त किया गया है :–

"103. जैसा कि उपर्युक्त से स्पष्ट है 'मनमानापन' और 'अयुक्तियुक्तता' अभिव्यक्तियां अंतर-बदल के रूप में प्रयुक्त की गई हैं और वास्तविकता यह है कि एक को दूसरे के निबंधनों में परिभाषित किया गया है । अभी हाल में, शर्मा ट्रांसपोर्ट **बनाम** आंध्र प्रदेश राज्य (2002) 2 एस. सी. सी. 188 वाले मामले में इस न्यायालय ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है –

'25. .... मनमाना के रूप में वर्णित किए जाने के लिए यह आवश्यक रूप से दर्शित किया जाना चाहिए कि यह युक्तियुक्त नहीं है और स्पष्ट तौर पर मनमाना है । 'मनमाने रूप से' अभिव्यक्ति से अभिप्रेत है : अयुक्तियुक्त तरीके से, अनुचित रूप से या इच्छा के अनुसार नियत या किया जाए, जो चीजों की प्रकृति पर आधारित न हो, जो अयुक्तिसंगत हो, केवल इच्छा पर निर्भर रहते हुए सकारण या निर्णय के अनुसार न किया जाए ।' (पृष्ठ 81 पर)

यह सब कहने के पश्चात् उसने **मेक्डावल** (उपर्युक्त) वाले मामले को निर्दिष्ट करते हुए फिर यह टिप्पणी की कि मनमानेपन के सिद्धांत का कोई

मनमाना प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए । न्यायपीठ ने फिर यह निष्कर्ष निकाला –

---

[1] (2012) 10 एस. सी. सी. 1.

"107. विनिश्चयों की प्रवृत्ति की संवीक्षा से स्पष्ट तौर पर यह दृष्टिगोचर होता है कि राज्य की कार्रवाई चाहे वह पारितोषिक वितरण से संबंधित हो, संविदाएं प्रदान करने या भूमि के आबंटन से संबंधित हों, संविधान के अनुच्छेद 14 की कसौटी पर कसी जानी चाहिए । जैसा कि **मैक्डोवेल** (1996) 3 एस. सी. सी. 709 वाले मामले में कहा गया है कि किसी सांविधानिक कमी का उल्लेख किए बिना किसी विधि को मनमाना होने के कारण अभिखंडित नहीं किया जा सकेगा । इसलिए, राज्य की किसी कार्रवाई की सांविधिनिक कमियों के लिए परीक्षा संविधान के अनुच्छेद 14 के संदर्भ में की जानी चाहिए । कार्रवाई उचित, युक्तियुक्त, अविभेदकारी, स्पष्ट, अननुचित, पक्षपातरहित, भाई-भतीजावाद या कुनबा-परस्ती विहिन, उचित प्रतिस्पर्धा और साम्यपूर्ण व्यवहार की अभिवृद्धि की प्राप्ति की दिशा में होनी चाहिए । यह उन सन्नियमों के अनुरूप होनी चाहिए जो न्यायसंगत, कारणों से अनुप्रमाणित और लोक हित आदि से मार्ग-निर्देशित हों । ये सभी सिद्धांत अनुच्छेद 14 की मूल धारणा में अंतर्निहित हैं । यही भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का आदेश है ।"

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

इस निर्णय का वाचन करने पर यह स्पष्ट है कि इस न्यायालय ने **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले का अर्थ इस प्रतिपादना के लिए एक नजीर होने के रूप में नहीं लगाया था कि विधान को मनमाना होने के कारण कदापि अभिखंडित नहीं किया जा सकता है । वास्तव में, इस न्यायालय ने सभी पूर्ववर्ती निर्णयों, और विशिष्ट रूप से **अजय हासिया** (उपर्युक्त) वाले मामले, जिसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि विधान को इस आधार पर अभिखंडित किया जा सकता है कि यह अनुच्छेद 14 के अधीन "मनमाना" है, को निर्दिष्ट करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि "मनमानेपन" की बात को जब विधान पर लागू किया जाए तो इसे शिथिलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता है । इसके बजाय, न्यायालय ने इस कसौटी में यह मत व्यक्त करते हुए यह बात जोड़ी कि यदि कोई सांविधानिक कमी पाई जाती है, तो अनुच्छेद 14 ऐसी कमी को प्रतिषिद्ध कर देगा । और जब कभी विधान "स्पष्ट तौर पर मनमाना है" तो सांविधानिक कमी स्वयं अनुच्छेद 14 में पाई जाती है, अर्थात् जब यह विधान ऋजु न हो, युक्तियुक्त न हो, विभेदकारी हो, स्पष्ट न हो, स्वेच्छाचारी, पूर्वाग्रहपूर्ण, पक्षपातपूर्ण या भाई-भतीजावादपूर्ण हो और उचित

प्रतिस्पर्धा और साम्यपूर्ण व्यवहार की अभिवृद्धि की प्राप्ति करने वाला न हो । निश्चयात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि यह उन सन्नियमों के संगत होना चाहिए जो तर्कसंगत, सकारण और लोक हित आदि से मार्गदर्शित हों ।

280. **डा. सुब्रमणियम् स्वामी** बनाम **निदेशक केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो**[1] के रूप में संप्रकाशित सांविधानिक न्यायपीठ का एक अन्य विनिश्चय दिल्ली स्पेशल पुलिस ईस्टाबलिशमेंट ऐक्ट, 1946 की धारा 6क को दी गई चुनौती के संबंध में है । इस धारा को विभेदकारी होने और परिणामस्वरूप अनुच्छेद 14 की अतिक्रमणकारी होने के कारण अंततोगत्वा अभिखंडित कर दिया गया था । **डा. सुब्रमणियम् स्वामी** बनाम **निदेशक, केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो** (उपर्युक्त) वाले मामले में, निर्देश आदेश द्वारा सांविधानिक न्यायपीठ को एक विनिर्दिष्ट निर्देश किया गया था, और **अजय हासिया** (उपर्युक्त), **मारडिया केमिकल्स** (उपर्युक्त), **माल्पे विश्वनाथ आचार्य** (उपर्युक्त) और **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामलों सहित कई निर्णयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात्, अन्य बातों के साथ-साथ, यह निर्देश किया गया था कि क्या मनमानापन और अयुक्तियुक्तता अनुच्छेद 14 के अधीन किसी विधान को अविधिमान्य ठहराने वाले आधारों के रूप में उपलब्ध हैं या नहीं ।

इस न्यायालय ने काउंसेल की दलीलों और अनुच्छेद 14 के विभेदकारी पहलू पर कई निर्णयों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया है :–

> "48. **ई. पी. रायप्पा** [ई. पी. रायप्पा **बनाम** तमिलनाडु राज्य (1974) 4 एस. सी. सी. 3 = (1974) एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 165] वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि जो आधारभूत सिद्धांत, अनुच्छेद 14 और 16 दोनों को अनुप्रमाणित करता है, वह समता और विभेद के विरुद्ध निषेध है । इस न्यायालय ने पैरा 85 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया –
>
> > '85. .... सुनिश्चितता के दृष्टिकोण से समता स्वेच्छाचारिता की प्रतिद्वंद्विनी है । वस्तुतः, समता और स्वेच्छाचारिता एक दूसरे के पक्के शत्रु हैं ; इनमें एक तो गणतंत्र के अंदर विधि के शासन से संबद्ध है किंतु दूसरे का संबंध निरंकुश सम्राट के अंहकार और सनक से है । जब कोई

---
[1] (2005) 2 एस. सी. सी. 317.

> कार्य स्वेच्छाचारितापूर्ण हो तो उसमें यह सन्निहित है कि राजनीतिक तर्कणा और संवैधानिक विधि दोनों के ही अनुसार वह असमान है और इसलिए, अनुच्छेद 14 का अतिक्रण करने वाला है और यदि उसका प्रभाव लोक नियोजन से संबंधित किसी विषय पर पड़ता है तो वह अनुच्छेद 16 का भी अतिक्रमण करता है । अनुच्छेद 14 और 16 राज्य के क्रियाकलाप में स्वेच्छाचारिता पर प्रहार करते हैं और ऋजुता तथा व्यवहार की समता को सुनिश्चित करते हैं ।'

न्यायालय का दृष्टिकोण

49. जब विधान-मंडल द्वारा अधिनियमित किसी विधि की संवैधानिक विधिमान्यता को चुनौती दी गई हो, तो न्यायालय को अवश्य यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अधिनियमिति के संवैधानिक होने की सदैव उपधारणा की जाती है और संवैधानिक सिद्धांतों के स्पष्ट उल्लंघन की बात को दर्शित किया जाना चाहिए । न्यायालय द्वारा विधायी प्रक्रिया की मूलभूत प्रकृति और महत्व को मान्यता दिए जाने की आवश्यकता है और विधायी प्रक्रिया को अवश्य सम्यक् आदर और सम्मान दिया जाना चाहिए । जब विधान को असंवैधानिक और संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी होने के कारण चुनौती दिए जाने की ईप्सा की गई हो, तो स्वयं न्यायालय को उस विधान को अविधिमान्य ठहराने के संबंध में अनुच्छेद 14 की उपयोज्यता से संबंधित सिद्धांतों का स्मरण कर लेना चाहिए । विधान को लागू होने वाले और विधान को अविधिमान्य बनाने वाले अनुच्छेद 14 के दो आयाम अब भली-भांति मान्यताप्राप्त हैं और ये हैं – (i) अननुज्ञेय या अविधिमान्य वर्गीकरण पर आधारित विभेद, और (ii) शक्तियों का अत्यधिक प्रत्यायोजन ; कार्यपालिका को दिशा-विहिन और अनियंत्रित शक्तियां सौंपा जाना, चाहे प्रत्यायोजित विधान के रूप में या प्रशासनिक आदेश पारित करने का प्राधिकार सौंप कर और यदि ऐसा सौंपा जाना किसी मार्गदर्शन, नियंत्रण या जांच-पड़ताल रहित है, तो इससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है । न्यायालय द्वारा इस बात को भी ध्यान में रखे जाने की आवश्यकता है कि कोई विधान केवल इस कारण असंवैधानिक नहीं बन जाता है कि इसमें एक अन्य दृष्टिकोण है या क्योंकि और अन्य पद्धति सामाजिक या आर्थिक नीति जैसे किसी मुद्दे पर भी उतनी ही अच्छी या इससे

भी अधिक प्रभावी समझी जा सकती है । यह सुस्थिर है कि न्यायालय इस पर अपने विचार प्रतिस्थापित नहीं करते हैं कि नीति क्या है ।"

चूंकि न्यायालय ने अंततोगत्वा धारा 6क को इस आधार पर अभिखंडित कर दिया कि यह विभेदकारी है, इसलिए उसे निर्दिष्ट किए गए प्रश्नों में से एक प्रश्न पर अर्थात् क्या स्वेच्छाचारिता अनुच्छेद 14 के अधीन विधान को अविधिमान्य ठहराने का आधार हो सकता है, निर्णय सुनाना अनावश्यक हो गया । वास्तव में, न्यायालय ने निर्णय के पैरा 98 में निम्न प्रकार से ऐसा ही कहा है :–

"धारा 6क में अंतर्विष्ट आक्षेपित उपबंध पर विचार करने पर और ऊपर दर्शित कारणों से हम नहीं समझते कि अनुच्छेद 14 के संदर्भ में आक्षेपित उपबंध को चुनौती देते हुए किए गए अन्य आक्षेपों पर विचार करना आवश्यक है ।"

281. तथापि, **बिहार राज्य** बनाम **बिहार डिस्टिलरी लि.**[1], **मध्य प्रदेश राज्य** बनाम **राकेश कोहली**[2], **राजबाला** बनाम **हरियाणा राज्य और अन्य**[3] और **बिनोय विस्वाम** बनाम **भारत संघ**[4] वाले मामलों में **मेक्स्वोवल** (उपर्युक्त) वाले मामले में अनुच्छेद 14 के अधीन विधान को अभिखंडित करने के लिए "मनमानेपन" का अर्थ एक साधन के रूप में प्रयोग करने के लिए आत्यंतिक वर्जन होने के रूप में लगाया गया था । जैसा कि हमारे द्वारा इस निर्णय में पहले ही उल्लेख किया गया है, स्वयं **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले मामले का निर्णय अनवधानता के कारण दिया गया है और समान या उससे ज्यादा संख्या वाली न्यायाधीशों के न्यायपीठ के कई निर्णयों पर ध्यान नहीं दिया गया है तथा इसकी तर्कणा भी अन्यथा दोषपूर्ण है । इसलिए **मैक्डोवेल** (उपर्युक्त) वाले निर्णय का अनुसरण करते हुए दिए गए निर्णय अब सही विधि नहीं है ।

282. संपूर्ण व्याख्या करने के लिए, यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि अधीनस्थ विधान को इस आधार पर अभिखंडित किया जा सकता है कि यह मनमाना है और इसलिए, संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमणकारी है । **सेल्यूलर आपरेटर्स ऐसोसिएशन आफ इंडिया** बनाम

---

[1] (1997) 2 एस. सी. सी. 453.
[2] (2012) 6 एस. सी. सी. 312.
[3] (2016) 2 एस. सी. सी. 445.
[4] (2017) 7 एस. सी. सी. 59.

भारतीय दूरसंचार विनियामक प्राधिकरण[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने पूर्ववर्ती नजीरों को निर्दिष्ट किया और यह अभिनिर्धारित किया :–

"**मूल अधिकारों का अतिक्रमण**

42. हमने पहले ही देखा है कि अधीनस्थ विधान की संवैधानिकता को चुनौती देने के लिए कसौटियों में से एक कसौटी यह है कि अधीनस्थ विधान स्पष्ट रूप से मनमाना नहीं होना चाहिए । साथ ही, यह स्थिर विधि है कि अधीनस्थ विधान को उन आधारों में से किसी के आधार पर चुनौती दी जा सकती है जो सर्वांगीण विधान को चुनौती देने के लिए उपलब्ध हैं । [इंडियन एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स (बम्बई) (प्रा.) लि. **बनाम** भारत संघ (1985) 1 एस. सी. सी. 641 = (1985) एस. सी. सी. (टैक्स) 121, पृ. 689, पैरा 75 वाला मामला देखें]

43. 'प्रकट स्वेच्छाचारिता' की कसौटी इस न्यायालय के दो निर्णयों में भली-भांति स्पष्ट की गई है । **खोडे डिस्टिलरिज** बनाम **कर्नाटक राज्य** (1996) 10 एस. सी. सी. 304 वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है –

'13. हमारे समक्ष अगली दलील यह दी गई है कि संशोधित नियम मनमाने, अयुक्तियुक्त हैं और असम्यक् कठिनाई कारित करते हैं और इसलिए, संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है । भले ही अपीलार्थियों को अनुच्छेद 19(1)(छ) की संरक्षा उपलभ्य न हो, तो भी नियमों में, निःसंदेह, अनुच्छेद 14 का समाधान होना आवश्यक है, जो कि मनमानी कार्रवाई के विरुद्ध एक प्रत्याभूति है । तथापि, ध्यान देने वाली बात यह है कि यहां अनुच्छेद 14 के अधीन जो चुनौती दी जा रही है वह कार्यपालिका नहीं है अपितु प्रत्यायोजित विधान है । मनमानी काईवाई की कसौटियां जो कार्यपालिका कार्रवाइयों पर लागू होती है, वह आवश्यक रूप से प्रत्यायोजित विधान पर लागू नहीं होती है । इसलिए कि प्रत्यायोजित विधान को अभिखंडित किया जा सके, ऐसा विधान प्रकट रूप से मनमाना होना चाहिए ; ऐसी विधि हो जिसके बारे में युक्तियुक्त रूप से यह प्रत्याशा न की जा सकती हो कि वह

[1] (2016) 7 एस. सी. सी. 703.

विधि निर्मित करने की शक्ति से प्रत्यायोजित प्राधिकार से उत्पन्न हुई है । इंडियन ऐक्सप्रेस न्यूज पेपर्स (बम्बई)(प्रा.) लि. **बनाम** भारत संघ [(1985) 1 एस. सी. सी. 841 = (1985) एस. सी. सी. (टैक्स) 121] वाले मामले में इस न्यायालय ने यह कहा कि किसी अधीनस्थ विधान को उतनी उन्मुक्ति नहीं होती है जितनी किसी सक्षम विधान-मंडल द्वारा पारित कानून को होती है । किसी अधीनस्थ विधान को अनुच्छेद 14 के अधीन इस आधार पर प्रश्नगत किया जा सकता है कि यह अयुक्तियुक्त है ; 'अयुक्तियुक्त इस अर्थ में नहीं कि वह युक्तियुक्त नहीं है, अपितु इस अर्थ में कि यह प्रकट रूप से मनमाना है ।' इंग्लैंड में विधि और भारत में विधि के बीच तुलना करते हुए न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया कि इंग्लैंड में न्यायाधीश यह कहेंगे, 'संसद् का कदापि यह आशय नहीं था कि प्राधिकारी ऐसे नियम बनाए ; वे अयुक्तियुक्त और अधिकारातीत हैं ।' भारत में मनमानापन अलग आधार नहीं है चूंकि यह संविधान के अनुच्छेद 14 की वर्जना के अंतर्गत आता है । किंतु अधीनस्थ विधान इतना मनमाना होना चाहिए कि इसे कानून के अनुरूप नहीं कहा जा सके या इससे संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होता हो ।'

44. शर्मा ट्रांसपोर्ट **बनाम** आंध्र प्रदेश राज्य (2002) 2 एस. सी. सी. 188 वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया –

'25. ...... मनमानी कार्रवाई की कसौटियां आवश्यक रूप से प्रत्यायोजित विधान पर लागू नहीं होती हैं । किसी प्रत्यायोजित विधान को मनमाना होने के कारण अभिखंडित करने के लिए यह सिद्ध किया जाना चाहिए कि इसमें प्रकट मनमानापन है । इसे मनमाना वर्णित किए जाने के लिए, यह दर्शित किया जाना आवश्यक है कि यह युक्तियुक्त नहीं है और प्रकट रूप से मनमाना है । 'मनमाने रूप से' अभिव्यक्ति से अभिप्रेत है – अयुक्तियुक्त रीति में, स्वेच्छाचारिता या मनमर्जी से नियत या किया गया, पर्याप्त अवधारित सिद्धांतों के बिना, वस्तुओं की प्रकृति पर आधारित न होना, अतर्कसंगत, तर्कणा या निर्णय के अनुसार नहीं किया गया, मात्र इच्छा पर निर्भर ।'"

(पृष्ठ 736-737 पर)

283. यह ध्यान देने योग्य है कि **इंडियन एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की एक संविधान न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया है कि यह सुस्थिर विधि है कि अधीनस्थ विधान को चुनौती सर्वांगीण विधान के विरुद्ध चुनौती के लिए उपलभ्य आधारों में से किसी आधार पर दी जा सकती है । ऐसी स्थिति में, जब इसे इस आधार पर अनुच्छेद 14 के अधीन चुनौती दी जाती है तो दोनों प्रकार के विधान में कोई तर्कसंगत विभेद नहीं होता है । अतः, उपर्युक्त निर्णयों में अधिकथित प्रकट मनमानेपन की कसौटी अनुच्छेद 14 के अधीन विधान के साथ-साथ अधीनस्थ विधान को अविधिमान्य ठहराने के लिए लागू होगी । इसलिए प्रकट मनमानापन ऐसा कार्य होना चाहिए जो विधान-मंडल द्वारा स्वेच्छाचारिता से अयुक्तिसंगत रूप से और/या पर्याप्त अवधारित सिद्धांत के बिना किया गया हो । इसके अतिरिक्त, जब कोई ऐसा कार्य किया जाता है जो अत्यधिक और अननुपातिक है, तो ऐसा विधान प्रकटतः मनमाना होगा । अतः हमारा यह मत है कि प्रकट मनमानेपन के अर्थ में मनमानापन, जैसा कि हमारे द्वारा ऊपर उल्लेख किया गया है, अनुच्छेद 14 के अधीन विधान को अस्वीकार करने के लिए भी लागू होगा ।

284. प्रस्तुत मामले में, प्रकट मनमानेपन की कसौटी को लागू करने पर यह स्पष्ट है कि तीन तलाक, तलाक का वह रूप है जिसे स्वयमेव कहीं न कहीं एक नवीन प्रथा होना समझा गया है, अर्थात् यह **सुन्नी** में नहीं है और तलाक का अनियमित या विधर्मगामी रूप है । हमने उल्लेख किया है कि फयाजी की पुस्तक में जो शरीयत विधि की हनफी शाखा पर है, जिसमें तलाक के इस रूप को मान्यता दी गई है, विनिर्दिष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह रूप यद्यपि विधिपूर्ण तो है फिर भी यह धर्मोल्लंघक है क्योंकि यह परमात्मा की नाराजगी से ग्रस्त है । वास्तव में, **शमीम आरा** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय ने कई सारी नज़ीरों, जिनमें उच्च न्यायालयों के कतिपय हाल ही के निर्णय भी हैं, निर्दिष्ट करने के पश्चात् निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया है :–

> "13. .... तलाक की सही विधि, जो पवित्र कुरान द्वारा विहित की गई है ; यह है कि तलाक अवश्य ही किसी युक्तियुक्त हेतुक को लेकर दिया जाना चाहिए और इसके पूर्व दो मध्यस्थों

---

[1] [1985] 1 उम. नि. प. 615 = (1985) 1 एस. सी. सी. 641.

[2] (2002) 7 एस. सी. सी. 518.

द्वारा – एक पत्नी के परिवार से और दूसरा पति के परिवार से हो, पति-पत्नी के बीच सुलह कराने के प्रयत्न किए गए हों और यदि प्रयत्न असफल रहते हैं तो तलाक दिया जा सकता है । **रुकैया खातुन** (1981) 1 गुवाहटी एल. आर. 375 वाले मामले में खंड न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया कि तलाक की सही विधि, जो पवित्र कुरान द्वारा विहित की गई है, यह है कि – (i) 'तलाक' अवश्य ही युक्तियुक्त हेतुक के लिए दिया जाना चाहिए ; और (ii) तलाक से पूर्व पति और पत्नी के बीच दो मध्यस्थों द्वारा, जिनमें से एक पत्नी द्वारा अपने परिवार से और दूसरा पति द्वारा अपने परिवार से चयनित किया गया हो, सुलह का प्रयत्न किया गया हो । यदि उनके प्रयत्न असफल रहते हैं तो 'तलाक' दिया जा सकता है । खंड न्यायपीठ ने कलकत्ता और बम्बई उच्च न्यायालयों के मत से विसम्मत अपना मत अभिलिखित किया जिनमें उनकी राय में, सही विधि अधिकथित नहीं की गई है ।

14. हम उच्च न्यायालयों के विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा की गई उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों से सादर सहमत हैं ।

285. इस सच्चाई को ध्यान में रखते हुए कि तीन तलाक तुरंत और अप्रतिसंहरणीय होता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि पति और पत्नी के बीच उनके परिवार के दो मध्यस्थों द्वारा सुलह कराने का कोई प्रयत्न, जो विवाह-बंधन को बचाने के लिए आवश्यक है, किया ही नहीं जा सकता है । **राशीद अहमद** (उपर्युक्त) वाले मामले में प्रिवी कौंसिल द्वारा इसका जो यह अर्थ लगाया गया है कि ऐसा तीन तलाक विधिमान्य है भले ही यह युक्तियुक्त हेतुक के बिना दिया जाता है, **शमीम आरा** (उपर्युक्त) वाले मामले के निर्णय के पश्चात् विधि का यह मत अब मान्य नहीं है । ऐसी स्थिति में, यह स्पष्ट है कि तलाक का यह रूप इस अर्थ में प्रकटतः मनमाना है कि मुस्लिम पुरुष द्वारा विवाह-बंधन को स्वेच्छाचारिता और मनमर्जी से, उसे बचाने के लिए सुलह का कोई प्रयत्न किए बिना, तोड़ा जा सकता है । इसलिए तलाक के इस रूप को अवश्य भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 में अंतर्विष्ट मूल अधिकार का अतिक्रमण करने वाला अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए । अतः, हमारी राय में, 1937 का अधिनियम जहां तक कि यह तीन तलाक को मान्यता देता है और प्रवर्तित करता है, अनुच्छेद 13(1) में "प्रवृत्त विधियां" अभिव्यक्ति के अर्थांतर्गत आता है और जिस सीमा तक यह तीन तलाक को मान्यता देता है और

प्रवर्तित करता है, उस सीमा तक इसे शून्य होने के कारण अवश्य अभिखंडित किया जाना चाहिए । चूंकि हमने 1937 के अधिनियम की धारा 2 को ऊपर उपदर्शित सीमा तक इस संकीर्ण आधार पर शून्य घोषित किया गया है कि यह प्रकट रूप से मनमानी है, इसलिए हमारा निष्कर्ष है कि इन मामलों में विभेद वाले आधार पर, जैसाकि विद्वान् महान्यायवादी (अटर्नी जनरल) और उनका समर्थन करने वालों ने तर्क दिया है, विचार करने की आवश्यकता नहीं है ।

न्यायालय का आदेश

286. उपर्युक्त अभिलिखित विभिन्न मतों को ध्यान में रखते हुए, "तलाक-ए-बिद्दत" तीन तलाक की प्रथा को 3 : 2 के बहुमत से अपास्त किया जाता है ।

तद्नुसार, सभी याचिकाएं निपटाई गई ।

पा./क./अवि/अस./जस./ग्रो.

संसद् के अधिनियम

माल-विक्रय अधिनियम, 1930

(1930 का अधिनियम संख्यांक 3)[1]

[15 मार्च, 1930]

माल के विक्रय से संबंधित विधि को परिभाषित और संशोधित करने के लिए अधिनियम

माल के विक्रय से संबंधित विधि को परिभाषित और संशोधित करना समीचीन है, अतः एतद्द्वारा यह निम्नलिखित रूप में अधिनियमित किया जाता है :–

अध्याय 1

प्रारंभिक

1. **संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारंभ** – (1) यह अधिनियम [2]*** माल विक्रय अधिनियम, 1930 कहा जा सकेगा ।

[3][(2) इसका विस्तार [4][जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय] संपूर्ण भारत पर है ।]

(3) यह जुलाई, 1930 के प्रथम दिन को प्रवृत्त होगा ।

---

[1] यह अधिनियम सिक्किम राज्य पर अधिसूचना सं. का. आ. 645 (अ), तारीख 24-8-1984, भारत का राजपत्र, असाधारण, भाग II, अनुभाग 3(ii) द्वारा 1-9-1984 से प्रवृत्त किया गया ।

इस अधिनियम का विस्तार 1968 के अधिनियम सं. 26 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा पाण्डिचेरी संघ राज्यक्षेत्र पर, 1965 के विनियम सं. 8 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा (1-10-1967) लक्षदीव, मिनीकाय और अमीनदीवी द्वीप समूह पर, 1963 के विनियम सं. 11 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा गोवा, दमन और दीव पर किया गया और 1963 के विनियम सं. 6 की धारा 2 और अनुसूची 1 द्वारा (1-7-1965 से) दादरा और नागर हवेली में प्रवृत्त घोषित किया गया ।

[2] 1963 के अधिनियम सं. 33 की धारा 2 द्वारा "भारतीय" शब्द का लोप किया गया ।

[3] विधि अनुकूलन आदेश, 1950 द्वारा उपधारा (2) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

[4] 1951 के अधिनियम सं. 3 की धारा 3 और अनुसूची द्वारा "भाग ख राज्यों के सिवाय" के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

2. **परिभाषाएं** – इस अधिनियम में, जब तक कोई बात, विषय या संदर्भ में विरुद्ध न हो, –

(1) "क्रेता" से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जो माल का क्रय करता है या क्रय करने का करार करता है ;

(2) "परिदान" से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को कब्जे का स्वेच्छया अन्तरण अभिप्रेत है;

(3) माल का "परिदेय स्थिति" में होना तब कहा जाता है जबकि वह ऐसी स्थिति में हो कि क्रेता उसका परिदान लेने के लिए संविदा के अधीन आबद्ध हो;

(4) "माल पर हक की दस्तावेज" के अन्तर्गत वहनपत्र, डाक-वारण्ट, भाण्डागारिक प्रमाणपत्र, घाटवाल का प्रमाणपत्र, रेल-रसीद [1][बहुविध परिवहन दस्तावेज], माल के परिदान के लिए वारण्ट या आदेश और ऐसी अन्य कोई भी दस्तावेज आती है जिसका कारबार के मामूली अनुक्रम में उपयोग माल पर कब्जे या नियंत्रण के सबूत के रूप में किया जाता है या जो उस दस्तावेज पर कब्जा रखने वाले व्यक्ति को वह माल जिसके बारे में वह दस्तावेज है अन्तरित या प्राप्त करने के लिए, या तो पृष्ठांकन द्वारा या परिदान द्वारा, प्राधिकृत करती है या प्राधिकृत करने वाली तात्पर्यित है;

(5) "कसूर" से सदोष कार्य या व्यतिक्रम अभिप्रेत है;

(6) "भावी माल" से वह माल अभिप्रेत है जिसे विक्रय की संविदा करने के पश्चात् विक्रेता को विनिर्मित या उत्पादित या अर्जित करना है;

(7) "माल" से अनुयोज्य दावों और धन से भिन्न हर किस्म की जंगम सम्पत्ति अभिप्रेत है, तथा इसके अन्तर्गत आते हैं स्टाक और अंश, उगती फसलें, घास और भूमि से बद्ध या उसकी भागरूप ऐसी चीजें जिनका विक्रय से पूर्व या विक्रय की संविदा के अधीन भूमि से पृथक् किए जाने का करार किया गया हो;

(8) वह व्यक्ति "दिवालिया" कहलाता है जिसने कारबार के मामूली अनुक्रम में अपने ऋणों का संदाय बन्द कर दिया हो या जो

---

[1] 1993 के अधिनियम सं. 28 की धारा 31 और अनुसूची द्वारा (16-10-1992 से) अंतःस्थापित ।

अपने ऋणों का, जैसे-जैसे वे शोध्य होते जाएं संदाय न कर सकता हो, चाहे उसने दिवालिएपन का कोई कार्य किया हो या नहीं;

(9) "वाणिज्यिक अभिकर्ता" से ऐसा वाणिज्यिक अभिकर्ता अभिप्रेत है जो ऐसा अभिप्रेत होने के नाते कारबार के रूढ़िक अनुक्रम में या तो माल के विक्रय का या विक्रय के प्रयोजनों के लिए माल के परेषण का या माल के क्रय का या माल की प्रतिभूति पर धन खड़ा करने का प्राधिकार रखता हो;

(10) "कीमत" से वह प्रतिफल अभिप्रेत है जो माल के विक्रय का धन के रूप में है;

(11) "संपत्ति" से माल में की साधारण संपत्ति, न कि केवल कोई विशेष संपत्ति अभिप्रेत है;

(12) "माल की क्वालिटी" के अंतर्गत उसकी स्थिति या दशा भी आती है;

(13) "विक्रेता" से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जो माल का विक्रय करता है या विक्रय करने का करार करता है;

(14) "विनिर्दिष्ट माल" से वह माल अभिप्रेत है जो उस समय, जब विक्रय की संविदा की जाती है, परिलक्षित और करारित किया जाता है ; तथा

(15) उन पदों के जो इस अधिनियम में प्रयुक्त किए गए हैं किन्तु परिभाषित नहीं हैं और भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 (1872 का 9) में परिभाषित हैं, वे ही अर्थ हैं जो उन्हें उस अधिनियम में समनुदिष्ट हैं ।

3. **1872 के अधिनियम 9 के उपबंधों का लागू होना** – भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 के अनिरसित उपबंध, वहां तक के सिवाय जहां तक कि वे इस अधिनियम के अभिव्यक्त उपबंधों से असंगत हैं, माल के विक्रय की संविदाओं को लागू होते रहेंगे ।

अध्याय 2

संविदा की विरचना

विक्रय की संविदा

4. **विक्रय और विक्रय करने का करार** – (1) माल के विक्रय की

संविदा ऐसी संविदा है जिसके द्वारा विक्रेता माल में की संपत्ति क्रेता को कीमत पर अन्तरित करता है या अन्तरित करने का करार करता है । एक भागिक स्वामी और दूसरे भागिक स्वामी के बीच विक्रय की संविदा हो सकेगी ।

(2) विक्रय की संविदा आत्यन्तिक या सशर्त हो सकेगी ।

(3) जहां कि माल में की संपत्ति विक्रेता से क्रेता को विक्रय की संविदा के अधीन अन्तरित होती है वहां संविदा विक्रय कहलाती है, किन्तु जहां कि माल में की संपत्ति का अन्तरण किसी आगामी समय में या किसी ऐसी शर्त के अध्यधीन होना है जो तत्पश्चात् पूरी की जानी है वहां संविदा विक्रय करने का करार कहलाती है ।

(4) विक्रय करने का करार तब विक्रय हो जाता है जब वह समय बीत जाता है या वे शर्तें पूरी हो जाती हैं जिनके अध्यधीन माल में की संपत्ति अन्तरित होनी है ।

संविदा की प्ररूपिताएं

5. **विक्रय की संविदा कैसे की जाती है** – (1) विक्रय की संविदा कीमत पर माल का क्रय या विक्रय करने की प्रस्थापना और उस प्रस्थापना के प्रतिग्रहण द्वारा की जाती है । संविदा माल के तुरन्त परिदान के या कीमत के तुरन्त संदाय के या उन दोनों के लिए अथवा किस्तों में परिदान या संदाय के लिए अथवा इस बात के लिए कि परिदान या संदाय या दोनों मुल्तवी रहेंगे, उपबंध कर सकेगी ।

(2) किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के उपबंधों के अध्यधीन यह है कि विक्रय की संविदा लिखित या वाचिक या भागतः लिखित और भागतः वाचिक तौर पर की जा सकेगी अथवा पक्षकारों के आचरण से विवक्षित हो सकेगी ।

संविदा की विषय-वस्तु

6. **वर्तमान या भावी माल** – (1) वह माल जो विक्रय की संविदा का विषय हो या तो ऐसा वर्तमान माल हो सकेगा जो विक्रेता के स्वामित्व या कब्जे में हो या भावी माल हो सकेगा ।

(2) उस माल के विक्रय के लिए संविदा हो सकेगी जिसका क्रेता द्वारा अर्जन ऐसी अनिश्चित घटना पर अवलम्बित हो जो घटित हो या न हो ।

(3) जहां कि विक्रय की संविदा द्वारा विक्रेता का भावी माल का

साम्प्रतिक विक्रय करना तात्पर्यित है वहां वह संविदा उस माल का विक्रय करने के करार के रूप में प्रवृत्त होती है ।

7. **संविदा की जाने के पूर्व माल का नष्ट होना** – जहां कि संविदा विनिर्दिष्ट माल के विक्रय के लिए है, वहां यदि विक्रेता के ज्ञान के बिना वह माल उस समय, जब संविदा की गई थी, नष्ट हो गया था या इतना नुकसानग्रस्त हो गया था कि वह संविदा में के अपने वर्णन के अनुरूप नहीं रह गया था, तो संविदा शून्य है ।

8. **विक्रय के पूर्व किन्तु विक्रय करने के करार के पश्चात् माल का नष्ट हो जाना** – जहां कि करार विनिर्दिष्ट माल के विक्रय का है और तत्पश्चात् इसके पूर्व कि जोखिम क्रेता को संक्रान्त हो वह माल क्रेता या विक्रेता की तरफ के किसी कसूर के बिना नष्ट हो जाता है या इतना नुकसानग्रस्त हो जाता है कि वह करार में के अपने वर्णन के अनुरूप नहीं रह जाता वहां करार तद्द्वारा शून्य हो जाता है ।

कीमत

9. **कीमत अभिनिश्चित करना** – (1) विक्रय की संविदा में की कीमत उस संविदा द्वारा नियत की जा सकेगी या तद्द्वारा करारित रीति से नियत किए जाने के लिए छोड़ी जा सकेगी, या पक्षकारों के बीच की व्यवहार-चर्या द्वारा अवधारित की जा सकेगी ।

(2) जहां कि कीमत पूर्वगामी उपबंधों के अनुसार अवधारित नहीं की गई है, वहां क्रेता विक्रेता को युक्तियुक्त कीमत देगा । युक्तियुक्त कीमत क्या है, यह तथ्य का प्रश्न है जो हर विशिष्ट मामले की परिस्थितियों पर अवलम्बित है ।

10. **मूल्यांकन पर विक्रय करने का करार** – (1) जहां कि इस निबन्धन पर माल का विक्रय करने का करार है कि कीमत किसी पर-व्यक्ति के मूल्यांकन द्वारा नियत की जानी है और ऐसा पर-व्यक्ति मूल्यांकन नहीं कर सकता या नहीं करता, वहां वह करार तद्द्वारा शून्य हो जाता है :

परन्तु यदि वह माल या उसका कोई भाग क्रेता को परिदत्त कर दिया गया हो और उसके द्वारा विनियोजित कर लिया गया हो, तो वह उसके लिए युक्तियुक्त कीमत देगा ।

(2) जहां कि विक्रेता या क्रेता के कसूर से ऐसा पर-व्यक्ति मूल्यांकन

करने से निवारित हो जाता है, वहां जिस पक्षकार का कसूर नहीं है वह उस पक्ष के विरुद्ध जिसका कसूर है नुकसानी के लिए वाद ला सकेगा ।

शर्तें और वारंटियां

11. **समय के बारे में अनुबंध** – जब तक कि उस संविदा के निबंधनों से कोई भिन्न आशय प्रतीत न होता हो, संदाय के समय के बारे में अनुबंध विक्रय की संविदा के मर्म नहीं समझे जाते । समय के बारे में कोई अन्य अनुबंध उस संविदा का मर्म है या नहीं, यह बात उस संविदा के निबंधनों पर अवलंबित होती है ।

12. **शर्तें और वारंटी** – (1) विक्रय की संविदा में कोई अनुबंध जो उस माल के बारे में हो जो उस संविदा का विषय है शर्त या वारंटी हो सकेगा ।

(2) शर्त संविदा के मुख्य प्रयोजन के लिए मर्मभूत वह अनुबंध है जिसका भंग उस संविदा को निराकृत मानने का अधिकार पैदा करता है ।

(3) वारंटी संविदा के मुख्य प्रयोजन का सांपार्श्विक अनुबंध है जिसका भंग नुकसानी के लिए दावा पैदा करता है किन्तु माल को प्रतिक्षेपित करने और संविदा को निराकृत मानने का अधिकार पैदा नहीं करता ।

(4) विक्रय की संविदा में कोई अनुबंध शर्त है या वारंटी, यह बात हर एक मामले में उस संविदा के अर्थान्वयन पर अवलंबित होती है । अनुबंध शर्त हो सकता है, यद्यपि संविदा में उसे वारंटी कहा गया हो ।

13. **शर्त कब वारंटी मानी जा सकेगी** – (1) जहां कि विक्रय की संविदा किसी ऐसी शर्त के अध्यधीन है जिसकी पूर्ति विक्रेता द्वारा की जानी है, वहां क्रेता उस शर्त का अधित्यजन कर सकेगा अथवा यह निर्वाचन कर सकेगा कि शर्त के भंग को वारंटी का भंग न कि संविदा को निराकृत मानने का आधार, माने ।

(2) जहां कि विक्रय की संविदा विभाजनीय नहीं है और क्रेता ने माल को या उसके भाग को प्रतिगृहीत कर लिया है [1]*** वहां क्रेता द्वारा पूरी की जाने वाली किसी शर्त का भंग केवल वारंटी का भंग न कि माल को प्रतिक्षेपित करने का और संविदा को निराकृत मानने का आधार, माना जा

---

[1] 1963 के अधिनियम सं. 33 की धारा 3 द्वारा कतिपय शब्दों का लोप किया गया ।

सकेगा, जब तक कि संविदा में कोई तत्प्रभावी अभिव्यक्त या विवक्षित निबंधन न हो ।

(3) इस धारा की कोई भी बात किसी ऐसी शर्त या वारंटी के मामले पर प्रभाव न डालेगी जिसे पूरा करने से माफी उसकी असंभवता के कारण या अन्यथा विधि द्वारा प्रदत्त हो ।

14. **हक आदि के बारे में विवक्षित परिवंचन** – विक्रय की संविदा में, जब तक कि संविदा की परिस्थितियां ऐसी न हों कि भिन्न आशय दर्शित होता हो –

(क) विक्रेता की तरफ से विक्रय की दशा में यह विवक्षित शर्त रहती है कि उसे माल के विक्रय का अधिकार है और विक्रय करने के करार की दशा में यह विवक्षित शर्त रहती है कि उसे उस माल के विक्रय का अधिकार उस समय रहेगा जब सम्पत्ति संक्रांत होनी है;

(ख) यह विवक्षित वारण्टी रहती है कि क्रेता को उस माल का निर्बाध कब्जा प्राप्त होगा और वह ऐसे कब्जे का उपभोग करेगा;

(ग) यह विवक्षित वारण्टी रहती है कि माल किसी पर-व्यक्ति के पक्ष में किए गए किसी ऐसे भार या विल्लंगम् से मुक्त रहेगा जो क्रेता को संविदा किए जाने के पूर्व या किए जाने के समय घोषित नहीं किया गया था या ज्ञात न था ।

15. **वर्णनानुसार विक्रय** – जहां कि संविदा वर्णनानुसार माल के विक्रय के लिए हो वहां यह विवक्षित शर्त रहती है कि माल वर्णन के अनुरूप होगा और यदि विक्रय नमूने और वर्णन दोनों के अनुसार हो तो माल के प्रपुंज का नमूने के अनुरूप होना पर्याप्त नहीं है जब तक कि माल वर्णन के अनुरूप भी न हो ।

16. **क्वालिटी या योग्यता के बारे में विवक्षित शर्तें** – इस अधिनियम के और किसी अन्य तत्समय प्रवृत्त विधि के उपबंधों के अध्यधीन यह है कि जिस माल का प्रदाय विक्रय की संविदा के अधीन किया गया है उसकी क्वालिटी के बारे में या किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए उसकी योग्यता के बारे में कोई विवक्षित वारण्टी या शर्त निम्नलिखित के सिवाय नहीं रहती है –

(1) जहां कि क्रेता वह विशिष्ट प्रयोजन, जिसके लिए माल अपेक्षित है, विक्रेता को अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से इस प्रकार ज्ञात करा देता है कि उससे यह दर्शित हो कि विक्रेता के कौशल या

विवेकबुद्धि पर क्रेता भरोसा कर रहा है और माल उस वर्णन का है, जिस वर्णन के माल का प्रदाय विक्रेता के कारबार के अनुक्रम में है (चाहे विक्रेता उसका विनिर्माता या उत्पादक हो या नहीं), वहां यह विवक्षित शर्त होती है कि माल ऐसे प्रयोजन के लिए युक्तियुक्ततः योग्य होगा :

परन्तु विनिर्दिष्ट चीज के पेटेन्ट-नाम या अन्य व्यापार नाम से विक्रय की संविदा की दशा में उस चीज के किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए योग्य होने के बारे में कोई विवक्षित शर्त नहीं होती ।

(2) जहां कि माल का ऐसे विक्रेता से वर्णनानुसार क्रय किया जाता है जो उस वर्णन के माल का व्यापार करता है (चाहे वह उसका विनिर्माता या उत्पादक हो या नहीं), वहां यह विवक्षित शर्त होती है कि माल वाणिज्यिक क्वालिटी का होगा :

परन्तु यदि क्रेता ने माल की परीक्षा कर ली है तो उन त्रुटियों के बारे में जो ऐसी परीक्षा से प्रकट हो जानी चाहिए थी कोई विवक्षित शर्त नहीं होगी ।

(3) क्वालिटी के बारे में या विशिष्ट प्रयोजन के लिए योग्य होने के बारे में विवक्षित वारंटी या शर्त व्यापार की प्रथा द्वारा उपाबद्ध हो सकेगी ।

(4) अभिव्यक्त वारंटी या शर्त इस अधिनियम द्वारा विवक्षित वारंटी या शर्त का नकार नहीं करती जब तक कि वह उससे असंगत न हो ।

17. **नमूने के अनुसार विक्रय** – (1) विक्रय की संविदा वहां नमूने के अनुसार विक्रय के लिए होती है जहां कि संविदा में तत्प्रभावी अभिव्यक्त या विवक्षित निबंधन हो ।

(2) नमूने के अनुसार विक्रय के लिए संविदा की दशा में यह विवक्षित शर्त रहती है –

(क) कि माल का प्रपुंज क्वालिटी में नमूने के सदृश्य होगा;

(ख) कि क्रेता को माल के प्रपुंज का नमूने से मिलान करने का युक्तियुक्त अवसर प्राप्त होगा;

(ग) कि माल उसे अवाणिज्यिक बना देने वाली किसी ऐसी त्रुटि से मुक्त होगा जो नमूने की युक्तियुक्त परीक्षा से प्रकट न होती हो ।

अध्याय 3

संविदा के प्रभाव

विक्रेता और क्रेता के बीच संपत्ति का अन्तरण

18. **माल को अभिनिश्चित करना होगा** – जहां कि संविदा अभिनिश्चित माल के विक्रय के लिए है वहां यदि और जब तक माल अभिनिश्चित नहीं कर लिया जाता, माल में की कोई सम्पत्ति क्रेता को अन्तरित नहीं होती ।

19. **सम्पत्ति तब संक्रांत होती है जब उसका संक्रांत होना आशयित हो** – (1) जहां कि संविदा विनिर्दिष्ट या अभिनिश्चित माल के विक्रय के लिए है वहां उस माल में की सम्पत्ति क्रेता को उस समय अन्तरित होती है जिस समय उसका अन्तरित किया जाना उस संविदा के पक्षकारों द्वारा आशयित हो ।

(2) संविदा के निबन्धन, पक्षकारों का आचरण और मामले की परिस्थितियां पक्षकारों के आशय को अभिनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए ध्यान में रखी जाएंगी ।

(3) जब तक कि भिन्न आशय प्रतीत न हो, उस समय के बारे में जिस पर माल में की सम्पत्ति क्रेता को संक्रांत होनी है, पक्षकारों के आशय के अभिनिश्चयन के लिए नियम वे नियम हैं जो धारा 20 से लेकर 24 तक में अन्तर्विष्ट हैं ।

20. **परिदेय स्थिति में विनिर्दिष्ट माल** – जहां कि संविदा परिदेय स्थिति के विनिर्दिष्ट माल के विक्रय के लिए है वहां उस माल में की संपत्ति क्रेता को उस समय संक्रान्त होती है जब संविदा की जाती है, और यह तत्वहीन है कि कीमत के संदाय का समय या माल के परिदान के समय या दोनों मुल्तवी कर दिए गए हैं ।

21. **विनिर्दिष्ट माल का परिदेय स्थिति में लाया जाना** – जहां कि संविदा विनिर्दिष्ट माल के विक्रय के लिए है और विक्रेता माल को परिदेय स्थिति में लाने के प्रयोजन से माल के प्रति कुछ करने के लिए आबद्ध है, वहां सम्पत्ति तब तक संक्रान्त नहीं होती जब तक वह कर नहीं दिया जाता और क्रेता को उसकी सूचना नहीं हो जाती ।

22. **परिदेय स्थिति में विनिर्दिष्ट माल, जब कि उसकी कीमत**

अभिनिश्चित करने के लिए उसके प्रति विक्रेता को कुछ करना है – जहां कि संविदा परिदेय स्थिति के विनिर्दिष्ट माल के विक्रय के लिए है किन्तु विक्रेता कीमत अभिनिश्चित करने के प्रयोजन से माल को तोलने, मापने, परखने या उसके बारे में कोई अन्य कार्य या बात करने के लिए आबद्ध है वहां, सम्पत्ति तब तक संक्रान्त नहीं होती जब तक वह कार्य या बात नहीं कर दी जाती और क्रेता को उसकी सूचना नहीं हो जाती ।

23. **अनभिनिश्चित माल का विक्रय और विनियोग** – (1) जहां कि अनभिनिश्चित या भावी माल के वर्णनानुसार विक्रय की संविदा है और ऐसा माल जो उस वर्णन का और परिदेय स्थिति में है या तो क्रेता की अनुमति से विक्रेता द्वारा या विक्रेता की अनुमति से क्रेता द्वारा संविदा मद्दे अशर्त विनियोजित कर दिया जाता है वहां तदुपरि माल में की सम्पत्ति क्रेता को संक्रान्त हो जाती है । ऐसी अनुमति अभिव्यक्त या विवक्षित हो सकेगी और विनियोग किए जाने के पूर्व या पश्चात् दी जा सकेगी ।

(2) **वाहक को परिदान** – जहां कि संविदा के अनुसरण में विक्रेता क्रेता को अथवा क्रेता को माल पारेषित किए जाने के प्रयोजन से वाहक को या अन्य उपनिहिती को (चाहे वह क्रेता द्वारा नामित हो या न हो) माल का परिदान कर देता है और व्ययन का अधिकार आरक्षित नहीं रखता वहां यह समझा जाएगा कि उसने संविदा मद्दे उस माल का अशर्त विनियोग कर दिया है ।

24. **अनुमोदनार्थ अथवा "विक्रय या वापसी के लिए" भेजा गया माल** – जब कि क्रेता को माल अनुमोदनार्थ अथवा "विक्रय या वापसी के लिए" या ऐसे ही अन्य निबन्धनों पर परिदत्त किया जाता है तब माल में की सम्पत्ति का क्रेता को संक्रामण –

(क) उस समय होता है जब वह अपना अनुमोदन या प्रतिग्रहण विक्रेता को संज्ञापित करता है या उस संव्यवहार को अंगीकार करने का कोई अन्य कार्य करता है;

(ख) उस दशा में जब कि वह अपना अनुमोदन या प्रतिग्रहण विक्रेता को संज्ञापित नहीं करता किन्तु प्रतिक्षेप की सूचना दिए बिना माल को प्रतिधारित रखता है, यदि माल की वापसी के लिए कोई समय नियत किया गया हो तो उस समय के अवसान पर होता है, और यदि कोई समय नियत नहीं किया गया हो तो युक्तियुक्त समय के अवसान पर होता है ।

25. **व्ययन के अधिकार का आरक्षण** – (1) जहां कि संविदा विनिर्दिष्ट माल के विक्रय के लिए है या जहां कि माल संविदा मद्दे तत्पश्चात् विनियोजित कर दिया जाता है वहां विक्रेता उस माल के व्ययन का अधिकार संविदा या विनियोग के निबन्धनों द्वारा तब तक के लिए आरक्षित रख सकेगा जब तक अमुक शर्तें पूरी नहीं हो जातीं । ऐसी दशा में इस बात के होते हुए भी कि माल का परिदान क्रेता को, या क्रेता को उसका पारेषण करने के प्रयोजन से वाहक को या अन्य उपनिहिती को, कर दिया गया है, माल में की सम्पत्ति क्रेता को तब तक संक्रान्त नहीं होती जब तक विक्रेता द्वारा लगाई गई शर्तें पूरी नहीं हो जाती ।

[1][(2) जहां कि माल पोत द्वारा भेजा जाता है या रेल द्वारा वहन किए जाने के लिए रेल-प्रशासन को परिदत्त किया जाता है और, यथास्थिति, वहन-पत्र या रेल-रसीद पर माल विक्रेता के या उसके अभिकर्ता के आदेशानुसार परिदेय है, वहां प्रथमदृष्ट्या यह समझा जाता है कि विक्रेता ने व्ययन का अधिकार आरक्षित कर लिया है ।

(3) जहां कि माल का विक्रेता क्रेता पर कीमत के लिए विनिमय-पत्र लिखता है और विनिमय-पत्र, यथास्थिति, वहन-पत्र या रेल-रसीद के साथ क्रेता को इस दृष्टि से पारेषित करता है कि विनिमय-पत्र प्रतिगृहीत कर लिया जाए या उसका भुगतान कर दिया जाए वहां यदि क्रेता विनिमय-पत्र का आदरण नहीं करता तो वह उस वहन-पत्र या रेल-रसीद को लौटाने के लिए आबद्ध है और यदि वह उस वहन-पत्र या रेल-रसीद को सदोष प्रतिधारित करता है तो माल में की संपत्ति उसको संक्रांत नहीं होती ।

स्पष्टीकरण – इस धारा में "रेल" और "रेल-प्रशासन" पदों के वे ही अर्थ होंगे जो भारतीय रेल अधिनियम, 1890 (1890 का 9) में उन्हें क्रमश: समनुदिष्ट हैं ।]

26. **जोखिम प्रथमदृष्ट्या संपत्ति के साथ संक्रांत हो जाती है** – जब तक कि अन्यथा करारित न हो माल तब तक विक्रेता की जोखिम पर रहता है जब तक उसमें की संपत्ति क्रेता को अंतरित नहीं हो जाती ; किन्तु जब उसमें की संपत्ति क्रेता को अंतरित हो जाती है तब चाहे परिदान किया गया हो या नहीं, माल क्रेता की जोखिम पर रहता है :

---

[1] 1963 के अधिनियम सं. 33 की धारा 4 द्वारा उपधारा (2) और उपधारा (3) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

परन्तु जहां कि परिदान क्रेता या विक्रेता के कसूर से विलम्बित हो गया है वहां माल ऐसी किसी हानि की बाबत, जो ऐसे कसूर के अभाव में न हुई होती, उस पक्षकार की जोखिम पर रहता है जिसका कसूर हो :

परन्तु यह और भी कि इस धारा की कोई भी बात क्रेता या विक्रेता के उन कर्तव्यों या दायित्वों पर प्रभाव न डालेगी जो दूसरे पक्षकार के माल के उपनिहिती के नाते उसके हैं ।

हक का अन्तरण

27. **उस व्यक्ति द्वारा विक्रय जो स्वामी नहीं है** – इस अधिनियम और किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के उपबन्धों के अध्यधीन यह है कि जहां कि माल ऐसे व्यक्ति द्वारा बेचा जाता है जो उसका स्वामी नहीं है और जो स्वामी के प्राधिकार के अधीन या सम्मति से उसे नहीं बेचता वहां क्रेता उस माल पर उस हक से, जो विक्रेता का था, बेहतर हक नहीं अर्जित करता, जब तक कि माल का स्वामी विक्रेता के विक्रय-प्राधिकार का प्रत्याख्यान करने से अपने आचरण द्वारा प्रवारित नहीं हो जाता :

परन्तु जहां कि वाणिज्यिक अभिकर्ता माल पर या माल पर हक की दस्तावेज पर स्वामी की सम्मति से कब्जा रखता है वहां जब वह वाणिज्यिक अभिकर्ता के कारबार के मामूली अनुक्रम में कार्य कर रहा हो, उसके द्वारा किया गया कोई भी विक्रय वैसा ही विधिमान्य होगा मानो माल के स्वामी द्वारा वह ऐसा करने के लिए अभिव्यक्ततः प्राधिकृत हो :

परन्तु यह तब जब कि क्रेता सद्भावपूर्वक कार्य करे और विक्रय की संविदा के समय उसे यह सूचना न हो कि विक्रेता को विक्रय-प्राधिकार नहीं है ।

28. **संयुक्त स्वामियों में से एक द्वारा विक्रय** – यदि माल के कई संयुक्त स्वामियों में से एक का उस माल पर एकमात्रिक कब्जा सहस्वामियों की अनुज्ञा से है तो उस माल में की सम्पत्ति ऐसे किसी व्यक्ति को अन्तरित हो जाती है जो ऐसे संयुक्त स्वामी से उसे सद्भावपूर्वक क्रय करे और जिसे विक्रय की संविदा के समय यह सूचना न हो कि विक्रेता को विक्रय-प्राधिकार नहीं है ।

29. **शून्यकरणीय संविदा के अधीन कब्जा रखने वाले व्यक्ति द्वारा विक्रय** – जब कि माल के विक्रेता ने भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 (1872 का 9) की धारा 19 या 19क के अधीन शून्यकरणीय संविदा के अधीन उस पर कब्जा अभिप्राप्त किया है किन्तु वह संविदा विक्रय के समय

विखण्डित नहीं हो चुकी है, तब क्रेता उस माल पर अच्छा हक अर्जित कर लेता है; परन्तु यह तब जब कि वह उसे सद्भावपूर्वक और विक्रेता के हक की त्रुटि की सूचना के बिना क्रय करे ।

30. **विक्रय के पश्चात् विक्रेता या क्रेता का कब्जा रहना** – (1) जहां कि किसी व्यक्ति के माल का विक्रय कर देने पर भी उस माल पर या उस माल पर हक की दस्तावेजों पर कब्जा बना रहता है या होता है वहां उस व्यक्ति द्वारा या उसके लिए कार्य करने वाले वाणिज्यिक अभिकर्ता द्वारा उस माल या हक की दस्तावेजों का किसी विक्रय, गिरवी या अन्य व्ययन के अधीन किसी ऐसे व्यक्ति को किया गया परिदान या अन्तरण जो उसे सद्भावपूर्वक और पूर्वतन विक्रय की सूचना के बिना प्राप्त करता है, वही प्रभाव रखेगा मानो परिदान या अन्तरण करने वाला व्यक्ति माल के स्वामी द्वारा वैसा करने के लिए अभिव्यक्ततः प्राधिकृत था ।

(2) जहां कि कोई व्यक्ति माल का क्रय करके या क्रय करने का करार करके उस माल का या उस माल पर हक की दस्तावेजों का कब्जा विक्रेता की सम्मति से अभिप्राप्त करता है वहां उस व्यक्ति द्वारा या उसके लिए कार्य करने वाले वाणिज्यिक अभिकर्ता द्वारा उस माल का या हक की दस्तावेजों का किसी विक्रय, गिरवी या अन्य व्ययन के अधीन किसी ऐसे व्यक्ति को किया गया परिदान या अन्तरण, जो उसे सद्भावपूर्वक और माल के बारे में मूल विक्रेता के किसी धारणाधिकार या अन्य अधिकार की सूचना के बिना प्राप्त करता है, ऐसा प्रभाव रखेगा मानो ऐसा धारणाधिकार या अधिकार अस्तित्व में था ही नहीं ।

अध्याय 4

संविदा का पालन

31. **विक्रेता और क्रेता के कर्तव्य** – विक्रेता का कर्तव्य है कि माल का परिदान और क्रेता का कर्तव्य है कि उसका प्रतिग्रहण और उसके लिए संदाय विक्रय की संविदा के निबन्धनों के अनुसार करे ।

32. **संदाय और परिदान समवर्ती शर्तें हैं** – जब तक कि अन्यथा करार न हुआ हो माल का परिदान और कीमत का संदाय समवर्ती शर्तें हैं अर्थात् विक्रेता कीमत के विनिमय में माल का कब्जा क्रेता को देने को तैयार और रजामन्द होगा और क्रेता माल के कब्जे के विनिमय में कीमत देने को तैयार और रजामन्द होगा ।

33. **परिदान** – विक्रीत माल का परिदान ऐसा कोई काम करके किया जा सकेगा जिसके बारे में पक्षकारों में करार हो कि वह परिदान माना जाएगा या जो माल पर क्रेता का या उसकी ओर से धारित करने के लिए प्राधिकृत व्यक्ति का कब्जा करा देने का प्रभाव रखता हो ।

34. **भागिक परिदान का प्रभाव** – सम्पूर्ण माल का परिदान चालू रहने के दौरान में माल के भाग का परिदान ऐसे माल में की सम्पत्ति के संक्रमण के प्रयोजन के लिए वही प्रभाव रखता है जो सम्पूर्ण का परिदान; किन्तु माल के भाग का ऐसा परिदान, जो उसे सम्पूर्ण से पृथक् करने के आशय से किया जाए, शेष के परिदान के रूप में प्रवृत्त नहीं होता ।

35. **परिदान के लिए क्रेता आवेदन करे** – कोई अभिव्यक्त संविदा न हो तो, जब तक क्रेता परिदान के लिए आवेदन न करे माल का विक्रेता उसका परिदान करने के लिए आबद्ध नहीं है ।

36. **परिदान विषयक नियम** – (1) यह बात कि माल का कब्जा क्रेता को लेना है या माल क्रेता को विक्रेता द्वारा भेजा जाना है हर मामले में पक्षकारों के बीच अभिव्यक्त या विवक्षित संविदा पर अवलंबित है कोई ऐसी संविदा न हो तो विक्रीत माल का परिदान उस स्थान पर जिसमें यह विक्रय के समय हो और विक्रय करने के लिए करारित माल का परिदान उस स्थान पर जिसमें वह विक्रय करने के करार के समय हो या यदि माल तब अस्तित्व में न हो तो उस स्थान पर, जिसमें वह विनिर्मित या उत्पादित किया जाता है, किया जाएगा ।

(2) जहां कि विक्रय की संविदा के अधीन क्रेता को माल भेजने के लिए विक्रेता आबद्ध हो, किन्तु उसे भेजने के लिए कोई समय नियत न हो वहां विक्रेता उसे युक्तियुक्त समय के अन्दर भेजने के लिए आबद्ध है ।

(3) जहां कि माल विक्रय के समय किसी पर-व्यक्ति के कब्जे में हो, वहां क्रेता को विक्रेता द्वारा परिदान नहीं होता यदि और जब तक ऐसा पर-व्यक्ति क्रेता से यह अभिस्वीकार न कर ले कि वह माल को उसकी ओर से धारित किए हुए है :

परन्तु इस धारा की कोई भी बात माल पर हक की किसी दस्तावेज के प्रदान या अन्तरण के प्रवर्तन पर प्रभाव न डालेगी ।

(4) परिदान की मांग या निविदा, जब तक कि वह युक्तियुक्त समय पर न की जाए, प्रभावहीन मानी जा सकेगी युक्तियुक्त समय क्या है, यह तथ्य का प्रश्न है ।

(5) जब तक कि अन्यथा करार न हो, माल को परिदेय स्थिति में लाने के और तदनुषंगिक व्यय विक्रेता द्वारा उठाए जाएंगे ।

37. **गलत परिमाण का परिदान** – (1) जहां कि विक्रेता उस परिमाण से, जिसके विक्रय की संविदा उसने की थी, कम परिमाण के माल का परिदान क्रेता को करता है वहां क्रेता उसे प्रतिक्षेपित कर सकेगा, किन्तु यदि क्रेता ऐसे परिदत्त माल को प्रतिगृहीत कर लेता है तो वह संविदा-दर से उसके लिए संदाय करेगा ।

(2) जहां कि विक्रेता उस परिमाण से, जिसके विक्रय की संविदा उसने की थी, अधिक परिमाण के माल का परिदान क्रेता को करता है वहां क्रेता उस माल को, जो संविदा के अन्तर्गत है, प्रतिगृहीत कर सकेगा और शेष को प्रतिक्षेपित कर सकेगा अथवा सम्पूर्ण को प्रतिक्षेपित कर सकेगा । यदि क्रेता ऐसे परिदत्त समस्त माल को प्रतिगृहीत कर ले तो वह संविदा-दर से उसके लिए संदाय करेगा ।

(3) जहां कि विक्रेता उस माल को, जिसके विक्रय की उसने संविदा की थी, उससे भिन्न वर्णन के ऐसे माल से, जो संविदा के अन्तर्गत नहीं है, मिश्रित करके परिदत्त करता है वहां क्रेता उस माल को प्रतिगृहीत कर सकेगा जो संविदा के अनुसार है और शेष को प्रतिक्षेपित कर सकेगा, अथवा समस्त को प्रतिक्षेपित कर सकेगा ।

(4) इस धारा के उपबंध व्यापार की प्रथा अथवा पक्षकारों के बीच के विशेष करार या व्यवहार-चर्या के अध्यधीन हैं ।

38. **किस्तों में परिदान** – (1) जब तक कि अन्यथा करार न हो, माल का क्रेता उसका परिदान किस्तों में प्रतिगृहीत करने के लिए आबद्ध नहीं है ।

(2) जहां कि संविदा ऐसे माल के विक्रय के लिए हो जिसका परिदान ऐसी कथित किस्तों में किया जाना है, जिनके लिए संदाय पृथक्-पृथक् किया जाना है और विक्रेता एक या अधिक किस्तों की बाबत कोई परिदान नहीं करता है या त्रुटियुक्त परिदान करता है अथवा क्रेता एक या अधिक किस्तों का परिदान लेने में उपेक्षा या लेने से इंकार या एक या अधिक किस्तों के लिए संदाय करने में उपेक्षा या संदाय करने से इंकार करता है वहां यह प्रश्न हर एक मामले में संविदा के निबन्धनों और मामले की परिस्थितियों पर अवलम्बित होगा कि संविदा का भंग सम्पूर्ण संविदा का निराकरण है या वह उसका ऐसा पृथक्करणीय भंग है, जिससे प्रतिकर के

लिए दावा तो उद्‌भूत होता है किन्तु सम्पूर्ण संविदा को निराकृत मानने का अधिकार नहीं ।

39. **वाहक या घाटवाल को परिदान** – (1) जहां कि विक्रय की संविदा के अनुसरण में विक्रेता को यह प्राधिकार है या उससे यह अपेक्षित है कि वह क्रेता को माल भेजे, वहां उस माल का क्रेता के पास पारेषण करने के प्रयोजन से वाहक को परिदान, चाहे वाहक क्रेता द्वारा नामित हो या न हो, अथवा घाटवाल को सुरक्षित अभिरक्षा के लिए परिदान प्रथमदृष्ट्या उस माल का क्रेता को परिदान समझा जाता है ।

(2) जब तक कि क्रेता द्वारा विक्रेता अन्यथा प्राधिकृत न हो, वह क्रेता की ओर से वाहक से या घाटवाल से ऐसी संविदा करेगा, जो माल की प्रकृति और मामले की अन्य परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए युक्तियुक्त हो । यदि विक्रेता ऐसा करने का लोप करता है और माल अभिवहन के अनुक्रम में, अथवा उस समय, जब वह घाटवाल की अभिरक्षा में है, खो जाता है या नुकसानग्रस्त हो जाता है, तो क्रेता, वाहक या घाटवाल को किया गया परिदान अपने को किया गया परिदान मानने से इंकार कर सकेगा या विक्रेता को नुकसानी के लिए उत्तरदायी ठहरा सकेगा ।

(3) जब तक कि अन्यथा करार न हो, जहां कि विक्रेता द्वारा क्रेता को ऐसे मार्ग से, जिसमें समुद्र अभिवहन अन्तर्वलित है, ऐसी परिस्थितियों में माल भेजा जाता है, जिनमें प्रायः बीमा कराया जाता है, वहां क्रेता को विक्रेता ऐसी सूचना देगा जिससे क्रेता उसके समुद्र अभिवहन के दौरान के लिए उसका बीमा कराने को समर्थ हो सके और यदि विक्रेता ऐसा करने में असफल रहता है तो माल ऐसे समुद्र अभिवहन के दौरान में उसकी जोखिम पर समझा जाएगा ।

40. **जोखिम, जहां कि माल का परिदान दूर के स्थान पर किया जाता है** – जहां कि माल का विक्रेता अपनी ही जोखिम पर उसका परिदान उस स्थान से भिन्न स्थान पर करने का करार करता है जहां वह माल विक्रय के समय है, वहां, ऐसा होते हुए भी क्रेता, जब तक कि अन्यथा करार न हो, उस माल में ऐसे क्षय की जोखिम उठाएगा जो अभिवहन के अनुक्रम में अवश्यमेव हुआ करता है ।

41. **माल की परीक्षा करने का क्रेता का अधिकार** – (1) जहां कि क्रेता को ऐसा माल परिदत्त किया जाता है, जिसकी परीक्षा उसने तत्पूर्व नहीं की है, वहां यह न समझा जाएगा कि उसने उसका प्रतिग्रहण कर

लिया है यदि और जब तक उसे यह अभिनिश्चित करने के प्रयोजन से कि वह संविदा के अनुरूप है या नहीं, उसकी परीक्षा करने का युक्तियुक्त अवसर न मिल गया हो ।

(2) यदि अन्यथा करार न हो, तो जब विक्रेता माल का परिदान क्रेता को निविदत्त करता है तब वह इस बात के लिए आबद्ध है कि यह अभिनिश्चित करने के प्रयोजन से कि माल संविदा के अनुरूप है या नहीं, माल की परीक्षा करने का युक्तियुक्त अवसर, प्रार्थना किए जाने पर, क्रेता को दे ।

42. **प्रतिग्रहण** – क्रेता ने माल को प्रतिगृहीत कर लिया है, यह तब समझा जाता है, जब वह विक्रेता को यह प्रज्ञापित कर देता है कि उसने वह माल प्रतिगृहीत कर लिया है, या जब माल क्रेता को परिदत्त कर दिया गया है और उसने उसके संबंध में ऐसा कोई कार्य किया है जो विक्रेता के स्वामित्व से असंगत है या जब युक्तियुक्त समय के बीत जाने पर भी वह विक्रेता को अपना प्रतिक्षेपण प्रज्ञापित किए बिना माल को प्रतिधारित किए रहता है ।

43. **क्रेता प्रतिक्षेपित माल को वापस करने के लिए आबद्ध नहीं है** – जब तक कि अन्यथा करार न हो, जहां कि क्रेता को माल परिदत्त किया जाता है और वह उसका प्रतिग्रहण करने से इंकार, ऐसा करने का अधिकार रखते हुए, करता है वहां वह उसे विक्रेता को वापस करने के लिए आबद्ध नहीं है, किन्तु यह पर्याप्त होगा कि वह विक्रेता को प्रतिज्ञापित कर दे कि वह उसका प्रतिग्रहण करने से इंकार करता है ।

44. **माल का परिदान लेने में उपेक्षा या लेने से इंकार करने के लिए क्रेता का दायित्व** – जब कि विक्रेता माल का परिदान करने को तैयार और रजामन्द है और क्रेता से परिदान लेने की प्रार्थना करता है और क्रेता ऐसी प्रार्थना के पश्चात् युक्तियुक्त समय के अन्दर उस माल का परिदान नहीं लेता है तब वह विक्रेता के प्रति ऐसी किसी हानि के लिए, जो परिदान लेने में क्रेता द्वारा की गई उपेक्षा या इंकार से हुई है, और माल की देखरेख और अभिरक्षा के युक्तियुक्त प्रभार के लिए भी, दायी है :

परन्तु जहां कि परिदान लेने में क्रेता द्वारा की गई उपेक्षा या इंकार संविदा के निराकरण की कोटि में आता है वहां इस धारा की कोई भी बात विक्रेता के अधिकारों पर प्रभाव न डालेगी ।

अध्याय 5

माल पर असंदत्त विक्रेता के अधिकार

45. **"असंदत्त विक्रेता" की परिभाषा** – (1) माल का विक्रेता इस अधिनियम के अर्थ के अन्दर "असंदत्त विक्रेता" तब समझा जाता है –

(क) जब कि पूरी कीमत संदत्त या निविदत्त न की गई हो;

(ख) जब कि विनिमय-पत्र या अन्य परक्राम्य लिखत सशर्त संदाय के रूप में प्राप्त हुई हो और जिस शर्त पर वह प्राप्त हुई थी वह लिखत के अनादरण के कारण या अन्यथा पूरी न हुई हो ।

(2) इस अध्याय में "विक्रेता" पद के अन्तर्गत ऐसा कोई भी व्यक्ति आता है जो विक्रेता की स्थिति में हो, उदाहरणार्थ विक्रेता का वह अभिकर्ता जिसे वहन-पत्र पृष्ठांकित कर दिया गया है या वह परेषक या अभिकर्ता जिसने कीमत स्वयं दे दी है या जो कीमत के लिए सीधे उत्तरदायी है ।

46. **असंदत्त विक्रेता के अधिकार** – (1) इस अधिनियम के और किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के उपबन्धों के अध्यधीन यह है कि इस बात के होते हुए भी कि माल में की सम्पत्ति क्रेता को संक्रान्त हो गई हो, माल के असंदत्त विक्रेता को उस नाते विधि की विवक्षा से निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं –

(क) माल पर कीमत लेखे तब तक धारणाधिकार जब तक उसका उस पर कब्जा रहता है;

(ख) क्रेता के दिवालिया हो जाने की दशा में, माल अपने कब्जे से अलग कर देने के पश्चात् उसे अभिवहन में रोक देने का अधिकार;

(ग) पुनर्विक्रय का अधिकार, जैसा इस अधिनियम द्वारा परिसीमित है ।

(2) जहां कि माल में की सम्पत्ति क्रेता को संक्रान्त नहीं हुई है वहां असंदत्त विक्रेता को अपने अन्य उपचारों के अतिरिक्त परिदान के विधारण का ऐसा अधिकार प्राप्त है, जो विक्रेता के उस धारणाधिकार और अभिवहन में रोकने के अधिकार के समान और समविस्तीर्ण है जो उसे उस दशा में प्राप्त होता है जब क्रेता को सम्पत्ति संक्रान्त हो जाती है ।

असंदत्त विक्रेता का धारणाधिकार

47. **विक्रेता का धारणाधिकार** – (1) इस अधिनियम के उपबन्धों के

अध्यधीन यह है कि माल का असंदत्त विक्रेता, जिसका कब्जा माल पर है, उस पर निम्नलिखित दशाओं में तब तक कब्जा प्रतिधारित रखने का हकदार है, जब तक कीमत संदत्त या निविदत्त नहीं कर दी जाती, अर्थात् :–

(क) जहां कि माल का विक्रय उधार के बारे में किसी अनुबन्ध के बिना किया गया है;

(ख) जहां कि माल का विक्रय उधार पर किया गया है किन्तु उधार की अवधि का अवसान हो गया है;

(ग) जहां कि क्रेता दिवालिया हो जाता है ।

(2) विक्रेता अपने धारणाधिकार का प्रयोग इस बात के होते हुए भी कर सकेगा कि माल पर उसका कब्जा क्रेता के अभिकर्ता या उपनिहिती के रूप में है ।

48. **भागिक परिदान** – जहां कि असंदत्त विक्रेता ने माल का भागिक परिदान कर दिया है वहां वह अपने धारणाधिकार का प्रयोग शेष पर कर सकेगा, जब तक कि ऐसा भागिक परिदान ऐसी परिस्थितियों में न किया गया हो जो धारणाधिकार के अधित्यजन का करार दर्शित करती हों ।

49. **धारणाधिकार का पर्यवसान** – (1) माल का असंदत्त विक्रेता माल पर अपना धारणाधिकार खो देता है –

(क) जब वह क्रेता के पास पारेषित किए जाने के प्रयोजन से माल को, उसके व्ययन का अधिकार आरक्षित किए बिना, वाहक या अन्य उपनिहिती को परिदत्त कर देता है;

(ख) जब क्रेता या उसका अभिकर्ता माल पर कब्जा विधिपूर्वक अभिप्राप्त कर लेता है;

(ग) उसके अधित्यजन द्वारा ।

(2) माल का असंदत्त विक्रेता, जिसका उस पर धारणाधिकार है, अपना धारणाधिकार केवल इस कारण नहीं खो देता कि उस माल की कीमत के लिए उसने डिक्री अभिप्राप्त कर ली है ।

अभिवहन में रोकना

50. **अभिवहन में रोकने का अधिकार** – इस अधिनियम के उपबन्धों के अध्यधीन यह है कि जब कि माल का क्रेता दिवालिया हो जाए तब असंदत्त विक्रेता, जिसने माल अपने कब्जे से अलग कर दिया है, माल को अभिवहन से रोक देने का अधिकार रखता है, अर्थात् जब तक माल

अभिवहन में रहे वह उस पर फिर कब्जा कर सकेगा और उसे तब तक प्रतिधारित रख सकेगा जब तक कीमत संदत्त या निविदत्त न कर ली जाए ।

51. **अभिवहन की कालावधि** – (1) उस समय से, जब विक्रेता के पास पारेषित किए जाने के प्रयोजन से माल वाहक को या अन्य उपनिहिती को परिदत्त किया जाता है, उस समय तक, जब क्रेता या उसका तन्निमित्त अभिकर्ता उसका परिदान ऐसे वाहक या अन्य उपनिहिती से ले लेता है, माल अभिवहन के अनुक्रम में समझा जाता है ।

(2) यदि क्रेता या उसका तन्निमित्त अभिकर्ता उस माल का परिदान उसके नियत गन्तव्य स्थान पर पहुंचने से पूर्व अभिप्राप्त कर लेता है, तो अभिवहन का अन्त हो जाता है ।

(3) यदि नियत गन्तव्य स्थान पर माल के पहुंचने के पश्चात् वाहक या अन्य उपनिहिती यह बात क्रेता से या उसके अभिकर्ता से अभिस्वीकृत कर ले कि वह माल को क्रेता या उसके अभिकर्ता की ओर से धारण किए हुए है और क्रेता या उसके अभिकर्ता की ओर से उपनिहिती के रूप में उस पर कब्जा बनाए रखे तो अभिवहन का अन्त हो जाता है और यह तत्वहीन है कि क्रेता द्वारा माल के लिए आगे का गन्तव्य स्थान उपदर्शित किया गया हो ।

(4) यदि क्रेता ने माल को प्रतिक्षेपित कर दिया हो, और वाहक या अन्य उपनिहिती उस पर अपना कब्जा बनाए रखे तो, यद्यपि विक्रेता ने उसे वापस लेने से इंकार कर दिया हो, यह नहीं समझा जाता कि अभिवहन का अंत हो गया है ।

(5) जबकि माल का परिदान क्रेता द्वारा भाड़े पर लिए गए पोत को किया जाता है तब यह बात कि माल मास्टर के कब्जे में वाहक के रूप में है या क्रेता के अभिकर्ता के रूप में, एक ऐसा प्रश्न है जो उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियों पर अवलम्बित रहता है ।

(6) जहां कि वाहक या अन्य उपनिहिती माल का परिदान क्रेता को या उसके तन्निमित्त अभिकर्ता को करने से इंकार सदोष करता है वहां अभिवहन का अन्त हुआ समझा जाता है ।

(7) जहां कि क्रेता को या उसके तन्निमित्त अभिकर्ता को माल का भागिक परिदान कर दिया गया है वहां शेष माल अभिवहन में रोका जा सकेगा, जब तक कि ऐसा भागिक परिदान ऐसी परिस्थितियों में न किया गया हो जिनसे यह दर्शित होता हो कि सारे माल पर कब्जा छोड़ देने का

करार है ।

52. **अभिवहन में रोका कैसे जाता है** – (1) असंदत्त विक्रेता अभिवहन में रोकने के अपने अधिकार का प्रयोग या तो माल पर वास्तविक कब्जा करके या जिस वाहक या अन्य उपनिहिती के कब्जे में माल है उसे अपने दावे की सूचना देकर कर सकेगा । ऐसी सूचना या तो उस व्यक्ति को, जिसका उस माल पर वास्तविक कब्जा है, या उसके मालिक को दी जा सकेगी । पश्चात्कथित दशा में सूचना प्रभावी होने के लिए ऐसे समय पर और ऐसी परिस्थितियों में दी जाएगी कि मालिक युक्तियुक्त तत्परता के प्रयोग द्वारा उसे अपने सेवक या अभिकर्ता को इतना समय रहते संसूचित कर सके कि क्रेता को परिदान निवारित किया जा सके ।

(2) जबकि माल को अभिवहन में रोकने की सूचना माल के वाहक या उस पर कब्जा रखने वाले अन्य उपनिहिती को विक्रेता द्वारा दी जाती है तब वह माल का प्रतिपरिदान विक्रेता को या उसके निदेशानुसार करेगा । ऐसे प्रतिपरिदान के व्यय विक्रेता द्वारा उठाए जाएंगे ।

क्रेता और विक्रेता द्वारा अन्तरण

53. **क्रेता द्वारा अनुविक्रय या गिरवी का प्रभाव** – (1) इस अधिनियम के उपबन्धों के अध्यधीन यह है कि माल का कोई भी विक्रय या अन्य व्ययन, जो क्रेता ने किया हो, असंदत्त विक्रेता के धारणाधिकार या अभिवहन में रोकने के अधिकार पर प्रभाव नहीं डालता, जब तक कि विक्रेता ने उसके लिए अपनी अनुमति न दे दी हो :

परन्तु जहां कि माल पर हक की दस्तावेज किसी व्यक्ति को उस माल का क्रेता या स्वामी होने के नाते दी गई है या विधिपूर्वक अन्तरित की गई है और वह व्यक्ति उस दस्तावेज को किसी ऐसे व्यक्ति को अन्तरित कर देता है, जो उस दस्तावेज को सद्भावपूर्वक और प्रतिफलेन लेता है, वहां यदि ऐसा अन्तिम वर्णित अन्तरण विक्रय के रूप में था तो असंदत्त विक्रेता का धारणाधिकार या अभिवहन में रोकने का अधिकार विफल हो जाता है और यदि ऐसा अन्तिम वर्णित अन्तरण गिरवी या अन्य मूल्यार्थ व्ययन के रूप में था तो असंदत्त विक्रेता के धारणाधिकार या अभिवहन में रोकने के अधिकार का प्रयोग उस अन्तरिती के अधिकारों के अध्यधीन ही किया जा सकता है ।

(2) जहां कि अन्तरण गिरवी के रूप में है वहां असंदत्त विक्रेता गिरवीदार से यह अपेक्षा कर सकेगा कि यावत्सम्भव वह गिरवी द्वारा प्रतिभूत

रकम की तुष्टि प्रथमतः क्रेता के ऐसे किसी अन्य माल या प्रतिभूतियों से कराए जो गिरवीदार के हाथों में हो और क्रेता के विरुद्ध काम में लाई जा सकती है ।

54. **धारणाधिकार से या अभिवहन में रोकने से विक्रय का विखंडन साधारणतः नहीं होता** – (1) इस धारा के उपबन्धों के अध्यधीन यह है कि असंदत्त विक्रेता द्वारा अपने धारणाधिकार या अभिवहन में रोकने के अधिकार के प्रयोग मात्र से विक्रय की संविदा का विखण्डन नहीं होता ।

(2) जहां कि माल विनश्वर प्रकृति का है या जहां कि असंदत्त विक्रेता, जिसने अपने धारणाधिकार या अभिवहन में रोकने के अधिकार का प्रयोग किया है, पुनर्विक्रय करने के अपने आशय की सूचना क्रेता को देता है वहां यदि क्रेता युक्तियुक्त समय के अन्दर कीमत संदत्त या निविदत्त नहीं कर देता तो असंदत्त विक्रेता युक्तियुक्त समय के अन्दर माल का पुनर्विक्रय कर सकेगा और उसके संविदा भंग से कारित हानि के लिए मूल विक्रेता से नुकसानी वसूल कर सकेगा, किन्तु क्रेता उस लाभ का हकदार न होगा जो पुनर्विक्रय से हो । यदि ऐसी सूचना नहीं दी जाती है तो असंदत्त विक्रेता ऐसी नुकसानी वसूल करने का हकदार न होगा और क्रेता पुनर्विक्रय पर हुए लाभ का, यदि कोई हो, हकदार होगा ।

(3) जहां कि असंदत्त विक्रेता, जिसने अपने धारणाधिकार का या अभिवहन में रोकने के अधिकार का प्रयोग किया है, माल का पुनर्विक्रय करता है वहां क्रेता, उस पर मूल क्रेता के विरुद्ध अच्छा हक इस बात के होते हुए भी अर्जित कर लेता है कि मूल क्रेता को पुनर्विक्रय की कोई सूचना नहीं दी गई है ।

(4) जहां कि विक्रेता यह अधिकार अभिव्यक्ततः आरक्षित कर लेता है कि यदि क्रेता व्यतिक्रम करे तो पुनर्विक्रय किया जा सकेगा और क्रेता के व्यतिक्रम करने पर माल का पुनर्विक्रय कर देता है वहां मूल विक्रय संविदा का तद्द्वारा विखंडन हो जाता है किन्तु उससे विक्रेता के किसी ऐसे दावे पर, जो वह नुकसानी के लिए रखता हो, प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता ।

अध्याय 6

संविदा-भंग के लिए वाद

55. **कीमत के लिए वाद** – (1) जहां कि विक्रय की संविदा के अधीन माल में की सम्पत्ति क्रेता को संक्रान्त हो गई है और क्रेता संविदा के निबन्धनों के अनुसार उस माल का संदाय करने की उपेक्षा या करने से

इंकार सदोष करता है वहां विक्रेता माल की कीमत के लिए उसके विरुद्ध वाद ला सकेगा ।

(2) जहां कि विक्रय की संविदा के अधीन कीमत, इस बात को दृष्टि में लाए बिना कि परिदान हुआ है या नहीं, किसी निश्चित दिन को देय हो, और क्रेता ऐसी कीमत का संदाय करने की उपेक्षा या करने से इंकार सदोष करता है वहां विक्रेता कीमत के लिए उसके विरुद्ध वाद ला सकेगा, यद्यपि माल में की संपत्ति संक्रान्त न हुई हो और वह माल संविदा मद्दे विनियोजित न किया गया हो ।

56. **अप्रतिग्रहण के लिए नुकसानी** – जहां कि क्रेता माल का प्रतिग्रहण और उसके लिए संदाय करने की उपेक्षा या करने से इंकार सदोष करता है वहां विक्रेता अप्रतिग्रहण के लिए नुकसानी का वाद उसके विरुद्ध ला सकेगा ।

57. **अपरिदान के लिए नुकसानी** – जहां कि विक्रेता माल का परिदान क्रेता को करने की उपेक्षा या करने से इंकार सदोष करता है वहां क्रेता अपरिदान के लिए नुकसानी का वाद विक्रेता के विरुद्ध ला सकेगा ।

58. **विनिर्दिष्ट पालन** – विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1877 (1877 का 1) के अध्याय 2 के उपबन्धों के अध्यधीन यह है कि विनिर्दिष्ट या अभिनिश्चित माल के परिदान की संविदा के भंग के किसी वाद में न्यायालय, यदि वह ठीक समझे, वादी के आवेदन पर अपनी डिक्री द्वारा प्रतिवादी को, यह विकल्प दिए बिना कि वह नुकसानी देकर माल को प्रतिधारित रखे, यह निदेश दे सकेगा कि संविदा का पालन विनिर्दिष्टतः किया जाए । डिक्री अशर्त हो सकेगी अथवा नुकसानी या कीमत के संदाय विषयक या अन्यथा ऐसे निबन्धनों और शर्तों सहित हो सकेगी जिन्हें न्यायालय न्यायसंगत समझे, और वादी द्वारा आवेदन डिक्री से पूर्व किसी समय भी किया जा सकेगा ।

59. **वारंटी के भंग का उपचार** – (1) जहां कि वारंटी का भंग विक्रेता द्वारा किया जाता है या जहां कि क्रेता यह निर्वाचन करता है या ऐसा मानने के लिए विवश हो जाता है कि विक्रेता पक्ष से जो शर्त का भंग हुआ है वह वारण्टी का भंग है, वहां क्रेता वारण्टी के ऐसे भंग के कारण ही उस माल को प्रतिक्षेपित करने का हकदार नहीं हो जाता, किन्तु वह –

(क) वारण्टी के भंग को कीमत कम या निर्वापित कराने में विक्रेता के विरुद्ध रख सकेगा; अथवा

(ख) वारण्टी के भंग के लिए विक्रेता के विरुद्ध नुकसानी का वाद ला सकेगा ।

(2) यह तथ्य कि क्रेता ने वारण्टी के भंग को कीमत कम या निर्वापित कराने में रखा है वारण्टी के उसी भंग के लिए वाद लाने से उसे निवारित नहीं करता यदि उसे अतिरिक्त नुकसान उठाना पड़ा हो ।

60. **सम्यक् तारीख से पूर्व संविदा का निराकरण** – जहां कि विक्रय की संविदा के पक्षकारों में से कोई सा भी पक्षकार परिदान की तारीख से पूर्व उस संविदा का निराकरण कर देता है वहां दूसरा पक्षकार या तो यह मान सकेगा कि संविदा अस्तित्व में बनी हुई है और परिदान की तारीख तक प्रतीक्षा कर सकेगा या संविदा को विखंडित मान सकेगा और उस भंग के लिए वाद ला सकेगा ।

61. **नुकसानी के तौर पर ब्याज और विशेष नुकसानी** – (1) उस दशा में, जिसमें ब्याज या विशेष नुकसानी विधि द्वारा वसूलीय हो, ब्याज या विशेष नुकसानी को, अथवा जहां कि धन के संदाय का जो प्रतिफल था वह निष्फल हो गया है, दिए हुए धन को, वसूल करने के विक्रेता या क्रेता के अधिकार पर इस अधिनियम की कोई भी बात प्रभाव न डालेगी ।

(2) तत्प्रतिकूल संविदा के अभाव में न्यायालय कीमत की रकम पर ऐसी दर से जिसे वह ठीक समझे ब्याज –

(क) विक्रेता को उस वाद में, जो उसने कीमत के लिए किया है माल की निविदा की तारीख से या उस तारीख से जिस तारीख को कीमत संदेय थी, अधिनिर्णीत कर सकेगा;

(ख) क्रेता को उस वाद में, जो उसने विक्रेता की तरफ से संविदा-भंग की दशा में कीमत के प्रतिदान के लिए किया है, उस तारीख से अधिनिर्णीत कर सकेगा जिस तारीख को कीमत का संदाय किया गया था ।

अध्याय 7
प्रकीर्ण

62. **विवक्षित निबन्धनों और शर्तों का अपवर्जन** – जहां कि विधि की विवक्षा से कोई अधिकार, कर्तव्य या दायित्व विक्रय की संविदा के अधीन उद्भूत होता हो वहां अभिव्यक्त करार द्वारा या पक्षकारों के बीच की व्यवहार-चर्या द्वारा या प्रथा द्वारा, यदि प्रथा ऐसी हो जो संविदा के दोनों पक्षकारों पर आबद्धकर हो, उसका नकार या उसमें फेरफार किया जा

सकेगा ।

63. **युक्तियुक्त समय तथ्य का प्रश्न है** – जहां कि इस अधिनियम में युक्तियुक्त समय के प्रति कोई निर्देश किया गया है वहां युक्तियुक्त समय क्या है, यह तथ्य का प्रश्न है ।

64. **नीलाम विक्रय** – नीलाम द्वारा विक्रय की दशा में –

(1) जहां कि माल लाटों में विक्रय के लिए रखा जाता है वहां हर एक लाट के बारे में प्रथमदृष्ट्या यह समझा जाता है कि वह विक्रय की एक पृथक् संविदा का विषय है;

(2) वह विक्रय तब पूर्ण हो जाता है जब नीलामकर्ता उसका पूर्ण होना धनपात द्वारा या अन्य रूढ़िक प्रकार से आख्यापित करता है और जब तक ऐसा आख्यापन न किया जाए कोई भी बोली लगाने वाला अपनी बोली वापस ले सकेगा;

(3) बोली लगाने का अधिकार विक्रेता द्वारा या उसकी ओर से अभिव्यक्ततः आरक्षित रखा जा सकेगा और जहां कि ऐसा अधिकार अभिव्यक्ततः आरक्षित रखा जाता है, किन्तु अन्यथा नहीं, विक्रेता या उसकी ओर से कोई एक व्यक्ति नीलाम में बोली एतस्मिन्पश्चात् अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अध्यधीन लगा सकेगा;

(4) जहां कि विक्रय का विक्रेता की ओर से बोली लगाने के अधिकार के अध्यधीन होना अधिसूचित नहीं है वहां ऐसे विक्रय में स्वयं बोली लगाना या किसी व्यक्ति को बोली लगाने के लिए नियोजित करना विक्रेता के लिए विधिपूर्ण न होगा, और न नीलामकर्ता के लिए यह विधिपूर्ण होगा कि वह विक्रेता से या ऐसे किसी व्यक्ति से कोई बोली जानते हुए ले, और इस नियम के उल्लंघनकारी विक्रय को क्रेता कपटपूर्ण मान सकेगा ।

(5) विक्रय का किसी आरक्षित कीमत या अपसेट कीमत के अध्यधीन होना अधिसूचित किया जा सकेगा;

(6) यदि विक्रेता अपदेशी बोली का प्रयोग कीमत बढ़ाने के लिए करता है तो विक्रय क्रेता के विकल्प पर शून्यकरणीय है ।

[1][64क. **वर्धित या कम किए गए करों की रकम का विक्रय की**

---

[1] 1963 के अधिनियम सं. 33 की धारा 5 द्वारा धारा 64क के स्थान पर प्रतिस्थापित । यह धारा 1940 के अधिनियम सं. 41 की धारा 2 द्वारा अन्तःस्थापित की गई थी ।

संविदाओं में जोड़ा या घटाया जाना – (1) जब तक कि संविदा के निबन्धनों से भिन्न आशय प्रतीत न हो, किसी माल की बाबत उपधारा (2) में वर्णित प्रकृति का कोई कर ऐसे माल के विक्रय या क्रय के लिए, वहां पर जहां कि संविदा के किए जाने के समय कर प्रभार्य नहीं था, कर के संदाय के बारे में किसी अनुबन्ध के बिना, या वहां पर जहां कि उस समय कर प्रभार्य था, ऐसे माल के दत्त-कर विक्रय या क्रय के लिए, कोई संविदा की जाने के पश्चात् अधिरोपित, वर्धित, कम या परिहृत किए जाने की दशा में –

(क) यदि ऐसा अधिरोपण या वर्धन इस प्रकार प्रभाव में आता है कि, यथास्थिति, कर या वर्धित कर या ऐसे कर का कोई भाग संदत्त किया जाता है या संदेय है तो विक्रेता संविदा-कीमत में उतनी रकम जोड़ सकेगा जितनी ऐसे कर या कर की वृद्धि की बाबत संदत्त या संदेय रकम के बराबर हो और ऐसी जोड़ी गई रकम अपने को संदत्त किए जाने का तथा वह उस रकम के लिए वाद लाने और उसे वसूल करने का हकदार होगा; तथा

(ख) यदि ऐसी कमी या परिहार इस प्रकार प्रभाव में आता है कि, यथास्थिति, केवल कम किया गया कर संदत्त किया जाता है या संदेय है या कोई भी कर न संदत्त किया गया है, न संदेय है तो क्रेता संविदा कीमत में से उतनी रकम काट सकेगा जितनी कर की कमी या परिहृत कर के बराबर हो और ऐसी कटौती के लिए या की बाबत संदाय करने का वह दायी न होगा और न उस पर वाद लाया जा सकेगा ।

(2) उपधारा (1) के उपबन्ध निम्नलिखित करों को लागू होते हैं, अर्थात् :–

(क) माल पर कोई भी सीमाशुल्क या उत्पाद-शुल्क;

(ख) माल के विक्रय या क्रय पर कोई भी कर ।]

65. [**निरसन ।**] – निरसन अधिनियम, 1938 (1938 का 1) की धारा 2 और अनुसूची द्वारा निरसित ।

66. **व्यावृत्तियां** – (1) इस अधिनियम या एतद्द्वारा किए किसी भी निरसन में की कोई भी बात निम्नलिखित पर न तो प्रभाव डालेगी और न प्रभाव डालने वाली समझी जाएगी –

(क) इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूर्व अर्जित, प्रोद्भूत या

उपगत कोई भी अधिकार, हक, हित, बाध्यता या दायित्व; अथवा

(ख) ऐसे किसी अधिकार, हक, हित, बाध्यता या दायित्व के विषय में कोई वैध कार्यवाहियां या उपचार; अथवा

(ग) इस अधिनियम के प्रारम्भ के पूर्व की गई या सहन की गई कोई भी बात; अथवा

(घ) माल के विक्रय से संबंधित ऐसी कोई भी अधिनियमिति, जो इस अधिनियम द्वारा अभिव्यक्ततः निरसित नहीं की गई है; अथवा

(ङ) विधि का ऐसा कोई भी नियम जो इस अधिनियम से असंगत नहीं है ।

(2) दिवाला विषयक नियम, जो माल के विक्रय की संविदाओं से संबंधित हों इस अधिनियम में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, उन्हें लागू बने रहेंगे ।

(3) विक्रय की संविदाओं से संबंधित इस अधिनियम के उपबंध विक्रय की संविदा के रूप में किसी ऐसे संव्यवहार को लागू नहीं है जो बन्धक, गिरवी, भार या अन्य प्रतिभूति के तौर पर प्रवर्तित होने के लिए आशयित हों ।

प्रिवी कौंसिल

प्रिवी कौंसिल

निर्णय सूची

	पृष्ठ संख्या
नित्यानन्द तथा अन्य **बनाम** लाला करम चंद	19
भगवती (श्रीमती) **बनाम** श्रीमती राम कली	12
महन्त सिंह **बनाम** यू बा यी	1

महन्त सिंह .... अपीलार्थी

बनाम

यू बा यी .... प्रत्यर्थी

निर्णीत 3.3.1939

न्यायमूर्ति लार्ड रोमर, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर और न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 23, नियम 2 और आदेश 1, नियम 10 – न्यायालय ने वादी के आवेदन पर कुछ प्रतिवादियों के नाम काटे जाने का अशर्त निदेश दिया – आदेश में नया वाद लाने की अनुज्ञा नहीं दी गई – ऐसी दशा में आदेश 23, नियम 2 लागू होगा और वादी उन प्रतिवादियों के विरुद्ध उसी विषय में दूसरा वाद नहीं कर सकता यद्यपि प्रतिवादी उससे उन्मोचित नहीं हो जाएंगे ।

भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 – धारा 2(छ) और 2(ज) – संविदा उस दशा में शून्य नहीं होगी जब कि वह किसी प्रक्रियात्मक नियम के कारण अप्रवर्तनीय हो – वह शून्य तभी मानी जाएगी जब किसी तत्वीय (substantive) विधि के कारण अप्रवर्तनीय हो ।

– यदि वह प्रारंभ से ही अप्रवर्तनीय न होकर बाद की घटनाओं के कारण अप्रवर्तनीय हो जाए तो खड (ज) के अंतर्गत आएगी ।

भारतीय संविदा अधिनियम, 1872 – धारा 134 और 139 – यदि लेनदार का मूल ऋणी के प्रति वाद-हेतुक परिसीमा विधि द्वारा वर्जित हो जाए तो उससे ही प्रतिभू उन्मोचित नहीं हो जाएगा ।

– यदि किसी प्रक्रियात्मक उपबंध के कारण लेनदार मूल ऋणी के विरुद्ध नया वाद नहीं कर सकता तो उससे ही ऋण उन्मोचित नहीं हो जाएगा और न प्रतिभू अपने दायित्व से उन्मोचित होगा ।

– यदि लेनदार मूल ऋणी को समय दे देता है या उसके विरुद्ध वाद न करने का करार करता है किंतु साथ ही प्रतिभू के विरुद्ध अपना अधिकार आरक्षित रखता है तो प्रतिभू उन्मोचित न होगा – अंग्रेजी विधि भी यही है ।

वादी एक बिल्डिंग ठेकेदार है उसे प्रत्यर्थियों ने नियोजित किया जो 1.1.1933 को एक लिखित करार के अधीन था । प्रत्यर्थियों में से एक महिला की संपदा का भी न्यासी था, जिसने कुछ संपत्ति पूर्व प्रयोजन के लिए छोड़ी थी । उसने उक्त न्यासियों द्वारा सम्यक् पालन की मौखिक

गारंटी की थी । अपीलार्थी ने अपनी संविदा का पालन कर दिया । वादपत्र में प्रत्येक न्यासी को प्रतिवादी के रूप में नामित किया गया । वादी ने प्रत्येक के विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से अनुतोष मांगा । अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – जब पूर्णतः निर्मुक्ति कर दी जाए तो प्रतिभू के विरुद्ध उपचार के आरक्षण के लिए कोई अवसर नहीं रहता, देखिए वेब बनाम हेविट तथा कमर्शियल बैंक आफ तस्मानिया बनाम जोंस । किंतु जहां ऋण वस्तुतः छोड़ा नहीं गया है वहां लेनदार ऋणी को यह सूचित करके कि वह ऐसा करता है अपना अधिकार आरक्षित कर सकता है और यह आरक्षण वहीं प्रभावी नहीं होगा जहां कि उसने यह करार किया हो कि ऋणी पर वाद नहीं करेगा । इन दो में से किसी में ऋणी के साथ कोई धोखा नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि वह फिर भी प्रतिभू की इच्छानुसार वाद के लिए उच्छन्न है । इंग्लैंड में चार मूल न्यासियों के नाम काट देने से प्रत्यर्थी का दायित्व प्रभावित नहीं होता । उनके विरुद्ध किसी भी समय नया वाद किया जा सकता था । किंतु कहा यह गया कि बर्मा की विधि इस विषय में इंग्लैंड की विधि से भिन्न है और इसके लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 23, नियम 1 तथा संविदा अधिनियम की धारा 2(छ) और (ञ) का आश्रय लिया गया । आदेश 23, नियम 1 इस प्रकार है – "(1) वाद संस्थित किए जाने के पश्चात् किसी भी समय वादी सभी प्रतिवादियों या उनमें से किसी के विरुद्ध अपना वाद प्रत्याहृत कर सकेगा अथवा आने दावे के भाग का परित्याग कर सकेगा । (2) जहां न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि – (क) वाद किसी प्ररूपिक त्रुटि के कारण विफल हो जाएगा अथवा, (ख) वाद की विषयवस्तु या दावे के भाग के लिए नया वाद संस्थित करने के लिए वादी को अनुज्ञात करने के लिए अन्य पर्याप्त आधार हैं । वहां वह ऐसे निबंधनों पर जिन्हें वह ठीक समझे, वादी को ऐसे वाद की विषयवस्तु या दावे के ऐसे भाग के संबंध में नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता रखते हुए ऐसे वाद से या दावे के ऐसे भाग से अपने को प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दे सकेगा । (3) जहां वादी उपनियम (2) में निर्दिष्ट अनुज्ञा के बिना वाद से प्रत्याहृत होता है या दावे के भाग का परित्याग करता है वहां वह ऐसे खर्चे के लिए दायी होगा जो न्यायालय अधिनिर्णीत करे और वह ऐसी विषयवस्तु या दावे के ऐसे भाग के बारे में कोई नया वाद संस्थित करने से प्रवारित होगा ।" किंतु यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा अर्थ स्वीकार किया जाए जिसका परिणाम इतना आश्चर्यजनक हो । हमारी दृष्टि में इसका उपाय स्वयं धारा 2(ञ) की शब्दावली में निहित है । प्रत्येक अप्रवर्तनीय संविदा शून्य घोषित नहीं की

गई है । केवल वे शून्य घोषित की गई हैं जो विधितः प्रवर्तनीय न हों और उन शब्दों का अर्थ यह नहीं है कि किसी प्रक्रियात्मक विनियम के कारण अप्रवर्तनीय हों बल्कि किसी तत्वीय विधि के कारण अप्रवर्तनी हों । उदाहरणार्थ जो संविदा प्रारंभ से ही अवैध थी, जैसे कि विदेशी शत्रु से संविदा, वह धारा 2(छ) द्वारा शून्य हो जाएगी और जो संविदा अपने संपादन के दौरान अवैध हो गई वह धारा 2(ञ) द्वारा शून्य हो जाएगी, जैस कि ऐसे व्यक्ति से संविदा जो पहले विदेशी मित्र था किंतु बाद में विदेशी शत्रु हो गया । परिसीमा विषयक कानून में विनिर्दिष्ट समय के भीतर वाद न करने के कारण से ही अथवा सिविल प्रक्रिया संहिता के किसी आदेश में के उपबंधों के कारण वाद करने की अयोग्यता के कारण से ही संविदा शून्य नहीं हो जाएगी । (पैरा 4 और 10)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1932]	इं. ला रि. (1932) लाहौर 817 = आ. इं. रि. 1932 लाहौर 419 : **नूर दीन** बनाम **अल्लाह दित्ता** ;	8
[1927]	आ. इं. रि. 1927 लाहौर 396 : **दिल मोहम्मद** बनाम **साई दास** ;	7
[1920]	38 मद्रास ला जर्नल 131 = आ. इं. रि. 1920 मद्रास 216 : **गुरुगप्पा** बनाम **मुनुस्वामी** ;	8
[1910]	इं. ला रि. (1910) 33 मद्रास 308 : **सुब्रमण्य अय्यर** बनाम **गोपाल अय्यर** ;	7
[1902]	इं. ला रि. (1902) 24 इलाहाबाद 504 : **रंजीत सिंह** बनाम **नोबल** ;	8
[1893]	(1893) अपील केसेज 313 : **कमर्शियल बैंक आफ तस्मानिया** बनाम **जोंस** ;	4
[1885]	इं. ला रि. (1885) 12 कलकत्ता 330 : **क्रिस्टो किशोरी चौधराइन** बनाम **राधा रमण मुंशी** ;	7
[1883]	इं. ला रि. (1883) 7 बाम्बे 146 : **संकन** बनाम **विरुपाक्ष** ;	7

[1881]	(1881) 25 चांसरी डिवीजन 666 : **कार्टर** बनाम **व्हाइट** ;	7
[1881]	इं. ला रि. (1881) 5 बाम्बे 647 : **हजारी मल** बनाम **कृष्णा राव** ;	9
[1871]	(1871) एल. आर. 7 सी. पी. 9 : **बेटसन** बनाम **गोसलिंग** ;	6
[1871]	(1871) एल. आर. 7 पी. 142 (153) : **ओरियण्टल फाइनेंशियल कारपोरेशन** बनाम **ओवरेण्ड गर्नी** ;	6
[1857]	(1857) 3 के. एंड जे. 438 : **वेब** बनाम **हेविट** ।	4

सिविल अपीली अधिकारिता : **1938 की अपील सं. 30.**

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री डी. एन. प्रीट और एल. एम. डिसिल्वा

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री ए. एम. दुने, आर. डब्ल्यू. लीच और जी. हरोक्स

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर ने दिया ।

न्या. पोर्टर – इस मामले के तथ्य संक्षेप में बताए जा सके हैं : वादी एक निर्माण करने वाला ठेकेदार है । क्यैकसन पेगोडा के नाम से ज्ञात एक पेगोडा के चार न्यासियों ने उसे नियोजित किया । नियोजन के निबंधन 1.1.1933 के एक करार में दिए गए थे । वह करार क्यैकसन पेगोडा न्यासी बोर्ड और अपीलार्थी के बीच किया गया व्यक्त किया गया था । उस पर अपीलार्थी और प्रत्येक न्यासी के हस्ताक्षर हैं । प्रत्यर्थी डा. दवे नामक एक महिला की संपदा का न्यासी था, जिसने कुछ संपत्ति पूर्त प्रयोजनार्थ छोड़ी थी । वह उक्त संविदा में तो पक्षकार नहीं था, किंतु उसने उक्त न्यासियों द्वारा सम्यक् पालन की मौखिक गांरटी की थी । बर्मा में ऐसी गांरटी लिखित न होने पर भी आबद्धकर होती है । अपीलार्थी ने अपनी संविदा का पालन कर दिया और उसे 26,082/- रुपए 8 आ. 6 पा. देय थे, जिसमें से विद्वान् विचारण न्यायाधीश के निष्कर्षानुसार 158/- रुपए घटाने थे जो अभी नहीं दिए गए थे । तब अपीलार्थी ने 21.5.1934 को यह

वाद उच्च न्यायालय में उसकी आरंभिक अधिकारिता में संस्थित किया, जिसमें उसने प्रथमोक्त राशि का दावा चारों न्यासियों और प्रत्यर्थी के विरुद्ध किया । वादपत्र में प्रत्येक न्यासी को प्रतिवादी के रूप में नामित किया गया था और उनके नामों के बाद में यह जोड़ा गया था : "उपर्युक्त चारों व्यक्ति क्यैकसन पेगोडा, थ्यानग्यून के न्यासी हैं और उनके विरुद्ध वाद उसी हैसियत से हैं" । अपनी प्रार्थना में वादी ने प्रत्येक प्रतिवादी के विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से अनुतोष मांगा और विशेषतः प्रत्यर्थी के विरुद्ध डा. दवे न्यास के न्यासी के रूप में । विद्वान् विचारण न्यायाधीश द्वारा दिलाई गई राशि प्रत्यक्षतः प्रत्यर्थी द्वारा और व्यक्तिगत रूप से न्यासियों द्वारा देय थी, किंतु अपीलार्थी का यह विचार रहा प्रतीत होता है कि उसका उपचार नामित न्यासियों के विरुद्ध ही उपलब्ध नहीं है अपितु उस किसी व्यक्ति के विरुद्ध भी उपलब्ध है जो समय-समय पर पेगोडा के न्यासी हो ।

2. वाद के प्रारंभ के कुछ ही समय बाद चारों न्यासियों को पेगोडा के न्यासी पद से हटा दिया गया और उनके स्थान पर आठ अन्य व्यक्ति नियुक्त किए गए । तब अपीलार्थी ने एक अंतःकालीन आवेदन दिया जिसमें मूलतः यह अनुरोध किया था कि आठ नए न्यासियों को भी प्रतिवादी बना लिया जाए और अंत में अनुरोध किया गया कि पुराने न्यासियों के स्थान पर नए न्यासियों को कर दिया जाए । वह आवेदन 20.6.1935 को मंजूर हो गया और तब चार मूल न्यासियों के नाम काट दिए गए और उनके स्थान पर नए न्यासियों के नाम कर दिए गए । किंतु जब मामला विचारण के लिए आया तब गुणागुण पर सुनवाई के पूर्व विद्वान् विचारण न्यायाधीश ने संकेत किया कि मूल न्यासियों का दायित्व व्यक्तिगत था और नए न्यासियों पर कोई दायित्व नहीं है । उस पर अपीलार्थी ने 24.3.1936 को आवेदन दिया कि मूल चार न्यासियों में से तीन को पुनः प्रतिवादी बना दिया जाए (चौथे की मृत्यु हो चुकी थी) । विचारण न्यायाधीश ने यह आवेदन स्वीकार करने से इनकार कर दिया । उन्होंने निर्णय किया कि उन्हें उसे सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 और आदेश 6, नियम 16 (17) के अधीन स्वीकार करने की अधिकारिता है, किंतु उनके विचार से अपीलार्थी को कार्यवाही के दौरान अपना विचार बदलने नहीं दिया जाना चाहिए । उनका विचार था कि आठ न्यासी प्रतिवादी इस बात के हकदार हैं कि उनका मामला निपटाया जाए, विशिष्टतः इस कारण कि उनका विचार था कि अपीलार्थी अधिसंभाव्यतः दूसरे वाद में मूल न्यासियों के विरुद्ध अपना उपचार प्राप्त कर सकेगा, यद्यपि उस पर कुछ अतिरिक्त व्यय का दायित्व आ सकता है ।

3. तब वाद का विचारण आगे बढ़ा । नए न्यासियों के विरुद्ध दावा खारिज कर दिया गया और प्रत्यर्थी को गारंटीकर्ता के रूप में देनदार ठहराया गया । प्रत्यर्थी ने इस विनिश्चय के विरुद्ध अपीली न्यायपीठ को अपील की और उस अपील में पहली बार यह तर्क प्रस्तुत किया कि विद्वान् न्यायाधीश ने उसे देनदार ठहराने में विधितः गलती की । कहा यह गया कि वादी अपीलार्थी के मूल न्यासियों के विरुद्ध अपना पूर्व दावा छोड़ देने के कार्य से वह उन्मोचित हो गया । अपीली न्यायपीठ के विद्वान् न्यायाधीशों ने अपील के अन्य सभी आधार अमान्य करते हुए निर्णय किया कि यह तर्क सुआधारित है और उन्होंने अपील मंजूर कर ली तथा अपीलार्थी से खर्चा दिलाया । हमारे समक्ष बहस की गई कि क्या उनका ऐसा करना सही था । प्रस्तुत मामले के लिए महत्वपूर्ण परिस्थितियों में जिन आधारों पर कोई गारंटीकर्ता अपने दायित्व से उन्मोचित हो जाएगा वे सुप्रतिष्ठित हैं, और वस्तुतः उन पर कोई विवाद नहीं है । यदि लेनदार प्रतिभू की सम्मति के बिना मूल ऋणी को निर्मोचित कर देता है या उसके साथ एक आबद्धकर ठहराव उसे समय देने के लिए करता है तो प्रतिभू उन्मोचित हो जाता है । प्रत्येक मामले में उन्मोचन का आधार यह है कि इससे प्रतिभू के इस अधिकार में हस्तक्षेप होता है कि वह ऋण किसी भी समय अदा कर दे और उसे अदा करने के बाद मूल ऋणी पर लेनदार के नाम से बाद करे । यह निर्णय करना कि ऐसे मामलों में लेनदार का प्रतिभू के विरुद्ध अधिकार बना रहता है और प्रतिभू स्वयं फिर भी मूल ऋणी के विरुद्ध वाद कर सकता है, यह अर्थ होगा कि निर्मुक्ति अथवा समय बढ़ाना निष्प्रभाव था क्योंकि ऋणी पर फिर भी प्रतिभू द्वारा किसी भी समय वाद किए जाने का दायित्व बना रहेगा ।

4. जब पूर्णतः निर्मुक्ति कर दी जाए तो प्रतिभू के विरुद्ध उपचार के आरक्षण के लिए कोई अवसर नहीं रहता, देखिए **वेब** बनाम **हेविट**[1] तथा **कमर्शियल बैंक आफ तस्मानिया** बनाम **जोंस**[2] । किंतु जहां ऋण वस्तुतः छोड़ा नहीं गया है वहां लेनदार ऋणी को यह सूचित करके कि वह ऐसा करता है अपना अधिकार आरक्षित कर सकता है और यह आरक्षण वहीं प्रभावी नहीं होगा जहां कि उसने यह करार किया हो कि ऋणी पर वाद नहीं करेगा । इन दो में से किसी में ऋणी के साथ कोई धोखा नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि वह फिर भी प्रतिभू की इच्छानुसार वाद के लिए उच्छन्न है । इंग्लैंड में चार मूल न्यासियों के नाम काट देने से प्रत्यर्थी का

[1] (1857) 3 के. एंड जे. 438.

[2] (1893) अपील केसेज 313.

दायित्व प्रभावित नहीं होता । उनके विरुद्ध किसी भी समय नया वाद किया जा सकता था । किंतु कहा यह गया कि बर्मा की विधि इस विषय में इंग्लैंड की विधि से भिन्न है और इसके लिए सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 23, नियम 1 तथा संविदा अधिनियम की धारा 2(छ) और (ञ) का आश्रय लिया गया । आदेश 23, नियम 1 इस प्रकार है :–

"(1) वाद संस्थित किए जाने के पश्चात् किसी भी समय वादी सभी प्रतिवादियों या उनमें से किसी के विरुद्ध अपना वाद प्रत्याहृत कर सकेगा अथवा आने दावे के भाग का परित्याग कर सकेगा ।

(2) जहां न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि –

(क) वाद किसी प्ररूपिक त्रुटि के कारण विफल हो जाएगा अथवा,

(ख) वाद की विषयवस्तु या दावे के भाग के लिए नया वाद संस्थित करने के लिए वादी को अनुज्ञात करने के लिए अन्य पर्याप्त आधार हैं ।

वहां वह ऐसे निबंधनों पर जिन्हें वह ठीक समझे, वादी को ऐसे वाद की विषयवस्तु या दावे के ऐसे भाग के संबंध में नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता रखते हुए ऐसे वाद से या दावे के ऐसे भाग से अपने को प्रत्याहृत करने की अनुज्ञा दे सकेगा ।

(3) जहां वादी उपनियम (2) में निर्दिष्ट अनुज्ञा के बिना वाद से प्रत्याहृत होता है या दावे के भाग का परित्याग करता है वहां वह ऐसे खर्चे के लिए दायी होगा जो न्यायालय अधिनिर्णीत करे और वह ऐसी विषयवस्तु या दावे के ऐसे भाग के बारे में कोई नया वाद संस्थित करने से प्रवारित होगा ।"

5. भारतीय संविदा अधिनियम की धाराएं इस प्रकार हैं :–

"2(छ). वह करार जो प्रवर्तनीय न हो शून्य कहलाता है ;"

"2(ञ). जो संविदा विधितः प्रवर्तनीय नहीं रह जाती वह तब शून्य हो जाती है जब वह प्रवर्तनीय नहीं रह जाती ।"

"134. लेनदार और मूल ऋणी के बीच किसी ऐसी संविदा से जिसके द्वारा मूल ऋणी निर्मुक्त हो जाए या लेनदार के किसी ऐसे कार्य या लोप से, जिसका विधिक परिणाम मूल ऋणी का उन्मोचन हो, प्रतिभू उन्मोचित हो जाता है ।"

"139. यदि लेनदार कोई ऐसा कार्य करे जो प्रतिभू के अधिकारों से असंगत हो या किसी ऐसे कार्य को करने का लोप करे जिसके किए जाने की प्रतिभू के प्रति उसका कर्तव्य अपेक्षा करता हो और मूल ऋणी के विरुद्ध प्रतिभू के अपने पारिणामिक उपचार का तद्द्वारा ह्रास हो तो प्रतिभू उन्मोचित हो जाएगा ।"

6. प्रत्यर्थी ने बहस की कि इन उपबंधों के कारण ऋणी पूर्णतः निर्मुक्त हो गया । अपीलार्थी ने तर्क किया कि वस्तुतः पुराने न्यासियों के स्थान पर नए न्यासी करने के आवेदन देने में उसने कार्यवाही आदेश 23, नियम 1 के अधीन नहीं की, बल्कि उसका आवेदन केवल आदेश 1, नियम 10 के अधीन था । हम यह मत स्वीकार नहीं कर सकते । निःसंदेह अंतिमाक्त नियम न्यायालय को प्राधिकृत करता है कि अनुचित रूप से सम्मिलित किए गए पक्षकार का नाम काटे जाने का आदेश दे या कि ऐसे व्यक्ति का नाम जोड़ दिया जाए जो सम्मिलित किया जाना था । किंतु ऐसे आदेश के संबंध में स्पष्ट निदेश है कि वह ऐसे निबंधनों पर किया जाएगा जो न्यायालय को न्यायसंगत समझे । यदि आदेश में कोई निबंधन न जोड़ें जाएं तो हमारी दृष्टि में कुछ के विरुद्ध वाद प्रत्याहृत करने के प्रभाव का अभिनिश्चय आदेश 23, नियम 1 से ही करना होगा । उस आदेश की शब्दावली सुष्ठु नहीं है, किंतु उसका अर्थ युक्तियुक्त रूप से स्पष्ट है । उसके उपबंधों के अधीन न्यायालय आवेदक को प्रत्याहरण के बाद नया वाद संस्थित करने की स्वतंत्रता प्रदान कर सकता है ; किंतु यदि वह ऐसा नहीं करता तो वादी उसी विषयवस्तु के बारे में नया वाद संस्थित करने से प्रवारित हो जाता है । फिर भी इसका परिणाम ऋण के निर्मोचन या उन्मोचन का न होकर केवल लेनदार को मूल ऋणी के विरुद्ध वाद करने से निवारित करने का होता है । इंग्लैंड में लेनदार द्वारा यह वचनबंध दिए जाने से कि वह मूल ऋणी पर वाद नहीं करेगा या समय देने का आबद्धकर करार प्रतिभू को उन्मोचित करने का प्रभाव नहीं रखता ; परंतु यह तब जब कि वचनबंध या करार की यह शर्त हो कि लेनदार के वादी के विरुद्ध वाद करने या उससे रुपए प्राप्त करने के अधिकार आरक्षित किए गए, देखिए **बेटसन** बनाम **गोसलिंग**[1] तथा **ओरियण्टल फाइनेंशियल कारपोरेशन** बनाम **ओवरेण्ड गर्नी**[2] ।

7. इसी प्रकार से वसूली परिसीमा विषयक कानून द्वारा वर्जित हो

---

[1] (1871) एल. आर. 7 सी. पी. 9.

[2] (1871) एल. आर. 7 सी. पी. 142(153).

जाने तक मूल ऋणी के विरुद्ध वाद न करने से इंग्लैड में प्रतिभू उन्मोचित नहीं हो जाता, देखिए **कार्टर** बनाम **व्हाइट**[1] । यही मत भारत के अधिकांश न्यायालयों में प्रचलित है, देखिए **संकन** बनाम **विरुपाक्ष**[2], **क्रिस्टो किशोरी चौधराइन** बनाम **राधा रमण मुंशी**[3], **सुब्रमण्यम अय्यर** बनाम **गोपाल अय्यर**[4] तथा **दिल मोहम्मद** बनाम **साई दास**[5] । यही सही है कि पहले दो मामलों में निर्णय संविदा अधिनियम की धारा 137 के उपबंधों का आश्रय लेकर किया गया जिसमें अधिनियमित है कि :–

> "137. मूल ऋणी पर वाद लाने से या उसके विरुद्ध किसी अन्य उपचार को प्रवर्तित करने से लेनदार का प्रविरत रहना मात्र, प्रत्याभूति में तत्प्रतिकूल उपबंध के अभाव में, प्रतिभू को उन्मोचित नहीं करता ।"

8. किंतु दो उत्तरोक्त निर्णय अपना तर्क उस अधिक व्यापक आधार पर भी आधारित करते हैं जो अंग्रेजी विधि में अपनाया गया है और वे धारा 137 को विधि का केवल घोषक मानते हैं जो केवल इस कारण अधिनियमित की गई कि इस विषय मे संदेह दूर हो कि क्या यही सिद्धांत भारत में लागू होते हैं । भारत में अन्य न्यायालयों के इन निर्णयों में **रंजीत सिंह** बनाम **नौबल**[6] का विरोध दिखाया जा सकता है जिसमें विनिश्चय किया गया कि धारा 137 के उबपंधों के होते हुए भी लेनदार का प्रतिभू के विरुद्ध अधिकार तब तक परिरक्षित नहीं रहता जब तक कि वह मूल ऋणी के विरुद्ध वाद परिसीमाकाल के भीतर नहीं करता । यह विनिश्चय इंग्लैंड के न्यायालयों तथा भारत के अधिकांश न्यायालयों द्वारा अपनाए गए मत से असंगत है । इन विरोध की स्थिति में हम बहुमत का तर्क पसंद करते हैं । किसी भी दशा में वे विनिश्चय इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि क्या ऋणी पूर्णतः निर्मोचित हो गया, न कि इस प्रश्न पर कि वाद न करने का या समय देने का करार, जिसमें प्रतिभू के विरुद्ध अधिकार आरक्षित किया गया हो, उसके (ऋणी के) उन्मोचन का प्रभाव रखता है । हमारे विचार से प्रस्तुत मामला उत्तरोक्त का उदाहरण है और हमें इसमें कोई संदेह नहीं है कि लेनदार के प्रतिभू के विरुद्ध अधिकार परिरक्षित थे । अपीलार्थी का यह

---

[1] (1881) 25 चांसरी डिवीजन 666.
[2] इं. ला रि. (1883) 7 बाम्बे 146.
[3] इं. ला रि. (1885) 12 कलकत्ता 330.
[4] इं. ला रि. (1910) 33 मद्रास 308.
[5] आ. इं. रि. 1927 लाहौर 396.
[6] इं. ला रि. (1902) 24 इलाहाबाद 504.

कार्य कि उसने प्रतिभू के विरुद्ध वाद चालू रखा यद्यपि उसने अपना वाद मूल ऋणी के विरुद्ध प्रत्याहृत कर लिया हमारी दृष्टि में उसके द्वारा अपने अधिकारों का स्पष्ट आरक्षण था । इस प्रतिपादना के दृष्टांत भारतीय निर्णय हैं, देखिए **मुरुगप्पा** बनाम **मुनुस्वामी**[1] तथा **नूर दीन** बनाम **अल्लाह दित्ता**[2] ।

9. किंतु प्रत्यर्थी की बहस है कि भले ही वे निर्णय अपनी-अपनी परिस्थितियों में लागू हों या इंग्लैंड में लागू हों वे बर्मा में प्रस्तुत मामले को लागू नहीं होते, क्योंकि, जैसा कि उनका कहना है, संविदा अधिनियम की धारा 2(ञ) स्थिति बदल देती है । उनका तर्क है कि इस धारा का व्यापकतम अर्थ लिया जाना चाहिए । परिणामतः भारत और बर्मा में कोई संविदा, जिसकी बाबत वाद नहीं किया जा सकता, शून्य है । अतः वादी का मूल न्यासियों से ऋण वसूल करने का अधिकार अप्रवर्तनीय होने के कारण शून्य है । उनकी बहस है कि इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल ऋणी पूर्णतः निर्मुक्त हो जाने के कारण प्रतिभू भी निर्मुक्त हो गया । यदि आधार सही होता तो वह निष्कर्ष निकल सकता था, भले ही कुछ परिणाम आश्चर्यजनक और अप्रत्याशित होते । एक ऐसा परिणाम यह होगा कि जब परिसीमाकाल बीत जाए तो केवल उपचार ही वर्जित नहीं हो जाएगा बल्कि ऋण भी अस्तित्वहीन हो जाएगा और उसके साथ ही ऋण की प्रतिभूति स्वरूप दी गई कोई वस्तु रखने के सभी अधिकार भी तथा उसके विरुद्ध प्रत्येक दायित्व मुजरा करने का सारा अधिकार भी चला जाएगा । इस संकल्पना की चर्चा **हजारी मल** बनाम **कृष्ण राव**[3] में की गई थी ; किंतु प्रश्न को अनिर्णीत छोड़ दिया गया । इस अर्थान्वयन से और भी आश्चर्यजनक परिणाम जब निकलेगा जब संविदा अधिनियम की धारा 2(ञ) को धारा 65 के साथ पढ़ा जाए क्योंकि ऐसे मामले में केवल प्रत्येक अप्रवर्तनीय करार ही शून्य नहीं हो जाएगा, अपितु प्रत्येक पक्षकार पर यह बाध्यता होगी कि वह प्राप्त किए गए किसी फायदे को वापस करे या उसके लिए प्रतिकर दे और यह महत्वहीन है कि उभय पक्षकार में से किसी ने संविदा पालन की दिशा में क्या किया ।

10. किंतु यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा अर्थ स्वीकार किया जाए जिसका परिणाम इतना आश्चर्यजनक हो । हमारी दृष्टि में इसका उपाय स्वयं धारा 2(ञ) की शब्दावली में निहित है । प्रत्येक अप्रवर्तनीय संविदा शून्य घोषित नहीं की गई है । केवल वे शून्य घोषित की गई हैं जो विधितः

[1] 38 मद्रास ला जर्नल 131= आ. इं. रि. 1920 मद्रास 216.

[2] इं. ला रि. (1932) लाहौर 817 = आ. इं. रि. 1932 लाहौर 419.

[3] इं. ला रि. (1881) 5 बाम्बे 647.

प्रवर्तनीय न हों और उन शब्दों का अर्थ यह नहीं है कि किसी प्रक्रियात्मक विनियम के कारण अप्रवर्तनीय हों बल्कि किसी तत्वीय विधि के कारण अप्रवर्तनी हों । उदाहरणार्थ जो संविदा प्रारंभ से ही अवैध थी, जैसे कि विदेशी शत्रु से संविदा, वह धारा 2(छ) द्वारा शून्य हो जाएगी और जो संविदा अपने संपादन के दौरान अवैध हो गई वह धारा 2(ञ) द्वारा शून्य हो जाएगी, जैस कि ऐसे व्यक्ति से संविदा जो पहले विदेशी मित्र था किंतु बाद में विदेशी शत्रु हो गया । परिसीमा विषयक कानून में विनिर्दिष्ट समय के भीतर वाद न करने के कारण से ही अथवा सिविल प्रक्रिया संहिता के किसी आदेश में के उपबंधों के कारण वाद करने की अयोग्यता के कारण से ही संविदा शून्य नहीं हो जाएगी ।

11. अंत में हमारा विचार है कि धारा 134 और 139 केवल वह घोषित करती हैं जो इंग्लैंड की विधि थी और है । धारा 139 केवल वहां लागू होती है जहां कि प्रतिभू का मूल ऋणी के विरुद्ध अंतिम उपचार का ह्रास हो और हमारे द्वारा बताए गए कारणों से हम प्रस्तुत मामले में ऐसा कुछ नहीं पाते जो प्रत्यर्थी का मूल न्यासियों के विरुद्ध उपचार का ह्रास करता हो । धारा 134 के अधीन प्रतिभू तब उन्मोचित हो जाता है और केवल उसी दशा में उन्मोचित होता है जब कोई ऐसी संविदा की जाए जिससे की ऋणी निर्मोचित हो जाए या लेनदार की ओर से कोई ऐसा कार्य या लोप हो जिसका विधिक परिणाम मूल ऋणी को उन्मोचित करने का हो । प्रस्तुत मामले की भांति यदि मूल न्यासियों को वाद से काट देने का एकमात्र परिणाम यह है कि अपीलार्थी उस विषयवस्तु के बारे में उनके विरुद्ध नया वाद करने से वर्जित हो गया और न कि मूल ऋणी को निर्मुक्त या उन्मोचित करने का, तो ऋणी फिर भी ऋणी बना रहता है, जब कि लेनदार प्रक्रिया विषयक नियम के कारण उसके आधार पर स्वयं वाद नहीं कर सकता । ऐसी परिस्थितियों में इस धारा में कुछ नहीं है जिससे कि प्रतिभू दायित्व से उन्मोचित हो जाए । इन कारणों से हमारा निष्कर्ष है कि प्रत्यर्थी गारंटी के अधीन अपने दायित्व से निर्मुक्त नहीं हुआ है और हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील मंजूर की जाए, उच्च न्यायालय के अपील पक्ष की डिक्री अपास्त की जाए और विचारण न्यायाधीश की डिक्री पुनः स्थापित की जाए । प्रत्यर्थी अपीलार्थी का अपील न्यायालय का और इस बोर्ड के समक्ष अपील का खर्चा अदा करें ।

अपील मंजूर की गई ।

श्रीमती भगवती .... अपीलार्थी

बनाम

श्रीमती राम कली .... प्रत्यर्थी

निर्णीत 7.3.1939

न्यायमूर्ति लार्ड रोमर, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर और न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – धारा 11 – भूमि अर्जन के मामले में दावेदारों के हक के विषय में अधिनिर्णय भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 26(2) के अनुसार डिक्री होता है और उसके आधारों का कथन निर्णय होता है – अतः दावेदार के हक का निर्णय वाद के विवाद में प्राङ् न्याय के रूप में लागू होता है ।

– इससे अंतर नहीं पड़ता कि अधिनिर्णय उस रूप में नहीं दिया गया अथवा कि दो अलग-अलग डिक्रियां बनाई गईं और अदायगी का आदेश अलग से पारित किया गया ।

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 – धारा 18(2) – इस उपधारा में "आधार" शब्द का प्रयोग उन चार आधारों के संदर्भ में किया गया है जो धारा 18(1) में दिए गए हैं – आधारों के कारणों का विवरण अपेक्षित नहीं है ।

– **धारा 19** – कलेक्टर को धारा 18 के अधीन निर्देश भेजने में जो कुछ करना है वह इस धारा में दिया हुआ है – उससे यह अपेक्षा नहीं है कि पक्षकारों के दावों का और उनके आधारों का अलग-अलग वर्णन करें ।

– **धारा 31** – लंबरदार न अन्य हिस्सेदारों की ओर से प्रतिकर प्राप्त कर सकता है और न उनकी बाबत उन्मोचन दे सकता है ।

इस अपील में दो प्रश्न उठते हैं : एक प्राङ् न्याय का और दूसरा कि संपत्ति दोनों भाई संयुक्त कुटुंब की संपत्ति के रूप में धारण करते थे या सामान्यिक अभिधारियों के रूप में । अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्राङ् न्याय का सिद्धांत लागू करने के लिए देखना यह होगा कि क्या पूर्व मामला ऐसा था जिसमें इस प्रश्न पर निर्णय अनिवार्यतः और सारतः अपेक्षित था और सक्षम न्यायालय द्वारा उसका निर्णय किया गया । पहले यह देखना है कि क्या यथाविधि निर्देश किया गया । अपीलार्थी ने जिस आवेदन द्वारा कलक्टर से निर्देश करने की प्रार्थना की उसके संबंध में प्रत्यर्थी की ओर से आपत्ति की गई कि यहां विवादित प्रश्न कभी निर्देशित नहीं किया गया । क्योंकि स्वयं अपीलार्थी ने उसके निर्देश

की कभी प्रार्थना नहीं की थी और धारा 18(2) के अनुसार दावे उस आधार पर निर्देशित न होने के कारण वह प्रश्न जिला न्यायाधीश के समक्ष था ही नहीं । किंतु यह दृष्टिकोण सही नहीं है । धारा 18 की उपधारा (1) में वे चार आधार दिए गए हैं जिन पर निर्देश की मांग की जा सकती है । उपधारा (2) में जब कहा गया है कि आवेदन में उन आधारों का कथन होगा जिन पर अधिनिर्णय पर आपत्ति की गई तो उससे तात्पर्य उन्हीं चार आधारों से है जिनका उल्लेख उपधारा (1) में है, उनके और विवरण से नहीं । अपीलार्थी के 11.10.1927 के निर्देश के अनुरोध में यह आधार स्पष्टतः उल्लिखित है : "कौन व्यक्ति कितने प्रतिकर का हकदार है ?" इसमें धारा 18(1) के दो आधार आ जाते हैं अर्थात् प्रतिकर की राशि और व्यक्ति जिसे वह देय है । अंत में तर्क यह किया गया कि अपीलार्थी को अदायगी के आदेश से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि जिला न्यायाधीश ने केवल उसी का हक माना ; ऐसा आदेश दोनों का हक मानकर भी दिया जा सकता था क्योंकि अपीलार्थी वहां की लंबरदार भी थी । यह सही नहीं है, क्योंकि लंबरदार पदेन अन्य हिस्सेदारों की ओर से प्रतिकर नहीं प्राप्त कर सकता और न उनको देय राशि के विषय में उन्मोचन दे सकता है । अतः हमारा निष्कर्ष है कि विद्वान् जिला न्यायाधीश ने स्वामित्व के प्रश्न का विनिश्चय किया और वह इस अपील के पक्षकारों पर आबद्धकर है तथा प्राङ न्याय के रूप में लागू होता है । (पैरा 10 और 14)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1930]	57 इंडियन अपील्स 100 = आ. इं. रि. 1930 प्रिवी कौंसिल 64 : **प्रमथ नाथ मलिक** बनाम **भारत सचिव** ;	11
[1922]	49 इंडियन अपील्स 129 = आ. इं. रि. 1922 प्रिवी कौंसिल 80 : **रामचंद्र राव** बनाम **रामचंद्र राव** ।	9

सिविल अपीली अधिकारिता : **1937 की अपील सं. 35.**

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री सर थामस स्ट्रांगमैन और ए. जी. पी. पुलन

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री सी. एस. रेवकासल और एस. हयाय

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर ने दिया ।

न्या. पोर्टर – यह विवाद दो भाइयों की विधवाओं के बीच है । प्रश्नगत संपत्ति जानकी कुंवर की थी । उसकी मृत्यु 1918 में हुई और उसके दो पुत्र सागर मल और कृपा राम उसके उत्तराधिकारी हुए । कृपा राम की मृत्यु 10.3.1924 को और सागर मल की मत्यु 18.3.1924 को हो गई । अपीलार्थी सागर मल की विधवा है, जब कि प्रत्यर्थी कृपा राम की विधवा है । यदि यह संपत्ति दोनों भाइयों के हाथों में संयुक्त कुटुंब की संपत्ति के रूप में थी तो उत्तरजीविता से वह सागर मल को मिलेगी और उसके पश्चात् उसकी विधवा (अपीलार्थी) को विरासत से जाएगी । किंतु यदि दोनों भाई उसके समान अभिधारी (tenantsin common) थे तो प्रत्येक की विधवा को उसका हिस्सा मिले । अतः विवाद इसी बात पर है कि यह संपत्ति संयुक्त कुटुंब की संपत्ति थी या पृथक् संपत्ति ।

2. प्रत्यर्थी की ओर से यह भी कहा गया कि पति की मृत्यु के बाद दोनों विधवाओं ने परस्पर सहमति से संपत्ति विभाजित कर ली थी, जब कि अपीलार्थी विभाजन से इंकार करती है और उसका कहना है कि यह संपत्ति बराबर संयुक्त कुटुंब की संपत्ति रही । राजस्व अभिलेखों में संपत्ति दोनों विधवाओं के नाम में दर्ज है । बुलंदशहर की विवादित संपत्ति पर अपीलार्थी का नाम लंबरदार के रूप में दर्ज है, जब कि दूसरी संपत्ति पर प्रत्यर्थी का नाम लंबरदार के रूप में दर्ज है । जो भी हो, पक्षकारों में अक्तूबर, 1925 तक विवाद उत्पन्न हो गया और मुकदमेबाजी होने लगी । यह विवाद प्रत्यर्थी और अपीलार्थी के सेवको तक बढ़ा और 5.2.1926 को अपीलार्थी के सेवकों की दोषसिद्धि में समाप्त हुआ ।

3. 18.12.1925 को कुछ संपत्ति भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 के अधीन अर्जन के लिए अधिसूचित हुई । उसमें उस संपदा का भाग भी था जिस पर अब विवाद है । यह विवाद वर्ष 1926 में चलता रहा और दूसरी ओर सितंबर, 1926 में अपीलार्थी ने प्रथम मुंसिफ के न्यायालय में कुछ विवादित संपत्ति के कुछ काश्तकारों के विरुद्ध लगान का वाद किया, जिसमें प्रत्यर्थी को भी पक्षकार बनाते हुए स्वयं पूर्ण लगान की हकदार होने का दावा किया । प्रश्नगत किराएदारी बुलंदशहर की भूमि की बाबत थी । इस बीच 19.2.1927 को कलक्टर को अपीलार्थी द्वारा याचिका की गई जिसमें प्रतिकर की राशि बढ़ाकर दी जाने की बात कही गई और प्रत्यर्थी का अपवर्जन किया गया । मुंसिफ ने वह वाद 26.1.1927 को यह निर्णय करते हुए खारित कर दिया कि दो में से कोई भी किसी राशि की हकदार

नहीं है । तब अपीलार्थी ने अधीनस्थ न्यायाधीश के यहां अपील की, जिन्होंने 31.5.1927 के अपने निर्णय द्वारा आधा-आधा लगान दोनों पक्षकारों को दिलाया । अपीलार्थी ने इसके विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की । वह 28.4.1929 को सुनकर उच्च न्यायालय ने निर्णय अपीलार्थी के पक्ष में दिया ।

4. अर्जन वाले मामले में प्रतिकर के अवधारण के लिए कार्यवाही हुई । उसमें अपीलार्थी ने पूरे प्रतिकर का दावा किया और प्रत्यर्थी ने आधे का । प्रत्यर्थी का कहना है कि क्लक्टर ने 6.4.1927 को अधिनिर्णय दिया किंतु अपीलार्थी उससे इनकार करती है । किसी भी दशा में इसमें संदेह नहीं है कि 29.9.1927 को कलक्टर ने यथाविधि अधिनिर्णय दिया । अधिनिर्णय इस बोर्ड के अभिलेख में नहीं है किंतु उसके बाद का 1.11.1927 का अधिनिर्णय है, जिसे प्रत्यर्थी शून्य बताती है । किंतु अपीलार्थी का कहना है कि वह सितंबर वाले अधिनिर्णय की कुछ विवरण सहित आवृत्ति मात्र है । इन दोनों अधिनिर्णयों द्वारा दोनों पक्षकारों को आधा-आधा प्रतिकर दिया गया ।

5. अधिनिर्णय की सूचना मिलने पर अपीलार्थी ने 11.10.1927 को कलक्टर को आवेदन दिया कि भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 18 के अधीन निर्देश करें । उसने इन प्रश्नों पर विचार चाहा : (क) जमींदारों को भूमि की बाबत देय प्रतिकर की सही राशि क्या है ? तथा (ख) कौन व्यक्ति कितने प्रतिकर का हकदार है ? 31.10.1927 को प्रत्यर्थी ने भी आपत्ति की जो दिलाए गए प्रतिकर की अपर्याप्तता तक सीमित थी । कुछ अन्य आपत्तियां भी दाखिल की गईं । 14.12.1927 को कलक्टर ने ये बुलंदशहर के न्यायाधीश को उक्त अधिनियम की धारा 19 के अधीन भेज दीं और वह सूचना भी भेजी जो उस धारा के अधीन अपेक्षित थी ।

6. जिला न्यायाधीश ने निर्देश में चार विवाद्यक बनाए जिनमें एक विवाद्यक यह था कि अपीलार्थी संपूर्ण प्रतिकर की हकदार है या प्रत्यर्थी भी आधे प्रतिकर की हकदार है । उनका निष्कर्ष था कि कलक्टर द्वारा दिलाया गया प्रतिकर पर्याप्त था । इस निर्णय के आधार पर जिला न्यायाधीश ने 31 मई, 1929 को दो डिक्रियां पारित कीं । प्रत्येक दावेदार के आवेदन पर थी और उसका शीर्षक था "अधिनियम सं. 1 सन् 1894 के अधीन प्रतिकर के अवधारण के लिए आवेदन" और आदेश था : "यह आदेश दिया जाता है कि मामला सं. 64 के अभिलेख में दिए गए निर्णय के अनुसार आवेदन खर्चे सहित खारिज किया जाता है ।" स्पष्ट निर्देश 31.5.1931 के निर्णय के

प्रति है । स्वयं उसके आधार पर कोई डिक्री नहीं तैयार की गई जिसमें पक्षकारों के विवाद का निर्णय समाहित होता । 12.8.1929 को विवादित भूमि की बाबत सारा प्रतिकर विद्वान् जिला न्यायाधीश के एक औपचारिक आदेश के अनुसार अपीलार्थी को दे दिया गया । स्पष्टतः यह उक्त अधिनियम की धारा 31(2) के अनुसार था ।

7. प्रत्यर्थी ने लगान के मामले में उच्च न्यायालय के निर्णय से असंतुष्ट होकर 20.3.1930 को एक वाद बुलंदशहर के अधीनस्थ न्यायाधीश के समक्ष किया कि वह आधी संपत्ति की हकदार है । अपीलार्थी ने उसका तथ्य के आधार पर विरोध करने के अतिरिक्त यह भी अभिवचन किया कि लगान के मामले में उच्च न्यायालय का निर्णय और प्रतिकर के मामले में जिला न्यायाधीश को मानते हुए अधीनस्थ न्यायाधीश का निर्णय प्राङ न्याय के रूप में लागू होते हैं और अब वादी वह प्रश्न नहीं उठा सकती प्राङ न्याय वाले तर्क ने 27.10.1930 का निर्णय अपीलार्थी के पक्ष में दिया । किंतु उच्च न्यायालय ने 16.1.1935 को वह निर्णय उलट कर निष्कर्ष निकाला कि प्राङ न्याय का सिद्धांत लागू नहीं होता और क्योंकि दोनों भाई संपत्ति सामाजिक अभिधारी के रूप में धारित करते थे अतः दोनों पक्षकार आधी-आधी संपत्ति के हकदार है । प्रस्तुत अपील इसी निर्णय के विरुद्ध है ।

8. इस अपील में दो प्रश्न उठते हैं एक प्राङ न्याय का और दूसरा कि संपत्ति दोनों भाई संयुक्त कुटंब की संपत्ति के रूप में धारण करते थे या समान अभिधारियों के रूप में । यदि प्राङ न्याय का सिद्धांत लागू होता है तो हमें दूसरे प्रश्न में जाने की आवश्यकता नहीं होगी । अतः हम उस प्रश्न को ही लेते हैं ।

9. यह दोनों पक्षों को मान्य है कि लगान वाले मामले का निर्णय प्राङ न्याय के रूप में लागू नहीं होगा । अतः प्रश्न प्रतिकर वाले मामले के निर्णय का बचता है । **रामचंद्र राव** बनाम **रामचंद्र राव**[1] वाले मामले में यह बोर्ड निर्णय कर चुका है कि यदि प्रतिकर प्राप्त करने के हक का प्रश्न न्यायालय को निर्देशित होकर उसके द्वारा निर्णीत हो तो वह बाद के वाद में प्राङ न्याय के रूप में लागू होगा । अब तो 1921 के संशोधन ने भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 26 में उपधारा (2) जोड़कर स्थिति और भी स्पष्ट कर दी है । इसके अनुसार न्यायाधीश द्वारा दिया गया अधिनिर्णय सिविल प्रक्रिया संहिता के अर्थों में "डिक्री" होगा और उसके आधारों का कथन "निर्णय" समझा जाएगा । इस प्रकार स्थिति स्पष्ट है कि जिला न्यायाधीश का

---

[1] 49 इंडियन अपील्स 129 = आ. इं. रि. 1922 प्रिवी कौंसिल 80.

निर्णय प्राङ्‍ न्याय के रूप में लागू हो सकता है । अतः यदि प्रश्न जिला न्यायाधीश को यथाविधि निर्देशित था और उन्होंने उसका निर्णय किया तो वह प्राङ्‍ न्याय के रूप में लागू होगा ।

10. प्राङ्‍ न्याय का सिद्धांत लागू करने के लिए देखना यह होगा कि क्या पूर्व मामला ऐसा था जिसमें इस प्रश्न पर निर्णय अनिवार्यतः और सारतः अपेक्षित था और सक्षम न्यायालय द्वारा उसका निर्णय किया गया । पहले यह देखना है कि क्या यथाविधि निर्देश किया गया । अपीलार्थी ने जिस आवेदन द्वारा कलक्टर से निर्देश करने की प्रार्थना की उसके संबंध में प्रत्यर्थी की ओर से आपत्ति की गई कि यहां विवादित प्रश्न कभी निर्देशित नहीं किया गया । क्योंकि स्वयं अपीलार्थी ने उसके निर्देश की कभी प्रार्थना नहीं की थी और धारा 18(2) के अनुसार दावे उस आधार पर निर्देशित न होने के कारण वह प्रश्न जिला न्यायाधीश के समक्ष था ही नहीं । किंतु यह दृष्टिकोण सही नहीं है । धारा 18 की उपधारा (1) में वे चार आधार दिए गए हैं जिन पर निर्देश की मांग की जा सकती है । उपधारा (2) में जब कहा गया है कि आवेदन में उन आधारों का कथन होगा जिन पर अधिनिर्णय पर आपत्ति की गई तो उससे तात्पर्य उन्हीं चार आधारों से है जिनका उल्लेख उपधारा (1) में है, उनके और विवरण से नहीं । अपीलार्थी के 11.10.1927 के निर्देश के अनुरोध में यह आधार स्पष्टतः उल्लिखित है : "कौन व्यक्ति कितने प्रतिकर का हकदार है ?" इसमें धारा 18(1) के दो आधार आ जाते हैं अर्थात् प्रतिकर की राशि और व्यक्ति जिसे वह देय है ।

11. प्रत्यर्थी का तर्क है कि यहां प्रश्न हक का था जो निर्देशित नहीं किया गया और उक्त आधार के लिए आवश्यक विवरण नहीं दिया गया । किंतु किसी और विवरण की आवश्यकता नहीं थी । केवल आधार बताना था, वह बता दिया गया । यही दृष्टिकोण इस बोर्ड ने **प्रमथ नाथ मलिक** बनाम **भारत सचिव**[1] में अपनाया है ।

12. दूसरा तर्क यह किया गया कि कलक्टर ने संपदा का प्रश्न कभी निर्देशित नहीं किया । किंतु अभिव्यक्त रूप से निर्देश की आवश्यकता भी नहीं थी । कलक्टर को जो भी करना चाहिए वह उक्त अधिनियम की धारा 19(2) में वर्णित है । उसके अनुसार अनुसूची लगानी थी और विवरण देना था । वह सब दे दिया गया और अलग से वर्णन की आवश्यकता नहीं थी ।

13. प्रत्यर्थी की ओर से अन्य तर्क है कि यदि निर्देश किया गया माना

---

[1] 57 इंडियन अपील्स 100 = आ. इं. रि. 1930 प्रिवी कौंसिल 64.

भी जाए तो जिला न्यायाधीश ने हक के प्रश्न का निर्णय ही नहीं किया । बहस यह की गई कि कलक्टर का 21.9.1927 का अधिनिर्णय उनके 1.11.1927 के अधिनिर्णय द्वारा अधिक्रांत कर दिया गया और क्योंकि किसी ने 1.11.1927 के अधिनिर्णय के विरुद्ध आपत्ति नहीं की अतः कोई वैध आपत्ति जिला न्यायाधीश के समक्ष विचारणीय ही नहीं थी और उन्हें निर्णय करने की कोई अधिकारिता नहीं थी । वस्तुतः पूरा अभिलेख न होने के कारण तथ्यों के विषय में कुछ अस्पष्टता है । किंतु यह स्पष्ट है कि जिला न्यायाधीश ने जो विवाद्यक बनाए उसमें एक स्पष्ट विवाद्यक था : "क्या आवेदिका संपूर्ण प्रतिकर की हकदार है अथवा श्रीमती राम कली भी आधे की हकदार है ?" इससे स्पष्ट है कि उन्होंने इस ओर ध्यान दिया । आगे बहस की गई कि वास्तविक अधिनिर्णय 6.4.1927 का था जिसके विरुद्ध किसी ने कोई आपत्ति नहीं की और बाद के दोनों अधिनिर्णय शून्य थे । किंतु प्रतीत यह होता है कि 6.4.1927 को कोई अधिनिर्णय न देकर कुछ प्रारंभिक लिखा-पढ़ी की गई थी । सितंबर में अधिनिर्णय दिया गया और उसमें निर्माणों की बाबत प्रतिकर स्पष्ट नहीं किया गया था । वह नवंबर वाले अधिनिर्णय में स्पष्ट कर दिया गया । अन्यथा नवंबर वाला अधिनिर्णय सितंबर वाले अधिनिर्णय की आवृत्ति ही था । यह स्पष्ट है कि जिला न्यायाधीश ने यह विनिश्चय किया कि प्रत्यर्थी को भूमि में तो कोई हक नहीं है और अधिनिर्णय दो नहीं हैं बल्कि 21 सितंबर वाला ही है और पहली नवंबर वाला अधिनिर्णय उसका स्पष्टीकरण मात्र है । यह तर्क मान्य नहीं है कि जिला न्यायाधीश ने निर्णय किया कि उनको अधिकारिता नहीं है । उन्होंने अधिकारिता मानकर सभी प्रश्नों का निर्णय किया है । यद्यपि यह बेहतर होता कि जिला न्यायाधीश का निर्णय पक्षकारों के हिस्से के संबंध में भी धारा 26(2) के अनुसार अधिनिर्णय के रूप में होता ; किंतु वह अनिवार्य नहीं था । जिला न्यायाधीश ने हक के प्रश्न में जाकर अपीलार्थी के पक्ष में निर्णय दिया ।

14. अंत में तर्क यह किया गया कि अपीलार्थी को अदायगी के आदेश से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि जिला न्यायाधीश ने केवल उसी का हक माना ; ऐसा आदेश दोनों का हक मानकर भी दिया जा सकता था क्योंकि अपीलार्थी वहां की लबंरदार भी थी । यह सही नहीं है, क्योंकि लबंरदार पदेन अन्य हिस्सेदारों की ओर से प्रतिकर नहीं प्राप्त कर सकता और न उनको देय राशि के विषय में उन्मोचन दे सकता है । अतः हमारा निष्कर्ष है कि विद्वान् जिला न्यायाधीश ने स्वामित्व के प्रश्न का विनिश्चय किया और वह इस अपील के पक्षकारों पर आबद्धकर है तथा प्राङ् न्याय के रूप में लागू होता है ।

हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील मंजूर की जाए उच्च न्यायालय की डिक्री अपास्त की जाए और अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री पुनः स्थापित की जाए । प्रत्यर्थी उच्च न्यायालय में और इस बोर्ड के समक्ष सुनवाई का खर्चा अदा करे ।

अपील मंजूर की गई ।

नित्यानन्द तथा अन्य .... अपीलार्थी

बनाम

लाला करम चंद .... प्रत्यर्थी

निर्णीत 14.3.1939

न्यायमूर्ति लार्ड रोमर, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर और न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1908 – धारा 14(1) – संयुक्त हिन्दू कुटुंब की संपत्ति के एक बंटवारा वाद में विवाद मध्यस्थ को भेजा गया – मध्यस्थ ने पक्षकारों की सहमति से विभाजन कराने का प्रयत्न किया – अधिकांश संपत्ति के विषय में सहमति हो गई किंतु कुछ के विषय में नहीं हुई – मध्यस्थ ने अपने अधिनिर्णय में एक सूची संलग्न करके उसका वर्णन किया जहां तक सहमति हो गई थी – इस विभाजन के अनुसार प्रत्येक पक्षकार को दी गई संपत्ति के बदले दूसरे पक्षकारों को उसमें उनके अंश का मूल्य दिया जाना था और इस प्रकार संपत्तियों के विभाजन के साथ-साथ दूसरे पक्षकारों को राशियां भी चुकाई जानी थीं – न्यायिक आयुक्त ने निर्णय किया कि संपत्ति के विभाजन का निर्णय इस वाद में नहीं किया जा सकता – अतः वादी ने एक बंगले की बात दूसरे हिस्सेदार द्वारा देय राशि के लिए अलग वाद किया – निर्णय किया गया कि इस वाद को धारा 14(1) लागू होगी क्योंकि पूर्व वाद में न्यायिक आयुक्त के निर्णय तक वादी उस राशि की वसूली में लिए सम्यक् तत्परता से और सद्भावपूर्वक कार्यवाही कर रहा था – अतः उसका वाद परिसीमावर्जित नहीं ।

इस अपील में विचारार्थ मुख्य विवाद्यक केवल ये हैं कि (1) क्या पक्षकारों का कुटुंब एक संयुक्त एवं अविभाजित हिन्दू कुटुंब है ? (2) क्या पक्षकारों का कुटुंब संपत्ति के विभाजन के मामले में हिन्दू विधि या रूढ़ि का अनुसरण करता है ? (3) पक्षकारों के उचित हिस्से क्या हैं और किस संपत्ति में ? अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – हम न्यायिक आयुक्तों से इस विषय में सहमत होने पर असमर्थ हैं कि परिसीमा अधिनियम प्रत्यर्थी को समर्थ करता है कि संयुक्त संपत्ति की इस मद की बाबत जो उसने मध्यस्थ द्वारा किए गए बंटवारे से प्राप्त की, अपीलार्थियों के हिस्से की अदायगी से बचे । हमारे लिए इस पर विचार करना अनावश्यक है कि प्रस्तुत जैसे वाद को अधिनियम का कौन-सा अनुच्छेद लागू होता है, क्योंकि हमारी राय में अधीनस्थ न्यायाधीश का यह निष्कर्ष सही था कि ऐसे वाद के लिए विहित परिसीमाकाल कुछ भी हो, वह 17.5.1933 के पहले प्रारंभ नहीं हुआ । हम अपने इस विचार के कारण पहले बता चुके हैं कि उस तारीख तक अपीलार्थी अपूर्ण बंटवारे को बंटवारे की कार्यवाही द्वारा प्रवर्तित कराने का प्रयत्न कर रहे थे । अतः वे ठीक उसी वाद हेतुक को अपना आधार बना रहे थे जिस पर कि वर्तमान वाद आधारित है । किंतु 17.5.1933 को न्यायिक आयुक्त ने यह निर्णय किया कि अपूर्ण बंटवारे का प्रभाव यह था कि जिन संपत्तियों के विषय में वह अधिनिर्णय था वे वाद की परिधि से निकल गईं । दूसरे शब्दों में कि उन्हें उस वाद में कोई अधिकारिता नहीं थी कि बंटवारे के अधीन किसी दावे पर विचार करें । यह कोई नहीं कह सकता कि पूर्ववर्ती कार्यवाही में बंटवारा कराने के प्रयत्न में अपीलार्थी सम्यक् तत्परता से या सद्भावपूर्ण कार्य नहीं कर रहे थे । तद्नुसार मामला परिसीमा अधिनियम, 1908 की धारा 14(1) की शब्दावली में आ जाता है । इन कारणों से हमारी राय है और हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील मंजूर की जानी चाहिए तथा न्यायिक आयुक्त की 17.3.1936 की डिक्री उसमें 74,573/- रुपए 6 आ. 6 पा. की राशि, उस पर 1.12.1929 से 11.5.1935 तक का साढ़े चार प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज जोड़कर संशोधित की जानी चाहिए । प्रत्यर्थी इस अपील का खर्चा अदा करे । (पैरा 13)

सिविल अपीली अधिकारिता	:	**1938 की अपील सं. 12.**
अपीलार्थियों की ओर से		सर्वश्री सर थामस स्ट्रांगमैन और जे. एम. पारिख
प्रत्यर्थी की ओर से		सर्वश्री डा. एम. दुबे और डब्ल्यू. वालच

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड रोमर ने दिया ।

न्या. रोमर – ये समेकित अपीलें पेशावर के जिला न्यायाधीश न्यायालय में एक बंटवारे की कार्यवाही से उत्पन्न हुईं । वह कार्यवाही बहुत

पहले 17.8.1926 को प्रारंभ हुई और अब भी समाप्त हुई प्रतीत नहीं होती। उस वाद के वादियों में वर्तमान अपीलार्थी सं. 6 व 7 लाल चंद और संतराम थे, जो लोरिन्दा मल के पूर्वमृत मुत्र के पुत्र थे। लोरिन्दा मल की मृत्यु 1901 में हुई। वाद के प्रतिवादियों में प्रत्यर्थी करमचंद और परमानंद, जिसकी तत्पश्चात् मृत्यु हो चुकी है, थे, जो लोरिन्दा मल के अन्य पुत्र। अपीलार्थी 1 से 5 तक परमानंद के हित का प्रतिनिधित्व करते हैं। वादियों लाल चंद और संतराम का अपने वादपत्र में कहना था कि लोरिन्दा मल और उसके पुत्रों और पौत्रों का एक हिन्दू संयुक्त कुटुंब था, जो मिताक्षरा विधि से शासित था। वे संयुक्त कुटुंब की सभी जंगम और स्थावर संपत्तियों का बंटवारा चाहते थे, जो वाद में वर्णित थीं। उसमें से अपने हक के आधार पर वे 1/3 हिस्से का कब्जा चाहते थे। परमानन्द उसी आधार पर दूसरे एक-तिहाई हिस्से का हकदार था। उसने वादी का समर्थन किया और स्वयं भी बंटवारा चाहा। किंतु करम चंद ने (जो 1/3 का हकदार था) वाद का विरोध (अन्य आधारों के साथ) इस आधार पर किया कि कुटुंब विभाजित था। 10.3.1927 को जिला न्यायाधीश ने आठ विवाद्यक बनाए जिनमें से केवल निम्नलिखित का उल्लेख आवश्यक है :–

(1) क्या पक्षकारों का कुटुंब एक संयुक्त एवं अविभाजित हिन्दू कुटुंब है ?

(4) क्या पक्षकारों का कुटुंब संपत्ति के विभाजन के मामले में हिन्दू विधि या रूढ़ि का अनुसरण करता है ?

(5) पक्षकारों के उचित हिस्से क्या हैं और किस संपत्ति में ?

2. अप्रैल, 1928 में सिविल प्रक्रिया संहिता की अनुसूची 2 के उपबंधों के अधीन एक आदेश करके कर्नल गार्सटिन को वाद में मध्यस्थ नियुक्त किया गया कि वे "पक्षकारों के बीच विवादित सभी मामलों" का निर्णय करें। यह प्रश्न हो सकता है कि क्या उक्त निर्देश का आशय यह था कि उन्हें वाद में विवादित प्रत्येक प्रश्न निर्देशित किया जाए जिनमें यह प्रश्न भी सम्मिलित था कि कुटुंब की संपत्ति विभाजित होने की दशा में पक्षकारों के बीच किस प्रकार विभाजित की जाए, अथवा उसका आशय उन्हें केवल वे प्रश्न निर्देशित करने का था जो जिला न्यायाधीश ने बनाए थे। किंतु इसमें संदेह नहीं है कि स्वयं मध्यस्थ ने अपनी स्थिति के विषय में इन दो दृष्टिकोणों में से संकीर्णतर दृष्टिकोण अपनाया क्योंकि अपने अधिनिर्णय में (जिसका उल्लेख यहां आगे करना होगा) उन्होंने यह कहा : "अप्रैल, 1928 में यह मुझे मध्यस्थ के रूप में निर्देशित किया गया कि

जिला न्यायाधीश पेशावर द्वारा 10.3.1927 को बनाए गए निम्नलिखित विवाद्यकों का विनिश्चय करूं ।" और फिर उन्होंने वे सब विवाद्यक लिखे जिनमें से कोई भी उस ढंग के विषयक में नहीं था जिससे कि संपत्ति का विभाजन किया जाना था । इन विवाद्यकों पर साक्ष्य मध्यस्थ ने सामान्य क्रम में लिया, किंतु कार्यवाही अपरिहार्य रूप से विलंबित हो गई । इस कार्यवाही में किसी न किसी कारण से विलंब होता गया और मुकदमेबाजी लंबी और खर्चीली होने की संभावना लगी । अतः मध्यस्थ ने एक प्रशंसनीय प्रयत्न पक्षकारों के बीच समझौता कराने का किया, ऐसा समझौता जिससे कि संपत्ति का उनके बीच विभाजन परस्पर सहमति से हो जाए । इस प्रयोजनार्थ उन्होंने पक्षकारों की सम्मति से अपने साथ दो अन्य महानुभाव शामिल किए : राय बहादुर दीनानाथ और कैप्टेन हिसामुद्दीन खां । इन तीनों महानुभावओं ने इस प्रकार कार्रवाई की : कुटुंब की प्रत्येक संपत्ति का मूल्यांकन करके उसे सहमति से नियत तारीख की स्थिति के अनुसार एक या दूसरे तिहाई हिस्से को अलग-अलग आबंटित किया जाना था । जिस हिस्से को आबंटन किया जाए उसके स्वामी के बारे में माना जाएगा जैसे कि वह अन्य दो तिहाई हिस्सों का उनके स्वामियों का सहमति वाली कीमत पर खरीदार हो । कुछ मामलों में संपूर्ण क्रय धन मांग पर देय माना गया, कुछ मामलों में वह किस्तों में देय माना गया, पर अनेक मामलों में क्रयधन पर क्रय की तथाकथित तारीख से ब्याज लगाना था । उदाहरणार्थ एक संपत्ति को लेना पर्याप्त होगा । यह वह संपत्ति है जो प्रस्तुत अपील का विषय है । वह पेशावर छावनी का एक बंगला है । वह करम चंद को आबंटित किया गया । माना यह गया कि उसने अन्य दो एक तिहाई हिस्सों में से प्रत्येक 1.12.1929 को 27,286/- रुपए 11 आ. 3 पा. में खरीदा । मध्यस्थ के 12.1.1931 के बयान में जिसका आगे उल्लेख किया जाएगा, ये दोनों राशियां 1.12.1929 से ब्याज सहित मांग पर देय बताई गई हैं ।

3. कुटुंब की संपत्ति के परस्पर सहमति से विभाजन का यह प्रयत्न दुर्भाग्यवश असफल हो गया । संपत्ति का लगभग 7/8 भाग ऊपर वर्णित ढंग से किसी न किसी एक-तिहाई हिस्से को आबंटित कर दिया गया, किंतु शेष के आबंटन के विषय में कोई सहमति नहीं हुई । इन परिस्थितियों में मध्यस्थ ने 20.12.1930 को अपना अधिनिर्णय दे दिया । विवाद्यक सं. 1 पर उनका निष्कर्ष था कि पक्षकारों का कुटुंब एक संयुक्त एवं अविभाजित हिन्दू कुटुंब है । इस विवाद्यक के इस प्रकार विनिश्चय के बाद प्रत्येक द्वारा स्वीकार किया गया कि संपत्ति तीन बराबर हिस्सों में बांटी जानी है, जिसमें से करम चंद एक हिस्से के, परमानंद दूसरे हिस्से के तथा

लाल चंद और संतराम शेष हिस्से के हकदार थे । मध्यस्थ ने विवाद्यक सं. 4 और 5 का निर्णय तद्नुसार कर दिया । उन्होंने यह भी निष्कर्ष निकाला कि वादपत्र में वर्णित सभी जंगम और स्थावर संपत्तियां (कुछ अपवादों को छोड़कर जो अब महत्वहीन हैं) संयुक्त हैं । उन्होंने कुछ विस्तार के साथ वे प्रयत्न बताए जो उन्होंने पक्षकारों के बीच समझौता कराने के लिए किए थे । उन्होंने बताया कि उन्होंने पक्षकारों को स्पष्ट कर दिया था कि संयुक्त संपत्ति का जो विभाजन उन्होंने किया वह वाद के इस मुख्य प्रश्न पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना है कि कुटुंब की स्थिति संयुक्त हिन्दू कुटुंब की है या नहीं । उन्होंने आगे कहा :–

> "मेरे द्वारा अपनाए गए मार्ग से मुझे आशा था कि समझौता हो जाएगा और न्यायालय में आगे मुकदमेबाजी समाप्त हो जाएगी । यदि मैं असफल हुआ तो मेरे द्वारा किया गया कार्य इस प्रश्न पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगा कि कुटुंब संयुक्त है या नहीं । .... मैं बड़े खेद के साथ स्वीकार करता हूं कि अंत में मैं समझौता कराने में सफल नहीं हुआ । जैसा कि एक पक्षकार ने मुझसे कहा, मैं यह दावा कर सकता हूं कि रुपए में चौदह आने का फैसला हो गया है । मैं कह दूं कि शेष दो आना वह शिला साबित हुआ जिस पर हम टकरा गए ।"

4. अपने अधिनिर्णय के अंत में उन्होंने समझौते के प्रयत्न का फिर उल्लेख इन शब्दों में किया :–

> "समाप्त करने के पूर्व मैं दोबारा बड़ा खेद और निराशा व्यक्त करता हूं कि पक्षकारों के बीच समझौता नहीं करा सका जिससे कि यह दीर्घकालीन विवाद सदैव के लिए तय हो जाता । मैं केवल आशा कर सकता हूं कि जो बहुत-सा समय मैंने और मेरे साथ के दो महानुभावों ने इस कार्यवाही में लगाया वह पूर्णतः व्यर्थ नहीं गया होगा ।"

5. तत्पश्चात् उन दो महानुभावों के प्रति अपना आभार प्रकट करने के बाद उन्होंने अपने अधिनिर्णय की समाप्ति यह कहकर की कि वह अलग से विवरण भेज रहे हैं कि संयुक्त संपत्ति का क्या विभाजन वे कर सके । उस विवरण पर तारीख 12.1.1931 है । उसका शीर्षक है "मध्यस्थ की रिपोर्ट संयुक्त संपत्ति के विभाजन के संबंध में" और यह सात अलग-अलग भागों में विभाजित है । इनमें से पहले छह में से प्रत्येक में वे राशियां

दिखाई गई हैं जो पहले एक-तिहाई के स्वामी या स्वामियों द्वारा दूसरे एक-तिहाई के स्वामी या स्वामियों को प्रथमोक्त को ऊपर वर्जित ढंग से आबंटित संपत्ति की बाबत देय हैं । सातवें भाग का शीर्षक है "इन संपत्तियों का निर्णय होना शेष है" और इसमें कुटुंब की वे सब संपत्तियां दी गई हैं जो पहले छह भागों में से किसी में नहीं आई हैं । पूर्वगामी छह भागों में से केवल दो वर्तमान प्रयोजनार्थ महत्वपूर्ण है । उनकी क्रम सं. क्रमशः 3 और 5 है । इनमें से प्रथम का शीर्षक है : "राम बहादुर करम चंद द्वारा लाला परमानंद को देय राशियां" । दूसरे का शीर्षक है "राम बहादुर करम चंद द्वारा लाला लाल चंद और लाला संतराम को देय राशियां" । इनमें से प्रत्येक में (अन्य के साथ-साथ) पहले स्तंभ में यह मद है : "पेशावर छावनी के बंगले की क्रय कीमत मध्य 1,11,860/- रुपए 1 आ. 9 पा. (जो निम्नलिखित प्रकार से आती है) का एक-तिहाई ।" उसके सामने दूसरे स्तंभ में विवरण है जिसमें बताया गया है कि बंगले की कीमत 1,11,860/- रुपए 1 आ. 9 पा. किस प्रकार निकाली गई । तत्पश्चात् यह कहा गया है कि 37,286/- रुपए 11 आ. 3 पा. की राशि 1,12,1929/- रुपए से 4-1/2 प्रतिशत प्रतिवर्ष ब्याज सहित मांग पर देय है । जैसा कि पहले बताया गया, इस अधिनिर्णय और कथन का अर्थ और प्रभाव किसी संदेह का विषय नहीं हो सकते । अधिनिर्णय उन विवाद्यकों पर है जो जिला न्यायाधीश ने बनाए थे और जिनके विषय में मध्यस्थ ने सही या गलत तौर पर विचार किया कि यही विषय उन्हें निर्देशित किए गए, कोई अन्य विषय नहीं । दूसरी ओर विवरण केवल इस बात का अभिलेख प्रतीत होगा कि पूरे वाद में संपूर्ण समझौते के लिए प्रयत्न कहां तक अग्रसर हुए । ये प्रयत्न दुर्भाग्यवश असफल हो गए । कुटुंब की संपत्ति का कोई हिस्सेदार विवरण में दिए गए असम्पूर्ण बंटवारे से न आबद्ध था और न किसी प्रकार प्रतिकूलतः प्रभावित था । यदि और जब न्यायालय कुटुंब की संपत्ति के बंटवारे की डिक्री पारित करे तो यह हो सकता है कि अपूर्ण बंटवारे का संपूर्णतः या भागतः उपयोग किया जाए, जिसकी कि मध्यस्थ आशा करते थे । किंतु यह समझना कठिन है कि कोई पक्षकार उससे किस प्रकार आबद्ध होगा जो ऐसे समझौते की बातचीत के दौरान हुआ और जो समझौता कभी पूरा नहीं हुआ । किंतु परमानंद अथवा लाल चंद और संतराम ने उसे इस दृष्टि से नहीं देखा । विवरण सं. 3 और 5 में अन्य बातों के साथ-साथ करम चंद द्वारा उन्हें देय 16,790/- रुपए 5 आ. 9 पा. की राशि दिखाई गई थी और 10,12,1930/- रुपए को उन्होंने करम चंद को एक पत्र भेजकर इस राशि की मांग की और उसमें कहा :–

"इसके अतिरिक्त हम आपका ध्यान अन्य संपत्तियों की बाबत देय राशि की ओर भी आकर्षित करते हैं और हम आशा करते हैं कि आप नियत तारीखों पर अवश्य राशियां भेज देंगे तथा अनुस्मारक की आवश्यकता नहीं होगी ।"

6. वस्तुतः वे इस बात पर आग्रह कर रहे थे कि करम चंद समझौतों की बातचीत के दौरान किए गए उन अनंतिम करारों को क्रियान्वित करें जो मध्यस्थ ने अपने 12.1.1930 के विवरण में लिखे हैं । किंतु करम चंद का इस विषय में दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न था । अधिनिर्णय पर जो आपत्तियां उन्होंने 20.1.1931 को दाखिल कीं उनमें उन्होंने कहा कि अधिनिर्णय पूर्ण न होने के कारण शून्य है । जब इस आपत्ति को उनके विद्वान् अधिवक्ता ने ज्येष्ठ अधीनस्थ न्यायाधीश के समक्ष और विशद किया तो उसका अर्थ यह पाया गया कि मध्यस्थ का कर्तव्य था कि कुटुंब की संपूर्ण संपत्ति का विभाजन कर देते और क्योंकि उन्होंने ऐसा नहीं किया अतः अधिनिर्णय अपूर्ण था और वह अपास्त किया जाना चाहिए । साथ ही उन्होंने यह भी आपत्ति की, और वह दृश्यतः अनुकल्पी रूप में, कि बंटवारे की कार्यवाही अधिनिर्णय का भाग नहीं है और वह कार्यवाही "प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना और औपचारिक कार्यवाही के बाहर की गई थी और शून्य है" । विवाद्यक सं. 1 पर मध्यस्थ के अधिनिर्णय पर उन्होंने आपत्ति की कि मध्यस्थ ने उन्हें तथा अन्य पक्षकारों को बहस करने या उस बाबत अभ्यावेदन करने का अवसर नहीं दिया । यह अंतिम आपत्ति पेशावर के ज्येष्ठ अधीनस्थ न्यायाधीश ने उसके समक्ष मामला सुनवाई के लिए 19.2.1932 को आने पर संक्षिप्ततः अमान्य कर दी । प्रथमोक्त दो आपत्तियों में से पहली के विषय में उन्होंने निर्णय किया कि संपत्ति का वास्तविक विभाजन मध्यस्थ को निर्देशित विषयों में नहीं था । उन्होंने कहा कि संपत्ति के विभाजन के प्रश्न पर कोई विवाद्यक नहीं था और उसका उन्होंने अपने अधिनिर्णय में निर्णय भी नहीं किया । तद्नुसार उन्होंने आपत्तियां अमान्य कर दीं । किंतु उन्होंने पहली आपत्तियों में से बाद की अनुकल्पी आपत्ति की चर्चा नहीं की । उसके निर्णय से यह स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने 12.1.1931 के विवरण में लिखे गए विभाजन को पक्षकारों पर आबद्धकर माना या नहीं । तैयार की गई औपचारिक डिक्री भी इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डालती । उसका तात्विक भाग इस प्रकार है :–

"यह आदेश दिया जाता है कि संपत्ति के विभाजन और हिसाब के लिए प्रारंभिक डिक्री अधिनिर्णय के निबंधनों के अनुसार पारित की

जाए और की जाती है ।"

7. यहां उल्लिखित संपत्ति से तात्पर्य संपूर्ण संपत्ति से है । किंतु विद्वान् न्यायाधीश का यह आशय हो सकता था कि जहां तक उस संपत्ति का संबंध है जो मध्यस्थ द्वारा किए गए बंटवारे में शामिल है बंटवारा उनके द्वारा किए गए बंटवारे के अनुसार हो । करम चंद ने इस निर्णय के विरुद्ध अपील की । अपने अपील के आधारों में उन्होंने विभाजन के विषय में अपना पक्ष पुनः अनुकल्पी तौर पर रखा । उन्होंने कहा : (क) अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह निर्णय करने में गलती की मध्यस्थ से यह अपेक्षा नहीं थी कि संपूर्ण संपत्ति का विभाजन करें ; (ख) संपत्ति का किया गया विभाजन मामले में अधिनिर्णय का भाग नहीं था बल्कि एक अलग कार्यवाही था । इस अवसर पर उनका यह तर्क नहीं प्रतीत होता है कि विभाजन शून्य था । किंतु उनका तर्क ; (ग) यह संकेत करता प्रतीत होता है कि उन्होंने अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा दी गई बंटवारे की डिक्री का अर्थ उपर्युक्त ढंग से लगाया । उन्होंने अपना यह तर्क भी दोहराया कि उन्हें मध्यस्थ को निर्देशित प्रथम विवाद्यक पर बहस नहीं करने दी गई, अर्थात् यह विवाद्यक कि क्या कुटुंब संयुक्त हिन्दू कुटुंब है ।

8. 17.5.1933 को न्यायिक आयुक्तों ने अपील में अपना निर्णय सुनाया । उन्होंने निर्णय किया कि विवाद्यक सं. 1 पर करम चंद की आपत्ति पर निचले न्यायालय से पर्याप्त विचार नहीं किया तद्नुसार उन्होंने अधिनिर्णय की पुष्टि का आदेश अपास्त करके निचले न्यायालय को निदेश दिया कि मामले पर पुनः विचार करें । किंतु वे निचले न्यायालय से सहमत थे कि उन आठ विवाद्यकों के अलावा मध्यस्थ को कुछ निर्देशित नहीं किया गया था और उनका संबंध संपत्ति के वास्तविक विभाजन से नहीं था । तद्नुसार उन्होंने करम चंद की आपत्ति (क) अमान्य कर दी । उनकी आपत्ति (ख) के विषय में उन्होंने यह कहा :–

> "आपत्ति सं. 17 यह है कि कर्नल गार्सटिन के और उन महानुभावों के जिनसे उन्होंने अपनी सहायता के लिए कहा था, हस्तक्षेप से पक्षकारों की सहमति से जो बंटवारा किया गया वह अधिनिर्णय का भाग नहीं माना जा सकता । किंतु यह आपत्ति इस आपत्ति से पूर्णतः असंगत है कि अधिनिर्णय अपूर्ण है । किंतु प्रथमोक्त आपत्ति पर हम अपना विनिश्चय निचले न्यायालय से सहमत होते हुए दे चुके हैं कि संपत्ति का वास्तविक विभाजन मध्यस्थ को निर्देशित विषय नहीं था । निष्कर्ष यह निकलता है कि संपत्ति के वास्तविक विभाजन जिसमें पक्षकारों ने सहमति दी और जो कर्नल गार्सटिन तथा

अन्य मध्यकों (mediators) की सहायता से किया गया माध्यस्थम् कार्यवाही का भाग नहीं था । अतः वह इस वाद में किसी निर्णय या डिक्री के अंतर्गत नहीं आ सकता । संपत्ति का वह अपूर्ण विभाजन निश्चय ही पक्षकारों की सहमति से किया गया है और उससे वाद में विवाद की विषयवस्तु बहुत घट गई है, किंतु यद्यपि अन्यथा वह वादकारियों के हित के लिए बहुत लाभप्रद है, उसका हमारे समक्ष के विवाद पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता ।"

9. यहां रुकने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्तमान अपीलार्थियों ने अपूर्ण बंटवारे को बराबर सभी पक्षकारों पर आबद्धकर माना और वे इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे कि उस बंटवारे की शर्ते बंटवारा कार्यवाही में अधीनस्थ न्यायाधीश की डिक्री द्वारा प्रवर्तित हों । अन्यथा यह समझ पाना कठिन है कि उस कार्यवाही में करम चंद यह विनिश्चय प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों कर रहे थे कि मध्यस्थ बंटवारा पूरा करने के अपने कर्तव्य में असफल रहे और अनुकल्पी रूप से कि अपूर्ण बंटवारा अधिनिर्णय का भाग नहीं था ।

10. अब न्यायिक आयुक्तों के इस विनिश्चय के संबंध में जिसमें कोई अपील नहीं की गई है, यह माना जाना चाहिए कि उसने अंतिम रूप से यह निर्णय कर दिया कि मध्यस्थ द्वारा किया गया अपूर्ण बंटवारा पक्षकारों पर आबद्धकर है । अन्यथा वे यह निर्णय नहीं कर सकते थे कि उसमें सम्मिलित संपत्तियां अब वाद की विषयवस्तु नहीं रह गई हैं । साथ ही उन्होंने यह भी निर्णय किया कि वह उस कार्यवाही में प्रवर्तित नहीं हो सकता । अतः यदि उसका प्रवर्तन करना है तो एक अलग वाद करना होगा । तद्नुसार 15.7.1933 को वर्तमान अपीलार्थियों ने उस वाद का अपना वादपत्र दाखिल किया जो अब हमारे समक्ष है । उस वाद के द्वारा वे प्रत्यर्थी करम चंद से वे राशियां वसूल करना चाहते थे जो कि मध्यस्थ के 12.1.1930 के विवरण में करम चंद द्वारा उन्हें देय दिखाई गई थी, जिनमें की पेशावर छावनी के बंगले के उनके हिस्सों की कीमत के 74,573/- रुपए 6 आ. 6 पा. भी शामिल हैं । वाद में दावाकृत अब यही एक मद है जिससे कि हमारा संबंध है । किंतु यह स्मरणीय है कि विवरण के अनुसार यह राशि 1.12.1929 से 4-1/2 प्रतिशत प्रतिवर्ष ब्याज सहित मांग पर देय थी । अतः करम चंद का अभिवचन था कि इस राशि का दावा परिसीमा अधिनियम, 1908 द्वारा वर्जित है । उन्होंने अपीलार्थी द्वारा वाद में दावाकृत अन्य मदों में से सब पर नहीं तो अधिकांश पर भी विवाद किया और उन्होंने एक प्रतिदावा उन राशियों की बाबत दिया जिनके बारे में उनका कहना था

कि बंटवारे के अधीन उन्हें देय हैं ।

11. 11.5.1935 को अधीनस्थ न्यायाधीश के वाद और प्रतिदावा (जो न्यायालय ने आदेश से समेकित हो गया था) में निर्णय सुनाया । उनका निष्कर्ष था कि समायोजन करने पर प्रत्यर्थी द्वारा अपीलार्थियों को 4,74,227/- रुपए 13 आ. 11 पा. की राशि देय है । इस राशि में बंगले की बाबत उपर्युक्त 74,573/- रुपए 6 आ. 6 पा. की राशि तथा उस पर 1.12.1929 से 5.7.1930 तक के ब्याज के 2,004/- रुपए शामिल थे और यह राशि सब मिलकर 76,77/- रुपए 6 आ. 6 पा. होती थी । अधीनस्थ न्यायाधीश ने अपना निर्णय परिसीमा अधिनियम की धारा 14(1) पर आधारित करते हुए निष्कर्ष निकाला कि अपीलार्थियों का इस मद की बाबत दावा परिसीमावर्जित नहीं है क्योंकि अधिनियम के अधीन परिसीमा-काल 17.5.1933 के पूर्व प्रारंभ नहीं हुआ । यह वह तारीख थी जब न्यायिक आयुक्तों ने बंटवारे के वाद में अपना निर्णय सुनाया । प्रश्नगत उपधारा इस प्रकार है :–

> "14(1) किसी वाद के लिए विहित परिसीमा काल की संगणना में उतना समय जितने समय के दौरान वादी, चाहे प्रथम बार के चाहे अपील या पुनरीक्षण न्यायालय में, प्रतिवादी के विरुद्ध अन्य सिविल कार्यवाही सम्यक् तत्परता से अभियोजित करता रहा है, अपवर्जित कर दिया जाएगा जहां कि वह कार्यवाही उसी वाद हेतुक पर आधारित हो और सद्भावपूर्वक किसी ऐसे न्यायालय में अभियोजित की गई हो जो अधिकारिता की त्रुटि या वैसी ही प्रकृति के अन्य हेतुक से उसे ग्रहण करने में असमर्थ हो ।"

12. अधीनस्थ न्यायाधीश के इस निर्णय से दोनों पक्षकारों ने अनेक प्रश्नों पर न्यायिक आयुक्त न्यायालय में अपीलें कीं और दोनों पक्ष अंशतः सफल हुए प्रतीत होते हैं । विशिष्टतः प्रत्यर्थी बंगले के दावे की बाबत अपनी परिसीमा अधिनियम वाली प्रतिरक्षा में सफल हुआ । न्यायिक आयुक्त ने कहा कि जिस वाद हेतुक पर वाद आधारित है उसका उस वाद हेतुक से कोई संबंध नहीं था जो कि उस पूर्व वाद का जिसमें अधिनिर्णय दिया गया, आधार था । इन अपीलों का परिणाम यह हुआ कि 27.3.1936 को अपीलार्थियों को 5,77,861/- रुपए 3 आ. 2 पा. की डिक्री दी गई, जिसमें से प्रत्यर्थी के पक्ष में अपील में डिक्रीत 1,12,953/- रुपए 12 आ. 3 पा. की राशि काटी जानी थी और इस प्रकार शुद्ध अतिशेष 4,64,907/- रुपए 6 आ. 11 पा. था, जो कि 11.5.1935 को (विचारण न्यायाधीश की डिक्री

की तारीख) से अपीलार्थियों को देय था । क्योंकि दोनों पक्षकार अंशतः सफल हुए अतः प्रत्येक को आदेश दिया गया कि अपीलों का अपना-अपना खर्चा वहन करें । न्यायिक आयुक्तों के इस निर्णय से, जहां तक कि उसका संबंध बंगले की बाबत अपीलार्थियों के दावे से है, अब सपरिषद् हिज मैजेस्टी को अपील की गई ।

13. हम न्यायिक आयुक्तों से इस विषय में सहमत होने पर असमर्थ हैं कि परिसीमा अधिनियम प्रत्यर्थी को समर्थ करता है कि संयुक्त संपत्ति की इस मद की बाबत जो उसने मध्यस्थ द्वारा किए गए बंटवारे से प्राप्त की, अपीलार्थियों के हिस्से की अदायगी से बचे । हमारे लिए इस पर विचार करना अनावश्यक है कि प्रस्तुत जैसे वाद को अधिनियम का कौन-सा अनुच्छेद लागू होता है, क्योंकि हमारी राय में अधीनस्थ न्यायाधीश का यह निष्कर्ष सही था कि ऐसे वाद के लिए विहित परिसीमा काल कुछ भी हो, वह 17.5.1933 के पहले प्रारंभ नहीं हुआ । हम अपने इस विचार के कारण पहले बता चुके हैं कि उस तारीख तक अपीलार्थी अपूर्ण बंटवारे को बंटवारे की कार्यवाही द्वारा प्रवर्तित कराने का प्रयत्न कर रहे थे । अतः वे ठीक उसी वाद हेतुक को अपना आधार बना रहे थे जिस पर कि वर्तमान वाद आधारित है । किंतु 17.5.1933 को न्यायिक आयुक्त ने यह निर्णय किया कि अपूर्ण बंटवारे का प्रभाव यह था कि जिन संपत्तियों के विषय में वह अधिनिर्णय था वे वाद की परिधि से निकल गई । दूसरे शब्दों में कि उन्हें उस वाद में कोई अधिकारिता नहीं थी कि बंटवारे के अधीन किसी दावे पर विचार करें । यह कोई नहीं कह सकता कि पूर्ववर्ती कार्यवाही में बंटवारा कराने के प्रयत्न में अपीलार्थी सम्यक् तत्परता से या सद्भावपूर्ण कार्य नहीं कर रहे थे । तद्नुसार मामला परिसीमा अधिनियम, 1908 की धारा 14(1) की शब्दावली में आ जाता है ।

इन कारणों से हमारी राय है और हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील मंजूर की जानी चाहिए तथा न्यायिक आयुक्त की 17.3.1936 की डिक्री उसमें 74,573/- रुपए 6 आ. 6 पा. की राशि, उस पर 1.12.1929 से 11.5.1935 तक का साढ़े चार प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज जोड़कर संशोधित की जानी चाहिए । प्रत्यर्थी इस अपील का खर्चा अदा करे ।

अपील मंजूर की गई ।

कार्यालय आदेश तारीख 13 फरवरी, 2017 के अनुसार विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों पर छूट देने की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम व प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पुस्तक की मुद्रित कीमत (रुपयों में)	7 वर्ष से पुराने संस्करण पर 35% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	8 से 15 वर्ष पुराने संस्करण पर 50% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	15 वर्ष से अधिक पुराने संस्करण पर 75% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)
1.	भारत का विधिक इतिहास - श्री सुरेन्द्र मधुकर - 1989	30	—	—	8
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि - डा. एन. वी. परांजपे - 1990	40	—	—	10
3.	वाणिज्य विधि - डा. आर. एल. भट्ट - 1993	108	—	—	27
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धांत - श्री शर्मन लाल अग्रवाल - 1993	40	—	—	10
5.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय - डा. एस. सी. खरे - 1996	115	—	—	29
6.	श्रम विधि - श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा - 1996	452	—	—	113
7.	संविदा विधि - डा. रामगोपाल चतुर्वेदी - 1998	275	—	—	69
8.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान - डा. सी. के. पारिख - 1999	293	—	—	74
9.	आधुनिक पारिवारिक विधि - श्री राम शरण माथुर - 2000	429	—	—	108
10.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) - विधि साहित्य प्रकाशन - 2000	225	—	—	57
11.	हिन्दू विधि - डा. रवीन्द्र नाथ - 2001	425	—	—	106
12.	भारतीय भागीदारी अधिनियम - श्री माधव प्रसाद वशिष्ठ - 2001	165	—	—	41
13.	प्रशासनिक विधि - डा. कैलाश चन्द्र जोशी - 2001	200	—	—	50
14.	भारतीय दंड संहिता - डा. रवीन्द्र नाथ - 2002	741	—	—	185
15.	विधिक उपचार - डा. एस. के. कपूर - 2002	311	—	—	78
16.	विधि शास्त्र - डा. शिवदत्त शर्मा - 2005	580	—	290	—
17.	मानव अधिकार - डा. शिवदत्त शर्मा - 2006	120	—	60	—

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

Cover iv

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ पाठकों की सुविधा के लिए श्रृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका को उपादेय और ज्ञानवर्द्धक बनाने के लिए प्रिवी कौंसिल के निर्णयों को भी समाविष्ट किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 195/- उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें ।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105